श्रीहरिः

अध्यात्मभागवत-संग्रह

भाषानुवाद सहित

संग्रहकर्ता तथा अनुवादक

पं० नित्यानन्द पाण्डेय, B. A. LL. B.

भागवतस्तुति-संग्रहके संग्रहीता

अध्यात्मभागवत-संग्रह

विषय-सूची

चौथा अध्याय

विस्तारसे आत्मविद्याका निरूपण

पाचवाँ अध्याय

श्रीकृष्ण-उद्धव-संवाद—ज्ञान-विज्ञानका सार

विषय.	पृष्ठ.

छठा अध्याय

कल्याणके साधन

सातवाँ अध्याय

मनका संयम

अध्यात्मभागवत-संग्रह

विषय-सूची

******

अकारादि क्रमसे

विषय.	पृष्ठ.

शुद्धि-पत्र

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
२४	१८	आत्माका	आत्माको
९०	२४	ये देश	ये दस
१२७	१ और ३	क्रिया और योगका	और क्रियायोगका
१३५	११	नेरी	मेरी
१३९	२१	वह	यह
१७१	२०	वंश	वश
१८७	१३	परमात्मासे	परमात्मामें
२३८	१४	अहङ्कारको	अहङ्कारको)
२३८	१५	करते हैं)	करते हैं
२८१	४	भदको	भेदका
२९५	१५	दुरभिनान	दुरभिमान
३०३	११	गन्भर्व	गन्धर्व
३३५	३	भमवान्	भगवान्

भूमिका

****

भागवत-स्तुति-संग्रह' के उपोद्धातमें हमने लिखा था कि यदि भगवान्‌की कृपा हुई तो श्रीमद्भागवतमें यत्र-तत्र कथाओं और स्तुतियोंके रूपमें प्रचुर-मात्रामें बिखरे हुए वेदान्तविचारोंका भी सङ्कलन किया जायगा। कुछ कालतक हम यही विचार करते रहे कि यह कार्य किस प्रकार प्रारम्भ किया जाय। पूज्यपाद श्रीमधुसूदन सरस्वतीजीकी भगवद्गीताव्याख्याको पढ़ते समय हमारा ध्यान इन शब्दोंपर गया—'भगवदर्जुनसंवादरूपा चाऽऽख्यायिका विद्यास्तुत्यर्था जनक-याज्ञवल्क्यसंवादादिवदुपनिषत्सु'' (आनन्दाश्रमग्रन्थावली पृष्ठ ४) भगवान् शङ्कराचार्यने भी अपने भाष्यमें लिखा है—'आख्यायिका विद्यास्तुत्यर्था' (कठ० १–१ भाष्य) तब यह समझमें आया कि श्रीमद्भागवतमें स्थित वेदान्ततत्त्वोंका आख्यायिकाके रूपमें सङ्कलन करना उपयुक्त होगा।

यों तो वेदान्तके कतिपय विषय 'भागवत-स्तुति-संग्रह' में आ गये हैं जैसे ब्रह्मा-स्तुति, वेद-स्तुति आदि। किन्तु श्रीमुखसे या अन्य ऋषि और महात्माओंके मुखसे निरूपित तत्त्वोंका संग्रह उसमें नहीं हुआ है, इसीलिये प्रस्तुत ग्रन्थका सम्पादन आवश्यक प्रतीत हुआ।

इन अध्यात्मविषयोंका अध्ययन करनेपर यह ज्ञात होता है कि यद्यपि श्रीमद्भागवतमें सब साधनोंका श्रद्धापूर्वक प्रतिपादन है तथापि उसमें भक्तिको उच्च स्थान दिया गया है।

यद्यपि यह निर्विवाद है कि ज्ञानकाण्डमें भी भक्तिका बड़ा महत्त्व

है तथापि गीताके* समान भागवत भी ज्ञानको दुःसाध्य समझता है। इसका यहाँपर एक उदाहरण दे देना अनुपयुक्त न होगा। भागवतके ६।१।७ इत्यादि श्लोकोंमें शुकदेवजी राजा परीक्षित्से कहते हैं— "हे राजन्! मन, वचन और शरीरसे किये गये पापोंका यदि मनु आदि द्वारा कथित धर्मशास्त्रोंके अनुसार इसी जन्ममें प्रायश्चित्त न कर डाले तो वह पापी मरकर नरकोंमें नाना प्रकारकी भयङ्कर यातनाएँ भोगता है, जिन्हें मैं पीछे आपसे कह आया हूँ। इसलिये जैसे चिकित्सक दोषकी गुरुता या लघुताको देखकर झटपट चिकित्सा आरम्भ कर देता है वैसे ही दोषकी गुरुता या लघुताके अनुसार शरीरके अशक्त होनेसे पहले इसी जन्ममें शीघ्र ही पापोंका प्रायश्चित्त कर डालना चाहिये। विलम्ब करनेसे द्विगुण प्रायश्चित्त करना पड़ता है। फिर भी यह निश्चय नहीं है कि प्रायश्चित्त करनेके बाद उस मनुष्यसे फिर पाप नहीं बनेंगे और यह भी निश्चय नहीं है कि कृच्छ्र आदि प्रायश्चित्तों द्वारा पाप समूल नष्ट हो ही जाते हैं, क्योंकि प्रायश्चित्तका अधिकारी अज्ञानी पुरुष है। इस कारण जबतक अज्ञानका नाश नहीं होगा तबतक पापके संस्कार बने रहेंगे और उनसे दूसरे पापोंकी उत्पत्ति हो जायगी।

ज्ञान प्राप्त होना ही पापका मुख्य प्रायश्चित्त है। जैसे पथ्य-सेवन करनेवाले पुरुषको रोग पीड़ित नहीं करते किन्तु धीरे-धीरे छूट जाते हैं वैसे ही नियमसे व्यवहार (तप आदि) करनेवाला पुरुष काम आदि दोषोंकी निवृत्ति द्वारा धीरे-धीरे तत्त्वज्ञानको प्राप्त करता है। तप, ब्रह्मचर्य, शम, दम, त्याग, सत्य, शौच, अहिंसा और नियम ही तत्त्वज्ञानकी प्राप्तिके उपाय हैं। किन्तु ये नियम एकसे एक बढ़कर कठिन हैं, अतः कोई पुरुष पाप दूर करनेका सरल और

* अव्यक्ता हि गतिर्दुःखं देहवद्भिरवाप्यते। (गी० १२।५ इत्यादि)

अव्यभिचरित उपाय वासुदेव भगवान्‌की भक्तिको बतलाते हैं और इसमें प्रसिद्ध दृष्टान्त अजामिलका है। उसने अपने लड़केका नाम 'नारायण' रक्खा था। मरते समय उस लड़केको 'नारायण-नारायण' कहकर पुकारा था। नारायण नामका उच्चारण करनेसे अन्तमें वह भगवान्‌के धामको प्राप्त हो गया था।

इस कथनसे यह ज्ञात होता है कि मोक्षके साधन ज्ञान, कर्म और भक्ति हैं। इनमें भक्ति सुगम उपाय है। ऐसा प्रतिपादन करते हुए भी भागवतमें कहा है कि इनके अधिकारी भिन्न-भिन्न पुरुष हैं। दुःखबुद्धिसे कर्मोंमें विरक्त और कर्मोंका संन्यास करनेवालोंको 'ज्ञान' से सिद्धि प्राप्त होती है। कर्मोंमें सुखबुद्धि माननेवाले कामी पुरुषोंके अन्तःकरणको 'कर्म' शुद्ध करता है। भगवत्‌कथाओंमें श्रद्धा करनेवाले और कर्मफलोंमें वैराग्य तथा आसक्ति न रखनेवालोंको 'भक्ति' सिद्धि देती है।

इन तीनों मार्गोंको मानते हुए भी श्रीमद्भागवतमें यह कहा है कि ज्ञानको कर्म और भक्तिकी आवश्यकता है, किन्तु भक्तिको अन्य दानोंकी आवश्यकता नहीं है*, क्योंकि ज्ञान और वैराग्य तो उसके बच्चे हैं। ब्रह्माजीने अपनी स्तुतिमें यहाँतक कहा है कि भक्तिके बिना ज्ञानका सम्पादन करना वैसे ही निष्फल है जैसे कि चावलोंके लिये धानकी भूसीको कूटना (भा० १०-१४-४)।

श्रीमद्भागवतमें विशेष आदर अभेद-भक्तिको ही दिया गया है, जिसके प्रमाणमें कुछ वचन नीचे उद्धृत किये जाते हैं†। व्यास

---

* भा० ११-२०-३१।

† वासुदेवे भगवति भक्तियोगः प्रयोजितः।
जनयत्याशु वैराग्यं ज्ञानं यत्तदहैतुकम्॥ (भा० १-२-७)

यदङ्घ्र्यनुध्यानसमाधिधौतया धियाऽनुपश्यन्ति हि तत्त्वमात्मनः।
वदन्ति चैतत्कवयो यथारुचं स मे मुकुन्दो भगवान् प्रसीदताम्॥ (भा० २-४-२१)

भगवान्‌का तात्पर्य अभेद-भक्तिमें है—"अपि च संराधने प्रत्यक्षानुमानाभ्याम्" (ब्र० सू० ३-२-२४) गीता भी यही कहती है—

यावत्पृथक्त्वमिदमात्मन इन्द्रियार्थमायाबलं भगवतो जन ईश पश्येत् ।
तावन्न संसृतिरसौ प्रतिसंक्रमेत व्यर्थाऽपि दुःखनिवहं वहति क्रियार्था ॥ (भा० ३-९-९)

(देखिये तीसरे स्कन्धके पांचवें अध्यायके श्लोक ४ व ४५, अध्याय २९ के श्लोक २१ से २६ तक और अध्याय २४ के श्लोक ३९,४० और ४६) ।

यः स्वधर्मेण मां नित्यं निराशीः श्रद्धयाऽन्वितः ।
भजते शनकैस्तस्य मनो राजन् प्रसीदति ॥ (भा० ४-२०-९)

क्षेत्रज्ञ आत्मा पुरुषः पुराणः साक्षात्स्वयंज्योतिरजः परेशः ।
नारायणो भगवान् वासुदेवः स्वमाययाऽऽत्मन्यवधीयमानः ॥
यथाऽनिलः स्थावरजङ्गमानामात्मस्वरूपेण निविष्ट ईशेत् ।
एवं परो भगवान् वासुदेवः क्षेत्रज्ञ आत्मेदमनुप्रविष्टः ॥ (भा० ५-११-१४-१५)

(देखिये—स्कन्ध ५-१२-९ तथा १० श्लोक)

अन्तर्देहेषु भूतानामात्माऽऽस्ते हरिरीश्वरः ।
सर्वं तद्धिष्ण्यमीक्षध्वमेवं वस्तोषितो ह्यसौ ॥ (भा० ६-४-१३)

नह्यच्युतं प्रीणयतो बह्वायासोऽसुरात्मजाः ।
आत्मत्वात्सर्वभूतानां सिद्धत्वादिह सर्वतः ॥ (भा० ७-६-१९)

आत्मात्मजाप्तगृहवित्तजनेषु सक्तैर्दुष्प्रापणाय गुणसङ्गविवर्जिताय ।
मुक्तात्मभिः स्वहृदये परिभाविताय ज्ञानात्मने भगवते नम ईश्वराय ॥ (भा०८-३-१८)

स तत्र निर्मुक्तसमस्तसङ्ग आत्मानुभूत्या विधुतत्रिलिङ्गः ।
परेऽमले ब्रह्मणि वासुदेवे लेभे गतिं भागवतीं प्रतीतः ॥ (भा० ९-१९-२५)

त्वामात्मानं परं मत्वा परमात्मानमेव च ।
आत्मा पुनर्बहिर्मृग्य अहोऽज्ञजनताऽज्ञता ॥
अन्तर्भवेऽनन्त भवन्तमेव ह्यतत्त्यजन्तो मृगयन्ति सन्तः ।
अथापि ते देवपदाम्बुजद्वयप्रसादलेशानुगृहीत एव हि ॥
जानाति तत्त्वं भगवन्महिम्नो न चाऽन्य एकोऽपि चिरं विचिन्वन् ॥
(भा० १०-१४-२७-२९)

सर्वभूतेषु यः पश्येद्भगवद्भावमात्मनः ।
भूतानि भगवत्यात्मन्येष भागवतोत्तमः ॥ (भा० ११-२-४५)

एवमात्मानमात्मस्थमात्मनैवाऽऽमृश प्रभो ।
बुद्ध्याऽनुमानगर्भिण्या वासुदेवानुचिन्तया ॥ (भा० १२-५-९)

श्रीगणेशाय नमः

अध्यात्मभागवत-संग्रह

पहला अध्याय

वेदान्तसार चतुःश्लोकी भागवत

ब्रह्मा और ईश्वरका संवाद

शान्ताकारं भुजगशयनं पद्मनाभं सुरेशं
विश्वाधारं गगनसदृशं मेघवर्णं शुभाङ्गम्।
लक्ष्मीकान्तं कमलनयनं योगिभिर्ध्यानगम्यं
वन्दे विष्णुं भवभयहरं सर्वलोकैकनाथम् ॥

भगवान् श्रीविष्णुको नमस्कार है जो सब भवबाधाओंको दूर करते हैं और जो सब लोकोंके एकमात्र नाथ हैं। उनका मेघके समान श्याम वर्ण और शान्त स्वरूप है। इस ब्रह्माण्डके अधिष्ठान वे ही हैं। उनके नेत्र कमलके समान हैं और वे योगियों द्वारा ध्यानसे ही जाने जाते हैं।

महाप्रलयके अनन्तर जब सर्वत्र जल ही जल था, तब लक्ष्मीपति भगवान् शेष-शय्यापर विश्राम कर रहे थे। उनके मनमें संकल्प उठा—'मैं एकसे बहुत होऊँ'। संकल्प उठते ही उनकी नाभिसे ब्रह्माण्डरूपी कमल उत्पन्न हुआ, जिसमें ब्रह्माजी बैठे हुए थे। ब्रह्माजी न जान सके कि मैं कौन हूँ? उनके मनमें ये प्रश्न उठे—

'यह दृश्य क्या है ? इसका अधिष्ठाता कौन है ? मेरा इससे क्या सम्बन्ध है ? और मैं कर्मोंके बन्धनसे कैसे बचूँ ?'

ब्रह्माजीके मनमें अपने-आप स्फुरण हुआ 'तप करो' । उन्होंने अपनी देहकी वायु और मन सहित दसों इन्द्रियोंको वशमें करके एकाग्र-चित्त होकर दिव्य तपसे भगवान्‌का आराधन किया । भगवान् तपसे प्रभावित हुए और ब्रह्माजीको ज्ञानका अधिकारी समझकर प्रकट हुए एवं उन्हें सृष्टि करनेका आदेश दिया । किन्तु ब्रह्माजीके मनमें दूसरे ही प्रश्न खटक रहे थे । उन्होंने केवल यही निवेदन किया—'हे भग-वन् ! यद्यपि आप सब प्राणियोंकी बुद्धिमें विराजमान हैं और उनके साक्षी भी हैं तथापि जिस प्रकार रूप-रहित आपके स्थूल और सूक्ष्म स्वरूपका मुझे ज्ञान हो, वैसी अनुकम्पा कीजिये । मुझे वह बुद्धि दीजिये जिससे मैं आपकी माया को जान सकूँ । मकड़ीके समान इस संसारके जन्म, स्थिति और संहार करते हुए भी जैसे आप बन्धनको प्राप्त नहीं होते हैं वैसे ही सृष्टि-कार्य करता हुआ मैं भी अहंकार आदिसे बन्धनको प्राप्त न होऊँ ।'

श्रीभगवान्‌ने बन्धनकी निवृत्तिके लिये सम्पूर्ण तत्त्वज्ञान सूक्ष्म रीतिसे ब्रह्माजीको बतलाया जो 'चतुःश्लोकी भागवत' के नामसे तैंतीसवें श्लोकसे लेकर छत्तीसवें श्लोक तक चार श्लोकोंसे प्रसिद्ध है । श्रीभगवान्‌ने कहा—

श्रीभगवानुवाच❀

ज्ञानं परमगुह्यं मे यद्विज्ञानसमन्वितम् ।
सरहस्यं तदङ्गं च गृहाण गदितं मया ॥३१॥

मैं अनुभव और भक्ति सहित, वेद और शास्त्रमें वर्णित अपने अतिगुप्त ज्ञानको और उसके साधनको तुमसे कहता हूँ, उसको सुनो ॥३१॥

❀ भा० २।९।३० इत्यादि ।

यावानहं यथाभावो यद्रूपगुणकर्मकः ।
तथैव तत्त्वविज्ञानमस्तु ते मदनुग्रहात् ॥३२॥
अहमेवाऽऽसमेवाग्रे नान्यद्यत्सदसत्परम् ।
पश्चादहं यदेतच्च योऽवशिष्येत सोऽस्म्यहम् ॥३३॥
ऋतेऽर्थं यत्प्रतीयेत न प्रतीयेत चात्मनि ।
तद्विद्यादात्मनो मायां यथा भासो यथा तमः ॥३४॥
यथा महान्ति भूतानि भूतेषूच्चावचेष्वनु ।
प्रविष्टान्यप्रविष्टानि तथा तेषु न तेष्वहम् ॥३५॥

जैसा मेरा परिमाण है, जैसी सत्ता है एवं जैसे रूप, गुण और कर्म हैं वैसा ही मेरा तत्त्वज्ञान मेरे अनुग्रहसे तुमको प्राप्त हो ॥३२॥

[अब प्रसिद्ध 'चतुःश्लोकी भागवत' से इसी तत्त्वका उपदेश करते हैं—] सृष्टिके पहले मैं ही था। स्थूल, सूक्ष्म और इन दोनोंका कारण प्रधान, प्रकृति या कोई अन्य पदार्थ नहीं था—सब कुछ मुझमें ही लीन था; सृष्टिके अनन्तर मैं ही यह दृश्यमान जगत्रूप हो जाता हूँ । [इससे यह सिद्ध हुआ कि अनादि, अनन्त और अद्वितीय होनेसे भगवान् परिपूर्ण हैं] ॥३३॥

[मायाका निरूपण करते हैं—] वास्तव वस्तुके बिना भी जिससे आत्मामें (अधिष्ठानमें) किसी अनिर्वचनीय वस्तुकी प्रतीति होती है—जैसे आकाशमें एक ही चन्द्रमाके होनेपर भी नेत्रके दोषसे दो चन्द्रमा दिखाई देते हैं एवं जिससे सत् वस्तुकी भी प्रतीति नहीं होती है—जैसे राहुके विद्यमान रहते हुए भी वह नक्षत्र-मण्डलमें नहीं दीखता, उसीको मेरी माया जानो ॥३४॥

जैसे पञ्चमहाभूत देव, मनुष्य, पशु, पक्षी आदि विविध शरीरोंमें सृष्टिके पश्चात् प्रविष्ट हुए हैं, क्योंकि उनमें वे दिखाई देते हैं, और नहीं भी प्रविष्ट हुए हैं, क्योंकि पहलेसे ही कारणरूपसे उनमें

एतावदेव जिज्ञास्यं तत्त्वजिज्ञासुनाऽऽत्मनः ।
अन्वयव्यतिरेकाभ्यां यत्स्यात्सर्वत्र सर्वदा ॥३६॥
एतन्मतं समातिष्ठ परमेण समाधिना ।
भवान्कल्पविकल्पेषु न विमुह्यति कर्हिचित् ॥३७॥

विद्यमान हैं या पृथक् विद्यमान हैं, वैसे ही भूत, भौतिक देहोंमें मैं हूँ भी और नहीं भी हूँ, अर्थात् भूत, भौतिकोंमें प्रविष्ट हुआ भी मैं (शुद्धसत्त्वरूप) अपने स्वरूपमें विद्यमान होनेसे अप्रविष्ट भी हूँ । महाभूत जड़ हैं, अतएव भूतोंमें उनका प्रवेश आसक्ति रहित है और मैं चेतन होता हुआ भी प्रवेश, नियन्त्रण, पालन आदि कार्योंको आसक्तिसे शून्य होकर करता हूँ । मायिक जीवोंमें मेरी ऐसी आसक्ति-शून्य क्रीड़ा है । मैं उनके गुण-दोषोंसे लिप्त नहीं होता हूँ ॥३५॥

[अब साधन कहते हैं—] आत्मतत्त्वके जिज्ञासुको यही विचार करना चाहिये कि जो कार्योंमें कारणरूपसे विद्यमान है; (यह अन्वय है) और कारण अवस्थामें उनसे पृथक् रहता है (यह व्यतिरेक है) एवं जाग्रत् आदि अवस्थाओंमें उस-उस अवस्थाके साक्षी होनेसे अन्वित है और समाधि में व्यतिरिक्त है—इस प्रकार अन्वय और व्यतिरेकसे जो सब जगह सदा रहे, वही आत्मा है ❀ ॥३६॥

[अब विष्णु ब्रह्माजीकी अन्तिम प्रार्थनाका उत्तर देते हैं कि उनको सृष्टिकार्यसे किस प्रकार बन्धन नहीं होगा—] हे ब्रह्मन् ! मेरे इस मतका एकाग्रचित्तसे निरन्तर चिन्तन करो, यों तुम सम्पूर्ण कल्पोंमें अनेक प्रकारकी सृष्टि करते हुए भी कर्तृत्वके अभिमानसे कदापि मोहित नहीं होओगे ॥३७॥

❀ पञ्चदशी १।७४ इत्यादि ।

दूसरा अध्याय

चेतनसे अन्य देहादि मिथ्या हैं

पहला प्रकरण

वसुदेव और कंसका संवाद

कंसकी बहिन देवकीके साथ वसुदेवजीका ब्याह हुआ । बिदाई-के अनन्तर जब वर-वधू रथपर बैठे तब कंसने बहनपर अधिक स्नेह होनेके कारण स्वयं घोड़ोंकी रास पकड़ी और बारात रवाना हुई । मार्गमें आकाशवाणी हुई—'अरे मूर्ख कंस ! जिसे तू पतिगृह (ससुराल) पहुँचा रहा है, उसका आठवाँ बालक तुझे मारेगा' यह सुनकर पापी कंसने हाथमें तलवार लेकर अपनी बहिनको मारनेके लिये उसकी चोटी पकड़ ली । उसको रोकते हुए वसुदेवजीने कहा—

वसुदेव उवाच*

श्लाघनीयगुणः शूरैर्भवान्भोजयशस्करः ।
स कथं भगिनीं हन्यात्स्त्रियमुद्वाहपर्वणि ॥३७॥

शूरवीर आपके गुणोंकी प्रशंसा करते हैं और आप भोजवंश-की कीर्तिको बढ़ानेवाले हैं, ऐसे आप विवाहके समय किसी स्त्रीका और उसमें भी अपनी बहिनका कैसे वध करेंगे ? ॥ ३७ ॥

---

* भा० १०-१-३७ इत्यादि ।

मृत्युर्जन्मवतां वीर देहेन सह जायते ।
अद्य वाऽब्दशतान्ते वा मृत्युर्वै प्राणिनां ध्रुवः ॥३८॥
देहे पञ्चत्वमापन्ने देही कर्मानुगोऽवशः ।
देहान्तरमनुप्राप्य प्राक्तनं त्यजते वपुः ॥३९॥
व्रजंस्तिष्ठन्पदैकेन यथैवैकेन गच्छति ।
यथा तृणजलूकैवं देही कर्मगतिं गतः ॥४०॥

[यदि कहिये कि अपने मारे जानेके भयसे मारता हूँ सो भी ठीक नहीं है, क्योंकि मरना तो एक-न-एक दिन अवश्य ही है, मरनेके बाद दूसरे शरीरकी प्राप्ति भी अवश्यम्भाविनी है । एवं दूसरे जन्ममें भी भले-बुरे भोग और शत्रु-मित्र ऐसे ही बने रहते हैं, इसलिये मरनेके भयसे पाप करना ठीक नहीं है, ऐसा कहते हैं—'मृत्युर्जन्म०' इत्यादिसे ।]

हे वीर ! उत्पन्न होनेवाले प्राणियोंकी मृत्यु भी उनकी देहके साथ ही उत्पन्न होती है । [यदि कहिए कि मैं अधिक समय तक जीवित रहनेके लिये इसे मारता हूँ, तो यह कहना भी ठीक नहीं है, क्योंकि] आज ही अथवा एक सौ वर्षके बाद प्राणियोंकी मृत्यु अवश्य होगी अर्थात् जब मरना अवश्य ही है, तब केवल विलम्बसे मरनेके लिये पापाचरण करना अनुचित है ॥३८॥

[यदि इस देहके छूट जानेपर दूसरी देह न होती, तो पापके आचरणसे भी इसकी रक्षा करना सङ्गत होता, मगर ऐसा तो है नहीं, यह कहते हैं—] जब इस देहके मरणका समय आता है तब देहका स्वामी अपने कर्मोंके अनुसार परतन्त्र होकर दूसरे शरीरको प्राप्त करनेके उपरान्त पहले शरीरका त्याग कर देता है ॥३९॥

[इसीमें दृष्टान्त देते हैं—] जैसे चलनेवाला मनुष्य जब आगे बढ़ाए हुए एक पैरको जमा लेता है तब पिछला पैर उठाकर चलता

स्वप्ने यथा पश्यति देहमीदृशं
मनोरथेनाऽभिनिविष्टचेतनः ।
दृष्टश्रुताभ्यां मनसाऽनुचिन्तयन्
प्रपद्यते तत्किमपि ह्यपस्मृतिः ॥४१॥
यतो यतो धावति दैवचोदितं
मनोविकारात्मकमाप पञ्चसु ।
गुणेषु मायारचितेषु देह्यसौ
प्रपद्यमानः सह तेन जायते ॥४२॥

है, अथवा जैसे जलूका (जोंक) जब अपने अगले भागसे तृणको पकड़ लेती है तब पिछला भाग उठाती है वैसे ही कर्माधीन जीव भी बर्ताव करता है ॥४०॥

[अब अन्य दृष्टान्तसे यह दिखलाते हैं कि त्याग करना और स्वीकार करना देहका धर्म है—] जैसे राजा आदिके प्रत्यक्ष दर्शन और इन्द्र आदिके पुराण-इतिहासमें श्रवणसे संस्कारयुक्त चित्त द्वारा उन्हींका चिन्तन करनेवाला पुरुष जाग्रदवस्थामें देखे गये या सुने गयेके सदृश राजादिरूप अनूठे शरीरको स्वप्नावस्था में देखता है और थोड़ी देरमें 'वही मैं हूँ' ऐसा समझ लेता है। तदनन्तर जाग्रद् देहको भूल जाता है। अथवा जैसे—जाग्रदवस्थामें ही, प्रथम देखे और सुने गये विषयोंसे संस्कारयुक्त चित्त द्वारा उनका पहले चिन्तन करनेवाला पुरुष मनोराज्यके आवेशसे अपनेको राजा समझ लेता है और अपने वास्तविक स्वरूपको भूल जाता है, वैसे ही जीव भी कर्मवश अन्य देहको पाकर पूर्व देहका त्याग कर देता है ॥४१॥

[शङ्का—प्राणी विविध देहोंकी प्राप्तिके हेतुभूत अनेक कर्म किये रहते हैं, ऐसी अवस्थामें उन्हें एक ही देह कैसे प्राप्त होती है ? समाधान—] देहके मरनेके समय, संकल्प-विकल्परूप नाना विकारों-

ज्योतिर्यथैवोदकपार्थिवेष्वदः
समीरवेगानुगतं विभाव्यते ।
एवं स्वमायारचितेष्वसौ पुमान्
गुणेषु रागानुगतो विमुह्यति ॥४३॥
तस्मान्न कस्यचिद् द्रोहमाचरेत्स तथाविधः ।
आत्मनः क्षेममन्विच्छन्द्रोग्धुर्वै परतो भयम् ॥४४॥

से युक्त मन फलोन्मुख कर्मोंसे प्रेरित होकर माया द्वारा अनेक देहोंके रूपमें रचित पञ्च महाभूतोंमें से जिस देहकी ओर दौड़ता है और दौड़ता हुआ जिस देहको अभिमानसे—अर्थात् यही मैं हूँ, ऐसा मानकर प्राप्त होता है, उसी शरीरमें यह जीव उस मनके साथ ही उत्पन्न होता है ॥४२॥

[शङ्का—यह ठीक है कि कोई-न-कोई शरीर अवश्य प्राप्त होगा, किन्तु आधुनिक इस प्रिय राजशरीरकी रक्षाके लिये मैं अयोग्य कर्म करता हूँ । समाधान—] जैसे जलसे भरे घड़े आदिमें चन्द्रमा आदिका प्रतिबिम्ब वायुसे काँपता हुआ प्रतीत होता है वैसे ही अपनी अविद्यासे प्राप्त देहोंमें यह जीव रागसे (आसक्तिसे) अनुगत हो मोहको प्राप्त होता है । [भाव यह है कि मनुष्यका जन्म देहके अध्याससे होता है और देह तथा आत्माके अन्योन्याध्याससे देहके दुर्बलता–मोटाई आदि धर्म आत्माके प्रतीत होते हैं और आनन्दादि आत्माके धर्म देहके प्रतीत होते हैं। इस कारण राजा अथवा श्वान, सूकर आदिके शरीरोंमें किसी प्रकारकी विशेषता न होनेसे मृत्युके टालनेका उपाय करना व्यर्थ है ।] ॥४३॥

जब मृत्युका रोकना असम्भव है तब अपनी कुशल चाहनेवाले पुरुषको इस लोकमें किसी दूसरेसे द्रोह नहीं करना चाहिये, क्योंकि द्रोह करनेवाले पुरुषको सदा दूसरेसे भय बना रहता है ॥४४॥

एषा तवानुजा बाला कृपणा पुत्रिकोपमा।
हन्तुं नार्हसि कल्याणीमिमां त्वं दीनवत्सलः ॥४५॥

यह आपकी छोटी बहिन काठकी पुतलीके समान अपनी रक्षा करनेमें असमर्थ तथा दीन है और आप दीनोंपर अनुग्रह करनेवाले हैं इस कारण इस निरपराधिनी का वध करना आपके लिए शोभा नहीं देता ॥४५॥

दूसरा प्रकरण

नारदजीका नलकूबर और मणिग्रीवको शाप

कुबेरजीके पुत्र नलकूबर और मणिग्रीव वारुणी नामकी मदिरा पीकर अप्सराओंके साथ मन्दाकिनीके समीप फूलोंसे लहलहाते हुए वनमें विचरते थे। जैसे हाथी हथिनियोंके साथ जल-क्रीडा करते हैं वैसे ही उन्होंने गङ्गामें घुसकर युवतियोंके साथ क्रीडा की। अकस्मात् वहाँ आये हुए देवर्षि नारदने उन उन्मत्त गन्धर्वोंको देखा। नंगी अप्सराओंने नारदजीको देखकर, लज्जित होकर शीघ्र वस्त्र पहन लिये; किन्तु उन दोनों गन्धर्वोंने ऐसा नहीं किया। नारदजीने मदिरासे उन्मत्त और लक्ष्मीके मदसे अन्धे गन्धर्वोंको देखकर, उनके अनुग्रहके लिये, शाप देनेसे पहले, उनसे इस प्रकार कहा—

नारद उवाच ❀

नह्यन्यो जुषतो जोष्यान्बुद्धिभ्रंशो रजोगुणः ।
श्रीमदादाभिजात्यादिर्यत्र स्त्रीद्यूतमासवः ॥ ८ ॥
हन्यन्ते पशवो यत्र निर्दयैरजितात्मभिः ।
मन्यमानैरिमं देहमजरामृत्यु नश्वरम् ॥ ९ ॥

प्रिय विषयोंका सेवन करनेवाले मनुष्यके विवेकको जैसा लक्ष्मी-का मद नष्ट करता है वैसा सत्कुलमें जन्म आदि अथवा रजोगुणके कार्य (हास्य, हर्षादि) नहीं करते, क्योंकि लक्ष्मीके मदके साथ स्त्री, जुवा और मद्यकी प्राप्ति होती है। [इसी बातको चार श्लोकोंसे दिखलाते हैं—] ॥ ८ ॥

लक्ष्मीके मदसे इस नश्वर देहको जरा-मरण रहित माननेवाले, अपने मनको वशमें न करनेवाले और करुणा रहित पुरुष अपने उदर-पोषणके लिये पशुओंकी हिंसा करते हैं ॥ ९ ॥

❀ भा० १०-१०-८ इत्यादि।

देवसंज्ञितमप्यन्ते कृमिविड्भस्मसंज्ञितम् ।
भूतध्रुक्तत्कृते स्वार्थं किं वेद निरयो यतः ॥१०॥
देहः किमन्नदातुः स्वं निषेक्तुर्मातुरेव च ।
मातुः पितुर्वा बलिनः क्रेतुरग्नेः शुनोऽपि वा ॥११॥
एवं साधारणं देहमव्यक्तप्रभवाप्ययम् ।
को विद्वानात्मसात्कृत्वा हन्ति जन्तूनृतेऽसतः ॥१२॥
असतः श्रीमदान्धस्य दारिद्र्यं परमाञ्जनम् ।
आत्मौपम्येन भूतानि दरिद्रः परमीक्षते ॥१३॥

जीवित अवस्थामें जिस शरीरको नर-देव (राजा) अथवा भूदेव (ब्राह्मण) कहते हैं, वह मरणके अनन्तर कीड़े पड़नेपर कृमि, कुत्ते इत्यादिके खानेपर विष्ठा और जला देनेपर भस्म हो जाता है—ऐसे शरीरके लिये जो प्राणियोंसे द्रोह करता है, जिससे नरककी यातनाएँ भोगनी पड़ती हैं, वह क्या अपने कल्याण को जानता है ? कदापि नहीं जानता ॥ १० ॥

[अब कहते हैं कि देहमें अहन्ता नहीं घट सकती—] क्या यह देह अन्नदाताका धन है या पिताका धन है अथवा माताका धन है या माताके पिता (नाना) का धन है या बलवान् (राजा) का धन है या मूल्य देकर खरीदनेवाले का धन है, या अग्निका या कुत्ता इत्यादिका धन है ? ॥ ११ ॥

इस प्रकार निश्चय न होनेपर उस साधारण और प्रकृतिसे उत्पन्न होकर उसीमें लीन होनेवाली देहको अपना मानकर मूढ़के सिवा कौन विद्वान् जीवहिंसा करेगा ? ॥ १२ ॥

[श्रीमदके प्रतीकारका उपाय कहते हैं—] अजितेन्द्रिय और लक्ष्मीके मदसे अन्धे पुरुषकी आँखोंके लिये दरिद्रता ही उत्तम अञ्जन है, क्योंकि वह अपने उदाहरणसे जान सकता है कि दुःख क्या वस्तु है । फिर वह किसीका द्रोह नहीं करता और परोपकारमें प्रवृत्त होता है ॥ १३ ॥

यथा कण्टकविद्धाङ्गो जन्तोर्नेच्छति तां व्यथाम् ।
जीवसाम्यं गतो लिङ्गैर्न तथाऽविद्धकण्टकः ॥१४॥

दरिद्रो निरहंस्तम्भो मुक्तः सर्वमदैरिह ।
कृच्छ्रं यदृच्छयाऽऽप्नोति तद्धि तस्य परं तपः ॥१५॥

नित्यं क्षुत्क्षामदेहस्य दरिद्रस्याऽन्नकाङ्क्षिणः ।
इन्द्रियाण्यनुशुष्यन्ति हिंसाऽपि विनिवर्तते ॥१६॥

दरिद्रस्यैव युज्यन्ते साधवः समदर्शिनः ।
सद्भिः क्षिणोति तं तर्षं तत आराद्विशुध्यति ॥१७॥

[इसीको वैधर्म्य-दृष्टान्तसे कहते हैं—] जिसके कभी काँटा चुभ चुका हो और क्लेश आदिका अनुभव हो चुका हो, वह अन्य पुरुषकी पीड़ाका, मुख-मालिन्य आदि चिह्नोंसे अपने दुःखके समान, अनुमान कर लेता है और वह यह भी इच्छा नहीं करता कि दूसरे प्राणीको काँटा चुभे, मगर जिसको काँटा कभी न चुभा हो वह दूसरे-की पीड़ाको कभी नहीं जान सकता ॥१४॥

[चार श्लोकोंसे कहते हैं कि दारिद्र्यसे मोक्ष भी मिलता है—] इस संसारमें दरिद्र सब प्रकारके मदोंसे और अहङ्काररूपी स्तम्भोंसे मुक्त रहता है, (क्योंकि दरिद्रका सब लोग अनादर करते हैं) और अनायास उसे जो दुःख मिलता है, वही उसका परम तप है ॥१५॥

प्रतिदिन भूखे रहनेसे दुर्बलशरीर और अन्नकी इच्छा करनेवाले दरिद्रकी इन्द्रियाँ शीघ्र सूख जाती हैं और (नरकको प्राप्त कराने-वाली) हिंसा भी उससे निवृत्त हो जाती है ॥१६॥

[अब कहते हैं कि दरिद्रकी तृष्णा भी नष्ट हो जाती है—] सबको समानभावसे देखनेवाले साधु दरिद्रको ही अनायास प्राप्त होते हैं, सत्सङ्गसे उसकी अन्नादिकी तृष्णाका क्षय हो जाता है और तद-नन्तर वह शीघ्र मोक्षके योग्य (जीवन्मुक्त) हो जाता है ॥१७॥

साधूनां समचित्तानां मुकुन्दचरणैषिणाम् ।
उपेक्ष्यैः किं धनस्तम्भैरसद्भिरसदाश्रयैः ॥१८॥

तदहं मत्तयोर्माध्व्या वारुण्या श्रीमदान्धयोः ।
तमोमदं हरिष्यामि स्त्रैणयोरजितात्मनोः ॥१९॥

यदिमौ लोकपालस्य पुत्रौ भूत्वा तमःप्लुतौ ।
न विवाससमात्मानं विजानीतः सुदुर्मदौ ॥२०॥

अतोऽर्हतः स्थावरतां स्यातां नैवं यथा पुनः ।
स्मृतिः स्यान्मत्प्रसादेन तत्रापि मदनुग्रहात् ॥२१॥

[शङ्का—साधुओंको भी धनी प्यारा होता है न कि दरिद्र । समाधान—] समदर्शी एवं भगवान् मुकुन्दके चरणकी इच्छा करनेवाले साधुओंको उपेक्षायोग्य, धनगर्वित और विषयासक्त दुराचारी मनुष्यसे क्या प्रयोजन ? ॥१८॥

इस कारण वारुणीके मदसे मत्त, लक्ष्मीके मदसे अन्धे, स्त्रीपरायण और अपने मनको वशमें न करनेवाले इन—नलकूबर और मणिग्रीव—के तमोगुणरूपी मदको मैं नष्ट करता हूँ ॥१९॥

लोकपालके पुत्र होनेपर भी अति खोटे और तमोगुणसे भरे हुए एवं अत्यन्त मदमें चूर ये अपनेको वस्त्ररहित नहीं जानते हैं ॥२०॥

इस कारण इनको कुछ काल तक स्थावर अर्थात् जड़ (वृक्ष) योनि मिलनी चाहिये, जिससे ये फिर ऐसा न करें; किन्तु उस जड़ योनिमें भी मेरे अनुग्रहसे इनकी स्मृति नष्ट न होगी ॥२१॥

तीसरा प्रकरण

शुक-परीक्षित्-संवाद

भगवान् श्रीकृष्णके अघासुर-वधादि अद्भुत कर्म तथा उनका मोक्ष देखकर ब्रह्माजीको बड़ा विस्मय हुआ और भगवान्‌की अन्य महिमा देखनेके लिये वे वनमें से गउओंके बछड़ों और ग्वालोंको दूसरे स्थानपर ले जाकर छिप गये। ब्रह्माजीने जितने बालक और बछड़े चुराये थे, भगवान्‌ने उसी समय उतने ही अन्य बालक और बछड़े अपनी योगमायासे रचकर ब्रह्माजीको दिखा दिये। वास्तवमें भगवान् ही बालादिरूप हो गये। इससे उन्होंने वेदवाणी 'यह जगत् विष्णुमय है' को प्रत्यक्ष कर दिया। गाय और गोपियोंका लालन-पालनरूप मातृभाव पूर्ववत् ही रहा, किन्तु विशेष बात यह हुई कि उनका स्नेह पहलेसे अधिक हो गया। लोकमें दूसरोंके अति गुणवान् पुत्रकी अपेक्षा अपने गुणहीन पुत्रके ऊपर स्नेह अधिक होता है और गौ-गोपियोंके इस प्रेमको लोक-विरुद्ध समझते हुए राजा परीक्षित्‌ने शुकदेवजीसे इसका कारण पूछा।

श्रीशुकदेवजीने कहा * —

श्रीशुक उवाच † ।

सर्वेषामपि भूतानां नृप स्वात्मैकवल्लभः ।
इतरेऽपत्यवित्ताद्यास्तद्वल्लभतयैव हि ॥५०॥

[चार श्लोकोंसे यह दिखलाते हैं कि भगवान् श्रीकृष्ण साक्षात् आत्मा हैं और उनमें प्राणियोंका प्रेम पुत्र, वित्त आदिसे भी बढ़ कर है—] हे राजन् ! सब जीवोंको अपनी आत्मा सबसे अधिक प्रिय है और उससे अन्य पुत्र, वित्त आदिमें जो प्रेम है वह इस

* इसकी पूर्ण कथा भागवतस्तुति-संग्रह में देखिये।

† भा० १०-१४-५० इत्यादि।

तद्राजेन्द्र यथा स्नेहः स्वस्वकात्मनि देहिनाम् ।
न तथा ममतालम्बिपुत्रवित्तगृहादिषु ॥५१॥
देहात्मवादिनां पुंसामपि राजन्यसत्तम ।
यथा देहः प्रियतमस्तथा नह्यनु ये च तम् ॥५२॥
देहोऽपि ममताभाक्चेत्तर्ह्यसौ नात्मवत्प्रियः ।
यज्जीर्यत्यपि देहेऽस्मिञ्जीविताशा बलीयसी ॥५३॥
तस्मात्प्रियतमः स्वात्मा सर्वेषामपि देहिनाम् ।
तदर्थमेव सकलं जगदेतच्चराचरम् ॥५४॥

कारण है कि वे आत्माके सुखके साधन हैं (क्योंकि ऐसा अनुभव होता है) । ॥५०॥

[अनुभवको दिखाते हैं—] हे राजेन्द्र ! जीवोंकी जैसी प्रीति अहङ्कारके आस्पद देहमें होती है, वैसी प्रीति ममताके आस्पद पुत्र, धन, गृह आदिमें नहीं होती ॥५१॥

हे नृपश्रेष्ठ ! जो यह कहते हैं कि देह ही आत्मा है, उनको भी जैसा यह देह प्रिय है वैसे इस देहके अङ्ग (गृह, पुत्र आदि) प्रिय नहीं होते ॥५२॥

यदि यह ज्ञान हो जाय कि देह आत्मासे भिन्न है, तब तो देह भी आत्माके समान प्रिय नहीं होगा (किन्तु आत्माके सम्बन्धसे प्रिय होगा), क्योंकि देहके वृद्ध होकर थक जानेपर भी यह इच्छा रहती है कि आत्मा बना रहे ।

[भाव यह है कि आत्माके परम प्रेमास्पद होनेसे कोई यह नहीं चाहता है कि उसका वियोग हो जाय। बस यही कारण है कि मनुष्य जीवित रहनेकी आशा रखता है । यथा श्रुतिः—'सर्वं आत्मार्थं प्रियं भवति'] ॥५३॥

इस कारण सब देह-धारियों को अपनी आत्मा सबसे अधिक प्रिय

कृष्णमेनमवेहि त्वमात्मानमखिलात्मनाम् ।
जगद्धिताय सोऽप्यत्र देहीवाऽऽभाति मायया ॥५५॥

वस्तुतो जानतामत्र कृष्णं स्थास्नु चरिष्णु च ।
भगवद्रूपमखिलं नान्यद्वस्त्विह किंचन ॥५६॥

सर्वेषामपि वस्तूनां भावार्थो भवति स्थितः ।
तस्यापि भगवान्कृष्णः किमतद्वस्तु रूप्यताम् ॥५७॥

समाश्रिता ये पदपल्लवप्लवं
महत्पदं पुण्ययशो मुरारेः ।
भवाम्बुधिर्वत्सपदं परं पदं
पदं पदं यद्विपदां न तेषाम् ॥५८॥

है, उसके निमित्त ही यह पुत्र, भार्या आदि चर, गृह, धन आदि अचर संसार प्रिय होता है ॥५४॥

[प्रकरणके अनुसार कहते हैं—] इन कृष्ण भगवान्‌को तुम सम्पूर्ण प्राणियोंकी आत्मा समझो । ये संसारके हितके लिये मायासे देहधारी ऐसे प्रतीत हो रहे हैं ॥५५॥

[भगवान् श्रीकृष्ण केवल जङ्गम प्राणियोंकी आत्मा नहीं हैं, किन्तु स्थावरोंकी भी आत्मा हैं—] वास्तवमें अनुभवी पुरुषोंको यह दिखाई देता है कि सम्पूर्ण चराचर जगत् भगवान् श्रीकृष्णका ही रूप है और इस संसारमें उनसे भिन्न कोई वस्तु नहीं है । [यथा श्रुतिः—नेह नानास्ति किञ्चन] ॥५६॥

सार यह है कि सब वस्तुओंकी कारण प्रकृति है और उसके भी कारण भगवान् श्रीकृष्ण हैं तब उनसे अतिरिक्त वस्तुका निरूपण कौन कर सकता है ? ॥५७॥

[प्रकरणके अर्थका उपसंहार करते हैं—] ब्रह्मा और शिव आदि-के आश्रयसे जिनका आश्रय उत्कृष्ट है और जिनके यशसे मन शुद्ध

चौथा प्रकरण

वसुदेवजीको भगवान्‌का उपदेश

एक समय भगवान् श्रीकृष्ण अपने कुटुम्बियोंके साथ कुरुक्षेत्र गये। वहाँ सनकादि सहित सब ऋषि भगवान् श्रीकृष्ण और बलरामजीके दर्शन करनेके लिये आये। उन्होंने भगवान् श्रीकृष्णकी स्तुति परब्रह्म-स्वरूपसे की। उसको सुननेसे वसुदेवजीकी समझमें श्रीकृष्णतत्त्व आया। तदनन्तर वसुदेवजीने व्यापकरूपसे भगवान्‌की स्तुति की। भगवान् श्रीकृष्णने उसी ज्ञानकी पुष्टिके लिये वसुदेवजीको परम तत्त्व-का उपदेश दिया।

श्रीभगवानुवाच*

वचो वः समवेतार्थं तातैतदुपमन्महे।
यन्नः पुत्रान्समुद्दिश्य तत्त्वग्राम उदाहृतः ॥२२॥
अहं यूयमसावार्य इमे च द्वारकौकसः।
सर्वेऽप्येवं यदुश्रेष्ठ विमृश्याः सचराचरम् ॥२३॥

हो जाता है, ऐसे मुरारिके चरण-पल्लवरूपी नावका सहारा लेनेवालोंके लिए संसार-समुद्र बछड़ेके खुरके चिह्नके समान सहजमें तरनेके योग्य हो जाता है और श्रीवैकुण्ठ धाम प्राप्त होता है। फिर उनको दुःखोंका स्थान संसार नहीं मिलता ॥५८॥

श्रीभगवान्‌ने कहा—

हे तात! हम पुत्रोंको लक्ष्य करके आपने जो सम्पूर्ण तत्त्वोंका भली भाँति वर्णन किया, आपके उस कथनको हम यथार्थ ही मानते हैं। (यह श्रुतिमें 'तत्त्वमसि श्वेतकेतो' के समान उपदेश है) ॥२२॥

[अब कहते हैं कि यही दृष्टि सर्वत्र रखनी चाहिये—] हे यदु-

---

* भा० १०-८५-२२ इत्यादि।

आत्मा ह्येकः स्वयंज्योतिर्नित्योऽन्यो निर्गुणो गुणैः ।
आत्मसृष्टैस्तत्कृतेषु भूतेषु बहुधेयते ॥२४॥
खं वायुर्ज्योतिरापो भूस्तत्कृतेषु यथाशयम् ।
आविस्तिरोऽल्पभूर्येको नानात्वं यात्यसावपि ॥२५॥

श्रेष्ठ ! मैं, आप, ये बलभद्रजी, ये द्वारिकावासी सभी लोग और यहाँके सभी चराचर प्राणी ब्रह्मरूप ही हैं, ऐसा निश्चय कीजिए ॥२३॥

[शङ्का—विकारवाले जीवोंको किस प्रकार ब्रह्म समझें ? समाधान—उपाधिधर्मसे ब्रह्म ही नानारूप प्रतीत होता है । इसीका दो श्लोकोंसे प्रतिपादन करते हैं—]

आत्मा एक, ज्योतिस्वरूप, नित्य, देहादिसे भिन्न और निर्गुण होकर भी अपनेसे उत्पन्न गुणों द्वारा, उक्त गुणोंसे रचे गये देव, मनुष्य आदि जीवोंमें (तत्-तत् उपाधियोंके अनुसार) नाना प्रकारका प्रतीत होता है ॥२४॥

जैसे आकाश, तेज, वायु, जल और पृथ्वी अपनेसे उत्पन्न हुए घटादि कार्योंमें उपाधिके धर्मोंसे प्रकट होना, नाश होना, छिप जाना, अधिक होना आदि धर्मोंको प्राप्त हुए-से प्रतीत होते हैं वैसे ही आत्मा नाना हो जाता है। [यहाँ आत्माका प्रकट होना मनुष्यादिमें, छिप जाना वृक्षादिमें, कम होना मच्छड़ आदिमें एवं अधिक होना हाथी आदिमें समझो] ॥२५॥

तीसरा अध्याय

राजा निमि और नौ योगेश्वरोंका संवाद

पहला प्रकरण

(१) भागवत धर्मका वर्णन

एक समय अपनी इच्छासे विचर रहे नौ योगेश्वर मिथिलाधिपति राजा निमिके सत्रमें आ पहुँचे। राजा निमिने आत्यन्तिक कल्याण जाननेकी इच्छासे उनसे भागवत धर्म, उसके भेद, माया, उससे तरनेका उपाय, ब्रह्म, कर्म, अभक्तोंकी गति, अवतार-लीला और युगक्रम——ये नौ प्रश्न पूछे। उन योगेश्वरोंने क्रमशः एक-एक करके उत्तर दिया।

कविरुवाच*

मन्येऽकुतश्चिद्भयमच्युतस्य
पादाम्बुजोपासनमत्र नित्यम्।
उद्विग्नबुद्धेरसदात्मभावाद्
विश्वात्मना यत्र निवर्तते भीः ॥३३॥

कवि बोले——

[सबसे पहले सर्वोत्तम कल्याण कहते हैं——] मेरा यह दृढ़ निश्चय है कि इस संसारमें अति तुच्छ देह, इन्द्रिय आदिको ही आत्मा समझनेसे जिसकी बुद्धि सदा दूषित रहती है, उसके लिए भगवान् अच्युत-

---

* भा० ११-२-३३ इत्यादि।

ये वै भगवता प्रोक्ता उपाया ह्यात्मलब्धये ।
अञ्जः पुंसामविदुषां विद्धि भागवतान् हि तान् ॥३४॥
यानास्थाय नरो राजन्न प्रमाद्येत कर्हिचित् ।
धावन्निमील्य वा नेत्रे न स्खलेन्न पतेदिह ॥३५॥
कायेन वाचा मनसेन्द्रियैर्वा
बुद्ध्याऽऽत्मना वाऽनुसृतस्वभावात् ।

के चरण-कमलोंकी उपासना निर्भय है, क्योंकि भगवान्‌के चरणोंकी सेवा होनेपर भय सर्वथा दूर हो जाते हैं ॥३३॥

[भागवत धर्मका लक्षण कहते हैं—] भगवान्‌ने जो अज्ञानीको भी सुखसे आत्म-प्राप्तिके उपाय स्वयं अपने श्रीमुखसे (गीतादिमें या मनु आदिके मुखसे) कहे हैं, उनको भागवत धर्म समझो ॥३४॥

राजन् ! जिन धर्मोंका आचरण कर रहे पुरुषको योगसाधन आदिमें जिन विघ्नबाधाओंका सामना करना पड़ता है उन विघ्न-बाधाओंका सामना नहीं करना पड़ता । भागवत धर्मोंमें नेत्र मूँद-कर दौड़नेपर भी ठोकर नहीं खाता अर्थात् उसके अनुष्ठानमें किसी प्रकारकी न्यूनता होनेपर भी उसके फलसे वञ्चित नहीं होता और प्रत्यवायसे नरकमें भी नहीं गिरता ।

ब्राह्मणोंके श्रुति और स्मृति—ये दो नेत्र कहे गये हैं। एक श्रुति यदि न हो, तो वह काना कहा जाता है । यदि दोनों (श्रुति और स्मृति) न हों, तो अन्धा कहलाता है, अर्थात् यदि कोई वर्णाश्रम धर्मोंका अनुष्ठान न करके भी श्रवण आदि भागवत धर्मोंका अनुष्ठान करता रहे, तो उसे न तो कर्म न करनेका प्रायश्चित्त लगता है और न वह फलसे ही वञ्चित होता है ॥३५॥

[अब भागवत धर्म और ईश्वरके अर्पित किये गये कर्मोंको कहते हैं—] शरीर, वाणी, मन तथा इन्द्रियों, बुद्धि, अहङ्कार और

करोति यद् यत् सकलं परस्मै
नारायणायेति समर्पयेत् तत् ॥३६॥
भयं द्वितीयाभिनिवेशतः स्या-
दीशादपेतस्य विपर्ययोऽस्मृतिः।
तन्माययाऽतो बुध आभजेत्तं
भक्त्यैकयेशं गुरुदेवतात्मा ॥३७॥
अविद्यमानोऽप्यवभाति हि द्वयो
ध्यातुर्धिया स्वप्नमनोरथौ यथा।
तत्कर्म सङ्कल्पविकल्पकं मनो
बुधो निरुन्ध्यादभयं ततः स्यात् ॥३८॥

उनके कारण प्राप्त सात्त्विक आदि स्वभावसे (अथवा ब्राह्मणत्वादिरूप स्वभावसे) जो–जो कर्म करता है, उन सबके फलोंको परमात्माके अर्पण करे। [यों भगवदर्पण करनेपर सभी कर्म भागवत हो जाते हैं, यह भाव है। देखिये गीता—९-२७ 'यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत्। यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम् ॥'] ॥३६॥

[शङ्का—भयकी कल्पना अज्ञानसे होती है और वह ज्ञानसे दूर हो जाता है, ऐसी दशामें परमेश्वरके भजनकी क्या आवश्यकता है ? समाधान—] ईश्वरसे विमुख पुरुषको भगवान्‌की मायासे स्वरूपकी विस्मृति हो जाती है, उससे यह विपर्यय हो जाता है कि देहादि ही आत्मा हैं। फिर एक अद्वितीय अधिष्ठान (ब्रह्म) में शत्रु-मित्रादि भेदबुद्धि हो जाती है, तदनन्तर भय होता है। (श्रुति—द्वितीयाद्वै भयं भवति)। इस कारण विवेकी पुरुष श्रीगुरुदेवमें ईश्वर और आत्माकी भावना करके अनन्यभक्तिसे उसका (ईश्वरका) भजन करे ॥३७॥

[शङ्का—जिसका चित विषयोंसे विक्षिप्त है, उसे अव्यभिचारिणी भक्ति किस प्रकार हो सकती है ? और वह कैसे अभय हो

शृण्वन् सुभद्राणि रथाङ्गपाणे-
र्जन्मानि कर्माणि च यानि लोके ।
गीतानि नामानि तदर्थकानि
गायन् विलज्जो विचरेदसङ्गः ॥३९॥
एवंव्रतः स्वप्रियनामकीर्त्या
जातानुरागो द्रुतचित्त उच्चैः ।
हसत्यथो रोदिति रौति गाय-
त्युन्मादवन्नृत्यति लोकबाह्यः ॥४०॥

सकता है ? समाधान—] जैसे स्वप्नमें देखा हुआ या मनसे कल्पित पदार्थ वास्तवमें न होता हुआ भी मनुष्यके मनकी कल्पनासे प्रतीत होता है वैसे ही द्वैत प्रपञ्च भी ध्यान करनेवाले पुरुषके मनकी कल्पना-से प्रतीत होता है; इसलिए विवेकी पुरुष जब कर्मोंका संकल्प और विकल्प करनेवाले मनको रोकेगा तभी अनन्यभक्तिसे अभय हो सकेगा । [भाव यह है कि मनुष्य अनन्य-भक्तिसे अभय-पद प्राप्त करता है।]॥३८॥

[मनको वशमें करनेका सुगम मार्ग बतलाते हैं—] संसारमें प्रसिद्ध भगवान् चक्रपाणिके कल्याणकारी जन्म, कर्म और उन्हींके अर्थ-द्योतक नामोंका श्रवण और कीर्तन करता हुआ निर्लज्ज और असङ्ग होकर पृथ्वीमें विचरे ॥३९॥

[यों भगवान्का भजन कर रहा पुरुष प्रेमलक्षणा भक्तिको प्राप्त होकर संसारके व्यवहारका उल्लंघन करता है—] जिस भजन करने-वाले पुरुषका मन अपने प्रिय भगवान्के कीर्तनमें प्रीति प्राप्त कर पिघल गया, वह लोकाचारसे विरुद्ध—कभी उन्मत्तके समान हँसता है, कभी रोता है, कभी चिल्लाता है, कभी गाता है और कभी नाचता है ॥४०॥

[अब मनको वशमें रखनेका दूसरा उपाय कहते हैं—] आकाश,

खं वायुमग्निं सलिलं महीं च
ज्योतींषि सत्त्वानि दिशो द्रुमादीन्।
सरित्समुद्रांश्च हरेः शरीरं
यत्किञ्च भूतं प्रणमेदनन्यः ॥४१॥
भक्तिः परेशानुभवो विरक्ति-
रन्यत्र चैष त्रिक एककालः।
प्रपद्यमानस्य यथाऽश्नतः स्यु-
स्तुष्टिः पुष्टिः क्षुदपायोऽनुघासम् ॥४२॥
इत्यच्युताङ्घ्रिं भजतोऽनुवृत्त्या
भक्तिर्विरक्तिर्भगवत्प्रबोधः।
भवन्ति वै भागवतस्य राजं-
स्ततः परां शान्तिमुपैति साक्षात् ॥४३॥

वायु, अग्नि, जल, पृथ्वी, नक्षत्र, प्राणीमात्र, दिशा, वृक्ष आदि, नदी, समुद्र और जो कुछ स्थावर-जङ्गम भूत हैं, उन सबको श्रीहरिका शरीर समझकर अनन्यभावसे प्रणाम करे ॥४१॥

[शङ्का—जो गति योगारूढ़ पुरुषोंको कई जन्मोंमें भी दुर्लभ है वह नाम-स्मरणमात्रसे एक ही जन्ममें कैसे प्राप्त होगी ? समाधान—] जैसे भोजन करनेवाले पुरुषको प्रत्येक ग्रासमें संतोष, उदरपूर्ति और क्षुधाकी निवृत्ति होती है वैसे ही भगवान्‌का भजन करनेवाले पुरुषको प्रेमरूपी भक्ति, भगवान्‌का अनुभव और धन-पुत्रादिमें वैराग्य—ये तीनों एक ही कालमें प्राप्त होते हैं ॥४२॥

[फिर भगवान्‌के अनुग्रहसे कृतार्थ हो जाता है, ऐसा कहते हैं—] हे राजन्! इस प्रकार बराबर अच्युत भगवान्‌के चरणोंका भजन करनेसे भगवद्भक्तोंको भक्ति, वैराग्य और ज्ञान प्राप्त होता है, तदुपरान्त साक्षात् परम शान्ति (मुक्ति) को प्राप्त होता है ॥४३॥

[प्रबुद्ध उवाच*]

सर्वतो मनसोऽसङ्गमादौ सङ्गं च साधुषु ।
दयां मैत्रीं प्रश्रयं च भूतेष्वद्धा यथोचितम् ॥२३॥
शौचं तपस्तितिक्षां च मौनं स्वाध्यायमार्जवम् ।
ब्रह्मचर्यमहिंसां च समत्वं द्वन्द्वसंज्ञयोः ॥२४॥
सर्वत्राऽऽत्मेश्वरान्वीक्षां कैवल्यमनिकेतताम् ।
विविक्तचीरवसनं संतोषो येन केनचित् ॥२५॥
श्रद्धां भागवते शास्त्रेऽनिन्दामन्यत्र चापि हि ।
मनोवाक्कायदण्डश्च सत्यं शमदमावपि ॥२६॥

[प्रबुद्धने कहा--]

सबसे पहले देह, पुत्र आदिमें वैराग्य, साधुओंकी संगति और प्राणियोंमें (अपनेसे हीन, समान और उत्तम प्राणियोंमें) यथाक्रम दया, मित्रता और नम्रता करे ॥२३॥

शौच, तप, तितिक्षा, मौन, स्वाध्याय, कोमल स्वभाव, ब्रह्मचर्य, अहिंसा, सुख-दुःख, शीतोष्ण आदि द्वन्द्वोंमें हर्ष-विषाद न करना सीखे । 'तितिक्षा दुःखसंमर्षः' (भा० ११-१९-३६), 'तपः काम-त्यागः' (भा० ११-१९-३७) ॥२४॥

सब प्राणियोंमें सत्‌चित्‌रूपसे आत्माका देखना, नियन्तारूपसे ईश्वरको देखना, एकान्तवास करना, घर आदिका अभिमान त्यागना, निर्जनमें गिरे हुए चिथड़ों या शुद्ध वल्कलोंको पहिनना, अनायास प्राप्त वस्तुसे सन्तोष करना सीखे ॥२५॥

भागवत शास्त्रमें श्रद्धा करना और अन्य शास्त्रकी निन्दा न करना, मन, वाणी और कायका (प्राणायाम, मौन और अनीहासे—चेष्टा न

* अन्यत्र भा० ११-३-२३ इत्यादिमें प्रबुद्ध द्वारा कहे गये भागवत धर्मोंको यहाँ कहते हैं ।

श्रवणं कीर्तनं ध्यानं हरेरद्भुतकर्मणः ।
जन्मकर्मगुणानां च तदर्थेऽखिलचेष्टितम् ॥२७॥
इष्टं दत्तं तपो जप्तं वृत्तं यच्चाऽऽत्मनः प्रियम् ।
दारान् सुतान् गृहान् प्राणान् यत्परस्मै निवेदनम् ॥२८॥
एवं कृष्णात्मनाथेषु मनुष्येषु च सौहृदम् ।
परिचर्यां चोभयत्र महत्सु नृषु साधुषु ॥२९॥
परस्परानुकथनं पावनं भगवद्यशः ।
मिथो रतिर्मिथस्तुष्टिर्निवृत्तिर्मिथ आत्मनः ॥३०॥

करनेसे—) संयम करना, सत्य बोलना, शम और दम सीखे ['शमः बुद्धेः मन्निष्ठता, दमः इन्द्रियसंयमः' (भा० ११-१९-३६); 'सत्यं समदर्शनम्' (भा० ११-१९-३७)] ॥२६॥

अद्भुत कर्म करनेवाले भगवान् श्रीहरिके जन्म, कर्म और गुणोंका श्रवण, कीर्तन और ध्यान तथा भगवान्के उद्देश्यसे [न कि स्वर्ग आदिके उद्देश्यसे] सम्पूर्ण इन्द्रियोंका व्यापार करना सीखे ॥२७॥

इष्ट (वैदिक यज्ञादि), दत्त (स्मार्त दानादि), तप (उपवासादि), जप्त (मन्त्रादि), वृत्त (सदाचारादि) और जो कुछ अपनेको प्रिय लगे, उसको एवं स्त्री, पुत्र, घर और प्राणोंको भी परमेश्वरके अर्पण करना सीखे ॥२८॥

इस प्रकार श्रीकृष्ण जिनके आत्मा और स्वामी हैं, ऐसे मनुष्योंके ऊपर स्नेह और सब स्थावर-जङ्गम प्राणियोंकी और विशेष करके मनुष्योंकी और उनमें भी महापुरुषोंकी तथा साधुओंकी शुश्रूषा करना सीखे ॥२९॥

पवित्र करनेवाले भगवान्के यशका परस्पर वर्णन करना, परस्पर प्रीति और सन्तोष करना तथा सम्पूर्ण दुःखोंकी निवृत्तिको (अथवा अपने अहंकारकी निवृत्तिको) सीखे ॥३०॥

स्मरन्तः स्मारयन्तश्च मिथोऽघौघहरं हरिम् ।
भक्त्या सञ्जातया भक्त्या बिभ्रत्युत्पुलकां तनुम् ॥३१॥
क्वचिद्रुदन्त्यच्युतचिन्तया क्वचि-
द्धसन्ति नन्दन्ति वदन्त्यलौकिकाः ।
गायन्ति नृत्यन्त्यनुशीलयन्त्यजं
भवन्ति तूष्णीं परमेत्य निर्वृताः ॥३२॥

[अब दो श्लोकोंसे कहते हैं कि इस प्रकारका आचरण करनेवालेको परमानन्द प्राप्त होता है--] पापपुञ्जोंका नाश करनेवाले (भक्तोंके अविद्यादि दोषोंको हरनेवाले) श्रीहरिका स्वयं स्मरण करनेवाले और दूसरोंको स्मरण करानेवाले भक्त, भक्तिके प्रभावसे उत्पन्न हुए प्रेमसे (परा भक्तिसे), अपने शरीरमें रोमाञ्च धारण करते हैं ॥३१॥

(देहके अध्यासके निवृत्त होनेपर) अलौकिक होकर भक्त कभी भगवान्के दर्शन न मिलनेकी चिन्तासे रोते हैं, कभी हंसते हैं, कभी नाचते और गाते हैं, कभी भगवान्का अभिनय (नाट्य) करते हैं और कभी परमपुरुषप्राप्तिरूप परमानन्दका अनुभव करते हुए मौन हो जाते हैं ॥३२॥

दूसरा प्रकरण

(२) *भगवद्भक्तके लक्षणोंका वर्णन*

हरिरुवाच*

सर्वभूतेषु यः पश्येद्भगवद्भावमात्मनः ।
भूतानि भगवत्यात्मन्येष भागवतोत्तमः ॥४५॥
ईश्वरे तदधीनेषु बालिशेषु द्विषत्सु च ।
प्रेममैत्रीकृपोपेक्षा यः करोति स मध्यमः ॥४६॥
अर्चायामेव हरये पूजां यः श्रद्धयेहते ।
न तद्भक्तेषु चाऽन्येषु स भक्तः प्राकृतः स्मृतः ॥४७॥

हरि बोले—

जो मनुष्य अपनेको सब भूतोंमें ब्रह्मरूपसे अनुस्यूत देखता है और ब्रह्मरूप अपनेमें सब भूतोंको देखता है, वह भगवद्भक्तोंमें श्रेष्ठ है । अथवा जो मनुष्य सब भूतोंमें नियन्तारूपसे वर्तमान भगवान्‌का परम ऐश्वर्य देखता है न कि उनका तारतम्य और ऐश्वर्यादि गुणोंसे पूर्ण भगवान्‌में ही सम्पूर्ण भूतोंको देखता है, वह भगवद्भक्तोंमें श्रेष्ठ है ॥४५॥

जो ईश्वरमें प्रेम, भगवद्भक्तोंके साथ मित्रता, अज्ञानियोंपर कृपा, दोषारोपण करनेवालोंकी उपेक्षा करता है, वह भगवद्भक्तोंमें मध्यम है [क्योंकि वह भेद-दृष्टि रखता है] ॥४६॥

भगवत्प्राप्तिके लिये जो श्रद्धासे प्रतिमामें ही भगवान्‌की पूजा करता है और भगवद्भक्त तथा गौ-ब्राह्मण आदिमें उनकी पूजा नहीं करता, वह पुरुष प्राकृत भक्त है अर्थात् उसने अभी भक्ति आरम्भ की है (काल पाकर वह भी क्रमशः मध्यम और उत्तम भक्त होगा) ॥४७॥

* भा० ११-२-४५ इत्यादि ।

गृहीत्वापीन्द्रियैरर्थान्यो न द्वेष्टि न हृष्यति ।
विष्णोर्मायामिदं पश्यन्स वै भागवतोत्तमः ॥४८॥
देहेन्द्रियप्राणमनोधियां यो
जन्माप्ययक्षुद्भयतर्षकृच्छ्रैः ।
संसारधर्मैरविमुह्यमानः
स्मृत्या हरेर्भागवतप्रधानः ॥४९॥
न कामकर्मबीजानां यस्य चेतसि संभवः ।
वासुदेवैकनिलयः स वै भागवतोत्तमः ॥५०॥
न यस्य जन्मकर्मभ्यां न वर्णाश्रमजातिभिः ।
सज्जतेऽस्मिन्नहंभावो देहे वै स हरेः प्रियः ॥५१॥

[आठ श्लोकोंसे फिर उत्तम भक्तके लक्षण कहते हैं--] जो पुरुष यह देखकर कि यह जगत् भगवान्‌की मायामात्र है, इन्द्रियोंसे विषयोंका ग्रहण करके भी उनसे न द्वेष करता है और न प्रसन्न होता है, वह भगवद्भक्तोंमें श्रेष्ठ है ।।४८।।

जो मनुष्य निरन्तर श्रीहरिका स्मरण करनेसे देह आदिके जन्म, नाश आदि संसारधर्मोंसे मोहित नहीं होता है--अर्थात् यह जानता है कि जन्म-मरण देहके धर्म हैं, क्षुधा-पिपासा प्राणके धर्म हैं, काम, क्रोध, भय, आदि मनके धर्म हैं, तृष्णा बुद्धिका धर्म है और श्रम इन्द्रियोंका धर्म है—इनसे आत्माका कोई सम्बन्ध नहीं है—वह भगवद्भक्तोंमें श्रेष्ठ है ।।४९।।

जिसके चित्तमें काम, कर्म और उनकी वासनाओंकी उत्पत्ति ही नहीं होती है और जिसके आश्रय केवल वासुदेव ही हैं, वह श्रेष्ठ भगवद्भक्त है ।। ५० ।।

जिसको सत् कुलमें जन्म, याग आदि कर्म, ब्राह्मणत्व, क्षत्रियत्व आदि वर्ण एवं ब्रह्मचर्य आदि आश्रमसे अपने वर्तमान देहमें अहङ्कार नहीं होता है, वह श्रेष्ठ भगवद्भक्त है ।। ५१ ।।

न यस्य स्वः पर इति वित्तेष्वात्मनि वा भिदा।
सर्वभूतसमः शान्तः स वै भागवतोत्तमः ॥५२॥
त्रिभुवनविभवहेतवेऽप्यकुण्ठ-
स्मृतिरजितात्मसुरादिभिर्विमृग्यात् ।
न चलति भगवत्पदारविन्दा-
ल्लवनिमिषार्धमपि यः स वैष्णवाग्र्यः॥५३॥
भगवत उरुविक्रमाङ्घ्रिशाखा-
नखमणिचन्द्रिकया निरस्ततापे ।
हृदि कथमुपसीदतां पुनः स
प्रभवति चन्द्र इवोदितेऽर्कतापः ॥५४॥

जिसको धन और शरीरमें अपनी परायी बुद्धि नहीं है और जो सब प्राणियोंको समानभावसे देखता है, वह श्रेष्ठ भगवद्भक्त है ॥५२॥

जिनकी चित्तवृत्ति भगवान्के चरणोंमें सदा लीन रहती है, ऐसे देवता भी जिन्हें पा नहीं सकते, यों अति दुर्लभ भगवान्के चरणारविन्दसे, त्रिलोकीके राज्यके लिये भी आधे क्षणके लिये भी, जो विचलित (विमुख) नहीं होता, वह पुरुषश्रेष्ठ भगवद्भक्त है; क्योंकि उसको सदा यह ध्यान रहता है कि भगवत्चरणारविन्दसे बढ़कर दूसरी कोई सारवान् वस्तु है ही नहीं ॥ ५३ ॥

महापराक्रमी भगवान्के चरणोंकी अङ्गुलियोंके नखरूप मणियोंकी चाँदनीसे (चन्द्रमाकी कान्तिके समान शीतल कान्तिसे) जिसके सम्पूर्ण पाप नष्ट हो गये हैं ऐसे भजन करनेवालेके हृदयमें फिर ताप कैसे उत्पन्न होंगे ? [इसमें उदाहरण देते हैं—] जैसे चन्द्रमाका उदय होनेपर रात्रिमें सूर्यका ताप नहीं होता है वैसे ही भक्तके हृदयमें विषय-वासना उत्पन्न नहीं होती है ॥ ५४ ॥

विसृजति हृदयं न यस्य साक्षा-
　　द्धरिरवशाभिहितोऽप्यघौघनाशः ।
प्रणयरशनया धृताङ्घ्रिपद्मः
　　स भवति भागवतप्रधान उक्तः ॥५५॥

[कहे गये समस्त लक्षणोंके सारको कहते हैं—] ज्वरादि रोगसे आतुर अवस्थामें भगवान्‌का नाममात्र लेनेसे वे उसके सम्पूर्ण पाप-समूहोंका नाश कर देते हैं; तो जिस भक्तने प्रेमरूपी रज्जुसे भगवान्‌के चरण-कमलोंको अपने हृदयमें बाँध लिया है, उसको श्रीहरि स्वयं कभी नहीं छोड़ते हैं, ऐसे पुरुषको भगवद्भक्तोंमें मुख्य कहा है ॥ ५५ ॥

तीसरा प्रकरण

(३) मायाका निरूपण

अन्तरिक्ष उवाच*

एभिर्भूतानि भूतात्मा महाभूतैर्महाभुज ! ।
ससर्जोच्चावचान्याद्यः स्वमात्रात्मप्रसिद्धये ॥ ३ ॥
एवं सृष्टानि भूतानि प्रविष्टः पञ्चधातुभिः ।
एकधा दशधाऽऽत्मानं विभजञ्जुषते गुणान् ॥ ४ ॥
गुणैर्गुणान्स भुञ्जान आत्मप्रद्योतितैः प्रभुः ।
मन्यमान इदं सृष्टमात्मानमिह सज्जते ॥ ५ ॥

अन्तरिक्ष बोले—

[मायाके स्वरूपका वर्णन करना असम्भव है, इस कारण सृष्टि आदि कार्य द्वारा उसका निरूपण करते हैं—] हे महाबाहो ! सब भूतोंके कारण आदि पुरुषने जिस शक्तिसे अपने अंश जीवोंके भोग और मोक्षके लिये स्वरचित पाँच महाभूतोंसे विविध देव, मनुष्य, तिर्यक् आदि शरीरोंकी सृष्टि की, उसीको भगवान्‌की माया समझो ॥ ३॥

इस प्रकार जीवोंका उपकार करनेके लिये पाँच महाभूतोंसे रचित देव आदिमें अन्तर्यामी-रूपसे प्रविष्ट वह भगवान् अन्तःकरणमें अभिमान करनेसे एक प्रकारके होकर और इन्द्रियोंमें अभिमान करनेसे दस प्रकारके होकर शब्दादि विषयोंका सेवन करते हैं, यही भगवान्‌की माया है ॥४॥

तदनन्तर वह देहमें अभिमान करनेवाला जीव आत्मासे (अन्तर्यामीसे) प्रकाशको (चैतन्यको) प्राप्त हुई इन्द्रियों द्वारा विषयोंका भोग करता हुआ इस उत्पन्न हुई देहको ही आत्मा समझनेसे शरीरादिमें आसक्ति करता है, यही भगवान्‌की माया है ॥५॥

---

* भा० ११-३-३ इत्यादि ।

कर्माणि कर्मभिः कुर्वन्सनिमित्तानि देहभृत् ।
तत्तत्कर्मफलं गृह्णन्भ्रमतीह सुखेतरम् ॥ ६ ॥
इत्थं कर्मगतीर्गच्छन्बह्वभद्रवहाः पुमान् ।
आभूतसम्प्लवात् सर्गप्रलयावश्नुतेऽवशः ॥ ७ ॥
धातूपप्लव आसन्ने व्यक्तं द्रव्यगुणात्मकम् ।
अनादिनिधनः कालो ह्यव्यक्तायाऽपकर्षति ॥ ८ ॥
शतवर्षा ह्यनावृष्टिर्भविष्यत्युल्बणा भुवि ।
तत्कालोपचितोष्णार्को लोकांस्त्रीन्प्रतपिष्यति॥ ९ ॥

[शङ्का—किस प्रकार जीव संसारसागरमें पड़ता है ? समाधान—] देहकी हेतुभूत वासनासे युक्त कर्मेन्द्रियोंसे कर्म करनेवाला और उन-उन कर्मोंके सुख-दुःखरूप फलोंका भोगनेवाला, देहाभिमानी जीव इस संसारमें भ्रमण करता है, यही भगवान्‌की माया है ॥ ६॥

[अब यह कहते हैं कि जीव कितने कालतक संसारमें भ्रमण करता है--] इस प्रकार अनेक दुःख देनेवाली देव, मनुष्य, पशु, पक्षी आदि योनियोंमें जन्म लेकर विवश हुआ यह जीव प्रलय-पर्यन्त जन्म-मरणके चक्करमें पड़ा रहता है, यही भगवान्‌की माया है ॥७॥

[पहले यह कहा गया कि उत्पत्ति, स्थितिकी कारण भगवान्‌की माया है । अब आठ श्लोकोंसे यह दिखलाते हैं कि लयकी कारण भी वह माया ही है--] जन्म-मरणरहित कालरूप ईश्वर, पञ्च महाभूतोंके नाशका समय आनेपर, स्थूल-सूक्ष्मरूप जगत्‌को अव्यक्तमें ले जानेके लिये खींचता है ॥८॥

तब पृथिवीमें सौ वर्षतक अति दुःखदायी अनावृष्टि होती है । अनावृष्टिके समय तेजके बढ़नेसे सूर्य तीनों लोकोंको सन्ताप देते हैं॥ ९ ॥

पातालतलमारभ्य संकर्षणमुखानलः ।
दहन्नूर्ध्वशिखो विष्वग्वर्धते वायुनेरितः ॥१०॥
सांवर्तको मेघगणो वर्षति स्म शतं समाः ।
धाराभिर्हस्तिहस्ताभिर्लीयते सलिले विराट् ॥११॥
ततो विराजमुत्सृज्य वैराजः पुरुषो नृप ।
अव्यक्तं विशते सूक्ष्मं निरिन्धन इवाऽनलः ॥१२॥
वायुना हृतगन्धा भूः सलिलत्वाय कल्पते ।
सलिलं तद्धृतरसं ज्योतिष्ट्वायोपकल्पते ॥१३॥

फिर शेषजीके मुखसे निकली हुई अग्नि, वायुकी सहायतासे, पातालसे लेकर सब दिशाओंको भस्म करनेके लिये बढ़ती जाती है ॥१०॥

भस्म होनेके अनन्तर प्रलयकारी मेघ हाथीके सूँड़के समान मोटी धाराओंसे सौ वर्षतक वर्षा करते हैं—तब ब्रह्माण्ड जलमें डूब जाता है ॥११॥

हे राजन् ! फिर जैसे अग्नि काष्ठको जलानेके अनन्तर अपने कारणमें लीन हो जाती है वैसे ही ब्रह्माण्डरूप उपाधिका लय हो जानेके अनन्तर विराट् पुरुष सूक्ष्म अव्यक्तमें लीन होता है, अव्यक्तसे प्रकृति या ब्रह्माण्डका ग्रहण है । भाव यह है ब्रह्माके दैनिक प्रलयको प्रकृतिलय अवस्था कहते हैं और आत्यन्तिक प्रलयको मोक्ष कहते हैं ॥१२॥

[विराट्का लय कहकर यह कहते हैं कि उसके शरीरके अवयव पृथिवी आदिका लय अपने-अपने कारणमें होता है—] प्रलयकालका वायु जब गन्धवती पृथिवीका गन्ध गुण हर लेता है तब उसका जलमें लय हो जाता है । जलका रस गुण भी जब वायु हर लेता है तब उसका तेजमें लय होता है ॥१३॥

हृतरूपं तु तमसा वायौ ज्योतिः प्रलीयते ।
हृतस्पर्शोऽवकाशेन वायुर्नभसि लीयते ॥१४॥
कालात्मना हृतगुणं नभ आत्मनि लीयते ।
इन्द्रियाणि मनो बुद्धिः सह वैकारिकैर्नृप ॥
प्रविशन्ति ह्यहंकारं स्वगुणैरहमात्मनि ॥१५॥

प्रलय-कालका अन्धकार जब तेजका रूप गुण हर लेता है तब वह वायुमें लीन हो जाता है, अवकाशरूप आकाश जब वायुके स्पर्शरूप गुणको हर लेता है तब उसका आकाश में लय हो जाता है ॥१४॥

कालस्वरूप परमात्मा जब आकाशके शब्दको हर लेता है तब वह तामस अहंकारमें, इन्द्रियाँ और बुद्धि राजस अहङ्कारमें, मन और इन्द्रियोंके देवता सात्त्विक अहङ्कारमें और तीनों प्रकारका अहङ्कार अपने गुणों सहित महदात्मामें और वह प्रकृतिमें लीन हो जाता है, यह सब भगवान्‌की माया है ॥१५॥
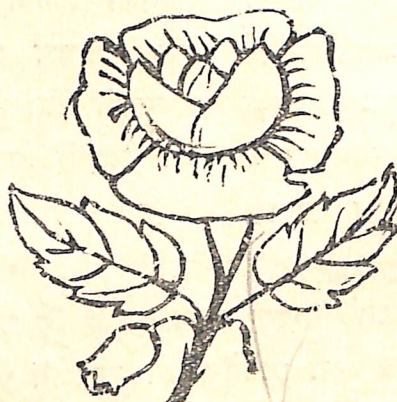
चौथा प्रकरण

(४) मायाके तरनेका उपाय

प्रबुद्ध उवाच❀

कर्माण्यारभमाणानां दुःखहत्यै सुखाय च ।
पश्येत्पाकविपर्यासं मिथुनीचारिणां नृणाम् ॥१८॥
नित्यार्त्तिदेन वित्तेन दुर्लभेनाऽऽत्ममृत्युना ।
गृहापत्याप्तपशुभिः का प्रीतिः साधितैश्चलैः ॥१९॥
एवं लोकं परं विद्यान्नश्वरं कर्मनिर्मितम् ।
सतुल्यातिशयध्वंसं यथा मण्डलवर्तिनाम् ॥२०॥

प्रबुद्धजी बोले—

[भक्तिके सिवा माया तरनेका दूसरा उपाय नहीं है, यह समझकर प्रबुद्ध योगेश्वर साधनसहित भक्तिका ही निरूपण करते हैं । पहले वैराग्य द्वारा गुरु-सेवाकी रीति चार श्लोकोंसे कहते हैं—] दुःखकी निवृत्ति और सुखकी प्राप्तिके लिये कर्म करनेवाले पति-पत्नी-सम्बन्धसे बँधे हुए लोगोंको उलटा फल (दुःख) होता है, ऐसा देखो ॥१८॥

[अब कहते हैं कि कर्मोंसे उपार्जित वित्तादि भी सुखके कारण नहीं हैं, ऐसा देखो—] दुःखसे प्राप्त किया हुआ, नित्य दुःख देनेवाला (अर्थात् धन उपार्जन, रक्षण और नाशके समय दुःख देता है) और (चोर आदिसे) अपनी मृत्यु का कारण धन, घर, सन्तान और पशु रूप चञ्चल (आने-जानेवाले) पदार्थोंके जुटानेसे कौन-सा आनन्द मिलता है ? ॥१९॥

जैसे छोटे-छोटे राजाओंके अपने कर्मोंसे प्राप्त ऐश्वर्य आदि नश्वर और तुल्य या अधिक होनेके कारण आपसमें द्वेष फैलानेवाले होते हैं वैसे ही इस लोकके समान परलोकका सुख भी नाशवान् एवं स्पर्धा-

❀ भा० ११-३-१८ इत्यादि ।

तस्माद्गुरुं प्रपद्येत जिज्ञासुः श्रेय उत्तमम् ।
शाब्दे परे च निष्णातं ब्रह्मण्युपशमाश्रयम् ॥२१॥
तत्र भागवतान्धर्माञ्छिक्षेद्गुर्वात्मदैवतः ।
अमाययाऽनुवृत्त्या यैस्तुष्येदात्माऽऽत्मदो हरिः ॥२२॥

युक्त है, क्योंकि वह भी कर्मोंसे प्राप्त किया हुआ है । (श्रुति है—'तद्यथेह कर्मजितो लोकः क्षीयते एवमेवामुत्र पुण्यजितो लोकः क्षीयते) इसलिये वह भी दुःखदायी ही है ॥२०॥

इस कारण अपने उत्तम कल्याणके जाननेकी इच्छा करनेवाला पुरुष, वेद और उसके तात्पर्यको बतानेमें प्रवीण, ब्रह्मनिष्ठ, परमशान्ति-स्थान गुरुकी शरणमें जावे ॥२१॥

गुरुको आत्मा और इष्टदेव माननेवाला पुरुष उनके समीप रह-कर, निष्कपटभावसे सेवा करके उनसे भागवत धर्म* सीखे, जिनसे आत्मस्वरूप हरि प्रसन्न होते हैं ॥२२॥

* भागवत धर्मोंको इसी अध्यायके पहले प्रकरणमें देखिये ।

पाचवाँ प्रकरण

(५) ब्रह्मके स्वरूपका वर्णन

पिप्पलायन उवाच❀

स्थित्युद्भवप्रलयहेतुरहेतुरस्य
यत्स्वप्नजागरसुषुप्तिषु सद्बहिश्च ।
देहेन्द्रियासुहृदयानि चरन्ति येन
संजीवितानि तदवेहि परं नरेन्द्र ॥३५॥

नैतन्मनो विशति वागुत चक्षुरात्मा
प्राणेन्द्रियाणि च यथाऽनलमर्चिषः स्वाः ।
शब्दोऽपि बोधकनिषेधतयाऽऽत्ममूल-
मर्थोक्तमाह यदृते न निषेधसिद्धिः ॥३६॥

पिप्पलायनजी बोले—

[क्या नारायण, परमात्मा इत्यादि विशेष शब्दोंसे कहे जानेवाला ब्रह्म एक ही वस्तु है या उनके अर्थमें कुछ विशेषता है ? समाधान—] हे नरेन्द्र, जो इस जगत्‌के जन्म, स्थिति और लयका कारण है और स्वयं कारण-रहित है [उसको नारायण समझो], जो स्वप्न, जाग्रत् और सुषुप्ति अवस्थाओंमें तथा इनसे निराली समाधिमें अनुस्यूत रहता है [उसको ब्रह्म समझो] और जिससे देह, इन्द्रियाँ आदि जीवित रहती हैं और अपने व्यापारमें भली भाँति प्रवृत्त होती हैं, उसको परमात्मा समझो। [भाव यह है कि लक्षणोंके भेदसे भिन्न-भिन्न नामोंसे उच्चारण किया जाता हुआ परतत्त्व एक ही है] ॥ ३५॥

[शङ्का—पूर्व श्लोकमें जो 'अवेहि' (समझो) शब्द है, उससे ब्रह्म इन्द्रियोंका विषय हो जायगा ? समाधान—] जैसे अग्निको, उसकी चिनगारियाँ प्रकाशित नहीं कर सकती हैं वैसे ही इस परम

❀ भा० ११-३-३५ इत्यादि ।

सत्त्वं रजस्तम इति त्रिवृदेकमादौ
सूत्रं महानहमिति प्रवदन्ति जीवम् ।
ज्ञानक्रियार्थफलरूपतयोरुशक्ति
ब्रह्मैव भाति सदसच्च तयोः परं यत् ॥३७॥
नाऽऽत्मा जजान न मरिष्यति नैधतेऽसौ
न क्षीयते सवनविद्व्यभिचारिणां हि ।

तत्त्वको मन विषय नहीं कर सकता है। इसी प्रकार वाणी, चक्षु, बुद्धि, प्राण या अन्य इन्द्रियाँ भी उसको प्रकाशित करनेमें समर्थ नहीं होती हैं। ब्रह्ममें प्रमाण वेद भी ब्रह्मबोधनमें अपनी सामर्थ्यका निषेध करता हुआ अर्थतः उसका बोध कराता है न कि साक्षात्। यदि कहो कि तब तो वेद उसका बोधक ही नहीं है, फिर अर्थतः बोधक है, ऐसा क्यों कहा ? इसपर कहते हैं कि अवधिभूत ब्रह्मके बिना 'नेति' आदि निषेधकी सिद्धि नहीं हो सकती, क्योंकि सब निषेध सावधिक होते हैं। [अर्थात् सब वस्तुओंका निषेध करनेपर जो शेष रहता है, वही ब्रह्म है।] ॥३६॥

[शङ्का—यदि ब्रह्म प्रमाणका विषय है ही नहीं तो वह है ही नहीं ? समाधान—] जो कुछ सत् (स्थूल अथवा कार्य) असत् (सूक्ष्म अथवा कारण) है, वह सब ब्रह्म है, क्योंकि वह उनका भी परम कारण है। [प्रश्न—एक ही तत्त्व कैसे नाना वस्तुओंका कारण होता है ? समाधान—] जो पहले एक अद्वितीय ब्रह्म है, उसीको सत्त्व, रज और तम गुणोंसे युक्त तीन गुणवाला प्रधान कहते हैं, उसीको क्रियाशक्तिसे सूत्र, ज्ञानशक्तिसे महत्तत्त्व कहते हैं। फिर जीवोपाधिक अहङ्कार भी उसीको कहते हैं। तदनन्तर इन्द्रियोंके देवता, मन, इन्द्रियाँ, पृथ्वी आदि पञ्चमहाभूत और सुख-दुःखरूप फल ये सब एक ब्रह्मसे ही प्रकाशित होते हैं [भाव यह है कि ब्रह्म स्वयं-सिद्ध है, उसकी सिद्धिके लिये प्रमाणकी आवश्यकता नहीं है।] ॥३७॥

सर्वत्र शश्वदनपाय्युपलब्धिमात्रं
प्राणो यथेन्द्रियबलेन विकल्पितं सत् ॥३८॥
अण्डेषु पेशिषु तरुष्वनिश्चितेषु
प्राणो हि जीवमुपधावति तत्र तत्र ।
सन्ने यदिन्द्रियगणेऽहमि च प्रसूते
कूटस्थ आशयमृते तदनुस्मृतिर्नः ॥३९॥

[शङ्का—यदि ब्रह्म सर्वात्मक है, तो सब कार्योंमें जन्म आदि विकारोंसे युक्त होनेके कारण ब्रह्म भी विकारवान् हो जायगा ? समाधान—] आत्मामें उत्पन्न होना, मरना, बढ़ना और क्षीण होना—ये धर्म नहीं बनते, क्योंकि उसमें देहके समान बाल्य, यौवन आदि अवस्थाओंका व्यभिचार नहीं है, किन्तु वह उन व्यभिचारोंका साक्षी है [भाव यह है कि जो अवस्थाका साक्षी है उसकी वह अवस्था नहीं होती है], आत्मा उपलब्धिस्वरूप है अर्थात् ज्ञानस्वरूप है और सब देशोंमें सदा वर्तमान रहता है । [शङ्का—'नीला' ज्ञान हुआ और 'पीला' ज्ञान नष्ट हुआ, इस प्रतीतिसे ज्ञान नाशको प्राप्त होता है ? समाधान—] ब्रह्म [ज्ञान] ही इन्द्रियोंके प्रभावसे नीलादिके आकारसे नाना प्रकारका कल्पित होता है अर्थात् नीलादि आकारकी वृत्तियाँ उत्पन्न और नष्ट होती हैं, न कि ज्ञान; जैसे कि मनुष्य आदि शरीर बदल जाते हैं, किन्तु प्राण नहीं बदलता ॥ ३८॥

[इसी दृष्टान्तका विवरण करते हुए यह दिखलाते हैं कि इन्द्रिय आदिके लयसे निर्विकार आत्माकी उपलब्धि होती है—] जैसे प्राण अण्डज, जरायुज, उद्भिज्ज और स्वेदज शरीरोंमें जीवके साथ-साथ जाकर निर्विकार ही रहता है, वैसे ही बाल्य, तारुण्य आदि अवस्थाओंके बदलनेपर आत्मा एक ही रहता है। [प्रश्न—फिर क्यों वह आत्मा विकारवाला प्रतीत होता है ? उत्तर—जब जाग्रत् अवस्थामें इन्द्रियाँ

यर्ह्यब्जनाभचरणैषणयोरुभक्त्या
चेतोमलानि विधमेद्गुणकर्मजानि ।
तस्मिन्विशुद्ध उपलभ्यत आत्मतत्त्वं
साक्षाद्यथाऽमलदृशोः सवितृप्रकाशः ॥४०॥

अपना-अपना कार्य करती हैं और स्वप्नमें जाग्रत् वासनासे वासित अहङ्कार काम करता है तब निर्विकार आत्मा सविकार-सा प्रतीत होता है । जब सुषुप्तिमें इन्द्रियाँ और अहङ्कार लीन हो जाते हैं और लिङ्ग शरीर भी नहीं रहता तब आत्माका (कूटस्थका) अनुभव होता है । इसका कारण यह है कि सुषुप्तिसे जागनेपर पुरुषको सुखके अनुभवका स्मरण होता है, क्योंकि वह कहता है—'मैं आनन्द-से सोया, मुझे कुछ खबर नहीं रही' यही आनन्दस्वरूप आत्मा है, किन्तु अज्ञानके कारण स्पष्ट समझमें नहीं आता (श्रुति है—नहि द्रष्टु-र्दृष्टेर्विपरिलोपो विद्यते) ॥३९॥

[शङ्का—यदि सुषुप्तिमें कूटस्थका अनुभव हो गया, फिर जीव क्यों संसारी होता है ? यदि इसका उत्तर यह दिया जाय कि सुषुप्तिमें जीवको अज्ञान बना रहता है, क्योंकि उसको अनुभवका स्पष्ट ज्ञान नहीं होता; इसपर प्रश्न उठता है कि अविद्याको दूर करनेवाला अनुभव कब होगा ? समाधान—] जब मनुष्य वित्तादिकी इच्छाका त्याग कर केवल भगवान्‌के चरण-सेवनकी इच्छासे उत्पन्न हुई तीव्र भक्तिसे चित्तके मलोंका अर्थात् सत्त्वादि गुणोंके कारण होनेवाले (विधि-निषेधात्मक) कर्मोंका त्याग करता है, तब उस शुद्ध चित्तमें साक्षात् आत्मतत्त्वका अनुभव इस प्रकार होता है जैसे दृष्टिदोषके दूर होनेपर मनुष्यको पहलेसे वर्तमान (पूर्वसिद्ध) सूर्यके प्रकाशका अनु-भव होता है ॥४०॥

छठा प्रकरण

(६) कर्मयोगका वर्णन

आविर्होत्र उवाच❀

कर्माकर्मविकर्मेति वेदवादो न लौकिकः।
वेदस्य चेश्वरात्मत्वात्तत्र मुह्यन्ति सूरयः ॥४३॥
परोक्षवादो वेदोऽयं बालानामनुशासनम्।
कर्ममोक्षाय कर्माणि विधत्ते ह्यगदं यथा ॥४४॥

आविर्होत्रजी बोले—

[अब यह कहते हैं कि कर्मयोगका विषय अति गहन है—] कर्म (विहित), अकर्म (विहित कर्म न करना) और विकर्म (निषिद्ध कर्म करना) का विभाग वैदिक है न कि लौकिक। वेदोंका प्रादुर्भाव ईश्वरसे है अर्थात् वे अपौरुषेय हैं। उनमें विद्वानोंको भी मोह हो जाता है। [भाव यह है कि पुरुषवाक्योंमें तो वक्ताका अभिप्राय समझ में आ जाता है, किन्तु अपौरुषेय वाक्योंमें पूर्वापरका अनुसन्धान करनेपर तात्पर्यका निर्णय करना पड़ता है और यह काम दुष्कर है। इस विषयमें विद्वान् भी चकरा जाते हैं औरोंकी तो बात ही क्या है ?] ॥४३॥

यह वेद परोक्षवाद है। अन्य प्रकारसे स्थित अर्थको छिपानेके लिये अन्य प्रकारसे कहना परोक्षवाद है। मोक्षके प्रतिबन्धकरूप पुण्य-पाप कर्मोंकी निवृत्तिके लिये वेदमें अज्ञानियोंके शिक्षार्थ कर्मोंका विधान है। जैसे पिता बालकोंको औषधि पिलानेके लिये 'यदि इस दवाको पियो, तो मैं तुम्हें लड्डू दूँगा' यों फुसलाकर दवा पिलाता है और लड्डू भी देता है। यदि लड्डू न दे, तो बालक फिर दवा न पीवे। लेकिन औषधि पीनेका फल लड्डू मिलना नहीं है, किन्तु रोगकी

❀ भा० ११-३-४३ इत्यादि।

नाऽऽचरेद्यस्तु वेदोक्तं स्वयमज्ञोऽजितेन्द्रियः ।
विकर्मणा ह्यधर्मेण मृत्योर्मृत्युमुपैति सः ॥४५॥
वेदोक्तमेव कुर्वाणो निःसङ्गोऽर्पितमीश्वरे ।
नैष्कर्म्यां लभते सिद्धिं रोचनार्था फलश्रुतिः ॥४६॥
य आशु हृदयग्रन्थिं निर्जिहीर्षुः परात्मनः ।
विधिनोपचरेद्देवं तन्त्रोक्तेन च केशवम् ॥४७॥

निवृत्ति ही है । वैसे ही वेद भी स्वर्ग आदि गौण फलोंका प्रलोभन देकर कर्म कराता है और उनको तत्-तत् गौण फल भी देता है । लेकिन कर्मोंका स्वर्गादि ही फल नहीं है, बल्कि संसारदुःखनिवृत्ति-पूर्वक परमानन्दरूप भगवत्प्राप्ति ही उनका मुख्य फल है ॥४४॥

[यदि पुण्य-पापरूप कर्मोंकी निवृत्ति ही परम पुरुषार्थ है, तो वे पहले ही क्यों न छोड़ दिये जायँ ? समाधान—] अजितेन्द्रिय और अज्ञ पुरुष यदि स्वयं वेदोक्त कर्मोंको न करे, तो वह वेदोक्त कर्मोंके अनाचरणरूप अधर्मसे बारम्बार उत्पन्न होता है और मरता है ॥४५॥

इस कारण जो मनुष्य वेदोक्त कर्मोंको फल-कामना-रहित होकर ईश्वरमें अर्पण करता है, वह [अन्तःकरणशुद्धि द्वारा] नैष्कर्म्यसिद्धिको (तत्त्वज्ञानको) प्राप्त करता है । श्रुतिमें जो फल कहा गया है, वह केवल कर्मोंमें रुचि उत्पन्न करानेके लिये है ॥४६॥

जो पुरुष परब्रह्मरूप अपने जीवात्माकी हृदय-ग्रन्थिको शीघ्र दूर करना चाहता है, वह तान्त्रिक और वैदिक कर्मयोग करे । [वैदिक कर्मयोग ऊपर कहा गया है और तान्त्रिक भक्तियोगको अध्याय ६ प्रकरण ३ में देखिये] ॥४७॥

सातवाँ प्रकरण

(७) *अभक्तोंकी गति*

अभक्तोंके लक्षण श्रीमद्भगवद्गीताके सोलहवें अध्यायके अन्तर्गत आसुरी सम्पत्ति प्रकरणमें देखने चाहियें। आत्मतत्त्वरूपसे सब प्राणियोंमें वर्तमान सब पुरुषार्थरूप वेदप्रतिपादित ईश्वरको बतलानेपर भी, अभक्त पुरुष उसका श्रवण नहीं करते हैं, किन्तु स्त्री-सङ्ग, मांस-भक्षण, मद्यपान आदि विषयोंकी वार्त्ता करते हैं। निवृत्तिपरक वेदको प्रवृत्तिपरक कहते हैं। इनके मतका निराकरण करनेके लिये चमस बोले—

चमस उवाच❀

लोके व्यवायामिषमद्यसेवा
नित्यास्तु जन्तोर्नहि तत्र चोदना।
व्यवस्थितिस्तेषु विवाहयज्ञ-
सुराग्रहैरासु निवृत्तिरिष्टा ॥११॥

चमस बोले—

इस लोकमें स्त्री-संग, मद्यपान, मांसभक्षण प्राणी-मात्रको स्वभावसे नित्य प्राप्त हैं; उनके विषयमें वेद विधान नहीं करता, किन्तु इनमें आसक्त पुरुषोंके लिये विवाह, यज्ञ, सुराग्रहकी व्यवस्था करता है। [अर्थात् स्त्री-सङ्ग करना हो, तो विधिपूर्वक विवाहित स्त्रीसे ही करे। मांस खानेवाले यदि मांसभक्षण करना चाहें, तो यज्ञमें संस्कृत मांसका ही भक्षण करें तथा सुरापानके इच्छुक सौत्रामणि इष्टिमें ही सुरा सेवन करें। इस प्रकार संकोच करनेसे मनुष्य निवृत्तिपरक हो जाता है, अतः वेद निवृत्तिपरक है।] ॥११॥

❀ भा० ११-५-११ इत्यादि।

धनं च धर्मैकफलं यतो वै
ज्ञानं सविज्ञानमनुप्रशान्ति ।
गृहेषु युञ्जन्ति कलेवरस्य
मृत्युं न पश्यन्ति दुरन्तवीर्यम् ॥१२॥
यद्घ्राणभक्षो विहितः सुराया-
स्तथा पशोरालभनं न हिंसा ।
एवं व्यवायः प्रजया न रत्या
इमं विशुद्धं न विदुः स्वधर्मम् ॥१३॥

[सङ्का—यदि विषयोंसे निवृत्ति इष्ट है, तो धनके उपार्जनका क्या प्रयोजन ? समाधान—] धनका मुख्य प्रयोजन धर्माचरण है, क्योंकि धर्मसे परोक्ष ज्ञानसहित दृढ़ अपरोक्ष ज्ञान होता है । जिसके अनन्तर शान्ति प्राप्त होती है, ऐसे धर्मादिरूप फल देनेवाले धन-को अज्ञानी पुरुष बलवान् मृत्युको न देखते हुए अपने घर और देह-के निमित्त व्यय करते हैं ॥१२॥

[अब यह कहते हैं कि मांस-भक्षण आदिकी व्यवस्था वेदमें यथेष्टा-चारके लिये नहीं है, किन्तु अन्य प्रयोजनके लिये है—] जिस कारण वेदमें सुराके केवल सूँघनेकी ही विधि है पीनेकी नहीं और यज्ञमें पशुका आलभन—देवताके उद्देश्यसे पशुका बलिदान-विहित है हिंसा-विहित नहीं है; [यज्ञमें पशुका बलिदान हिंसा नहीं है; किन्तु यथेष्ट भक्षणके लिये ही हिंसा हिंसा है]; इसी प्रकार स्त्री-सङ्गका भी पुत्रो-त्पत्तिके लिये विधान है न कि रतिसुखके लिये । इस शुद्ध धर्मको अभक्त नहीं जानते हैं ॥१३॥*

* नौ योगीश्वरोंमें द्रुमिल और करभाजनने अवतारलीला और युगक्रमका वर्णन किया । अवतारलीलाका वर्णन भागवतस्तुति-संग्रहमें किया गया है और युगक्रम अना-वश्यक होनेसे नहीं लिखा गया ।

चौथा अध्याय

विस्तारसे आत्मविद्याका निरूपण

जब भगवान् श्रीकृष्णके अवतारका प्रयोजन समाप्त हुआ तब उन्हें अपने स्थानको लौटानेके लिये शिव, ब्रह्मा, इन्द्रादि देवता द्वारकाको गये और उन्होंने अध्यात्मविद्याका निरूपण करते हुए यह स्तुति की ।

देवा ऊचुः*

नताः स्म ते नाथ पदारविन्दं
बुद्धीन्द्रियप्राणमनोवचोभिः ।
यच्चिन्त्यतेऽन्तर्हृदि भावयुक्तै-
र्मुमुक्षुभिः कर्ममयोरुपाशात् ॥ ७ ॥
त्वं मायया त्रिगुणयाऽऽत्मनि दुर्विभाव्यं
व्यक्तं सृजस्यवसि लुम्पसि तद्गुणस्थः ।

देवता बोले——

हे नाथ ! कर्मरूपी दृढ़ पाशसे छूट जानेकी इच्छा करनेवाले और भक्तियोगमें निष्ठा रखनेवाले मुमुक्षु जिनका अपने अन्तःकरणमें ध्यान-मात्र कर सकते हैं (देखते नहीं), उन आपके चरणकमलोंमें हम बुद्धि, इन्द्रिय, प्राण, मन और वाणीसे प्रणाम करते हैं ।।७।।

[प्रश्न—अवतार लेनेके कारण भगवान्‌के भी तो जन्म, मरण आदि होते हैं ऐसी परिस्थितिमें उनके चरण-कमलोंकी वन्दना करनेसे किस

* भा० ११-६-७ इत्यादि ।

नैतैर्भवानजित कर्मभिरज्यते वै
यत्स्वे सुखेऽव्यवहितेऽभिरतोऽनवद्यः ॥ ८ ॥
शुद्धिर्नृणां न तु तथेड्य दुराशयानां
विद्याश्रुताध्ययनदानतपःक्रियाभिः ।
सत्त्वात्मनामृषभ ते यशसि प्रवृद्ध-
सच्छ्रद्धया श्रवणसंभृतया यथा स्यात् ॥ ९ ॥
स्यान्नस्तवाङ्घ्रिरशुभाशयधूमकेतुः
क्षेमाय यो मुनिभिरार्द्रहृदोह्यमानः ।

प्रकार कर्मबन्धनसे मुक्ति मिलेगी ? समाधान—] इस अवतारमें किये गये ये छोटे-छोटे कर्म एक ओर रहें; परन्तु हे अजित ! आप तो मायाके रज आदि गुणोंमें नियन्ता होकर रहते हुए त्रिगुणात्मक मायासे अचिन्त्य महत्तत्त्व आदि सम्पूर्ण सृष्टिकी अपनेमें उत्पत्ति, पालन और लय करते हैं और उन कर्मोंसे लिप्त नहीं होते; क्योंकि आप रागादि दोषोंसे रहित हैं और आवरण-रहित आत्म-सुखमें रहते हैं। [भाव यह है कि इसी कारण मुमुक्षु यह समझते हैं कि आप कर्म करते हुए भी आत्मामें रमण करनेवाले परमेश्वर हैं ।] ॥८॥

[अब यह कहते हैं कि आत्माराम परमेश्वर क्यों कर्म करता है] हे ईड्य ! हे ऋषभ ! रागी मनुष्योंकी उपासना, शास्त्र-श्रवण, वेदाध्ययन, दान और तप आदि कर्मोंसे वैसी अन्तःकरणकी शुद्धि नहीं होती है जैसी कि सत्त्वगुणी पुरुषोंकी आपका यश सुननेसे परिपुष्ट और बढ़ी हुई श्रद्धासे होती है। [भाव यह है कि आप आत्मारामका कर्माचरण अपने परम पावन यशको फैलानेके निमित्त है ।] ॥९॥

आपका यश-श्रवण ही शुद्धिका हेतु है, किन्तु हमको आपके चरणकमलोंका दर्शन भी प्राप्त हुआ है इस कारण जिस चरणका मुमुक्षु प्रेमपूर्ण मनसे मोक्षके लिये चिन्तन करते हैं, वह आपका चरण हमारी

य: सात्वतै: समविभूतय आत्मवद्भि-
व्यूहेऽर्चित: सवनश: स्वरतिक्रमाय ॥१०॥
यश्चिन्त्यते प्रयतपाणिभिरध्वराग्नौ
त्रय्या निरुक्तविधिनेश हविर्गृहीत्वा ।
अध्यात्मयोग उत योगिभिरात्ममायां
जिज्ञासुभि: परमभागवतै: परीष्ट: ॥११॥
पर्युष्टया तव विभो वनमालयेयं
संस्पर्धिनी भगवती प्रतिपत्निवच्छ्री: ।
य: सुप्रणीतममुयाऽर्हणमाददन्नो
भूयात्सदाङ्घ्रिरशुभाशयधूमकेतु: ॥१२॥

विषयवासनाओंको भस्म करनेवाली अग्निके समान हो; जिसका भक्तोंने आपके समान ऐश्वर्य प्राप्त करनेके लिये वासुदेवादि व्यूहके रूपमें पूजन किया है और उनमें से किन्हीं आत्मज्ञानी पुरुषोंने स्वर्गका उल्लंघन करके वैकुण्ठकी प्राप्तिके लिये तीनों काल पूजन किया है ॥१०॥

हे ईश्वर ! हाथ जोड़कर स्थित याज्ञिक पुरुष जिस चरणका होमकी सामग्री लेकर वेदोक्त विधि द्वारा इन्द्रादिरूपसे भावना करके यज्ञकी अग्निमें हवन करते हैं; जिसका आत्मप्राप्ति अथवा अणिमादि सिद्धियोंको जाननेके लिये परम भगवद्भक्त और योगी पुरुष सब प्रकारसे पूजन करते हैं, वह आपका चरण-कमल हमारी विषयवासनाओंको भस्म करनेवाली अग्नि हो ॥११॥

[फिर भी स्तुति करते हुए कहते हैं कि अपने सेवकोंके ऊपर आपकी लक्ष्मीजीसे भी अधिक प्रीति है—] हे विभो ! यद्यपि लक्ष्मीजी यह जानकर कि जहाँ मैं रहती हूँ वहाँ यह वासी बनमाला भी रहती है, इस प्रकार सौतके समान उस बनमालासे ईर्ष्या करती हैं; तथापि आप 'यह बनमाला भक्तोंकी अर्पण की हुई है' ऐसी प्रीतिसे उसे

केतुस्त्रिविक्रमयुतस्त्रिपतत्पताको
यस्ते भयाभयकरोऽसुरदेवचम्वोः ।
स्वर्गाय साधुषु खलेष्वितराय भूम-
न्पादः पुनातु भगवन्भजतामघं नः ॥१३॥
नस्योतगाव इव यस्य वशे भवन्ति
ब्रह्मादयस्तनुभृतो मिथुरर्द्यमानाः ।
कालस्य ते प्रकृतिपूरुषयोः परस्य
शं नस्तनोतु चरणः पुरुषोत्तमस्य ॥१४॥
अस्याऽसि हेतुरुदयस्थितिसंयमाना-
मव्यक्तजीवमहतामधि कालमाहुः ।

स्वीकार करते हो । ऐसे आपका चरण हमारी अशुभ वासनाओंका नाश करनेवाली अग्नि हो ॥१२॥

[इसीमें राजा बलिका उदाहरण देते हैं—] हे भूमन् ! हे भगवन् ! जब आपने तीनों लोकोंको तीन पगोंसे नापनेका पराक्रम दिखाया था, उस समय आपका चरण खड़ी ध्वजाके समान दीखने लगा (अथवा तीनों लोकोंमें तीन धाराओंसे गिरती हुई गङ्गारूपी पताकाके समान दीखने लगा) इसी प्रकार देव और दैत्योंकी सेनाको क्रमसे अभय और भय देनेवाला और साधुओंको स्वर्ग तथा दुष्टोंको नरक देनेवाला वह आपका चरण हम भक्तोंके पापोंको दूर करे ॥१३॥

[पूर्वपक्षः—युद्धमें हार-जीत युद्ध करनेवालोंके पराक्रमके अधीन है न कि भगवान्‌के अनुग्रहके अधीन इसपर कहते हैं—] जैसे नाकमें डोरी-से नथे हुए बैल स्वामीके वशमें रहते हैं, वैसे ही आपसमें एक दूसरेसे ईर्ष्या करनेके कारण पीड़ित ब्रह्मादि शरीरधारी जीव आपके वशमें हैं, ऐसे प्रकृति और पुरुषसे परे और कालके भी प्रवर्तक आप पुरुषोत्तम भगवान्‌का चरण हमारा कल्याण करे ॥१४॥

सोऽयं त्रिणाभिरखिलापचये प्रवृत्तः
कालो गभीररय उत्तमपूरुषस्त्वम् ॥१५॥
त्वत्तः पुमान्समधिगम्य यया स्ववीर्यं
धत्ते महान्तमिव गर्भममोघवीर्यः ।
सोऽयं तयाऽनुगत आत्मन आण्डकोशं
हैमं ससर्ज बहिरावरणैरुपेतम् ॥१६॥
तत्तस्थुषश्च जगतश्च भवानधीशो
यन्माययोत्थगुणविक्रिययोपनीतान् ।
अर्थाञ्जुषन्नपि हृषीकपते न लिप्तो
येऽन्ये स्वतः परिहृतादपि बिभ्यति स्म ॥१७॥

[पुरुषोत्तमत्वका प्रतिपादन करते हैं—] आप इस जगत्की उत्पत्ति, स्थिति और लयके कारण हैं, क्योंकि आप प्रकृति, पुरुष और महत्तत्त्वके काल (नियन्ता) हैं (ऐसा 'अक्षरात्परतः परः' इत्यादि श्रुतियाँ कहती हैं) । तीन चातुर्मास्यरूपी नाभियोंसे युक्त, अतिवेगवान् और सम्पूर्ण जगत्के नाशके लिये प्रवृत्त काल भी आप ही हैं—इस कारण आपको पुरुषोत्तम कहते हैं । [यस्मात् क्षरमतीतोऽहमक्षरादपि चोत्तमः । अतोऽस्मि लोके वेदे च प्रथितः पुरुषोत्तमः ।। (गी० १५-८)] ।।१५।।

[अब यह कहते हैं कि ईश्वर किस प्रकारसे जगत्की सृष्टि आदि करता है—] ईश्वर आप परम पुरुषसे शक्तिको प्राप्त करके सर्वथा समर्थ हो इस जगत्के बीज महत्तत्त्वको उत्पन्न करता है, फिर उस महत्तत्त्वने आपकी शक्ति (माया) से युक्त होकर सात आवरणोंसे घिरे इस ब्रह्माण्ड कोशको उत्पन्न किया ।।१६।।

हे इन्द्रियोंके प्रवर्तक ! मायासे क्षुभित इन्द्रियोंकी वृत्तियोंसे प्राप्त शब्दादि विषयोंका (मत्स्यादि अवतारोंके शरीरोंसे) सेवन करते हुए आप उनमें आसक्त नहीं होते हैं, आपसे अन्य जीव अविद्यमान विषयों-

स्मायावलोकलवदर्शितभावहारि-
भ्रूमण्डलप्रहितसौरतमन्त्रशौण्डैः ।
पत्न्यस्तु षोडशसहस्रमनङ्गबाणै-
र्यस्येन्द्रियं विमथितुं करणैर्न विभ्व्यः ॥१८॥
विभ्व्यस्तवाऽमृतकथोदवहास्त्रिलोक्याः
पादावनेजसरितः शमलानि हन्तुम् ।
आनुश्रवं श्रुतिभिरङ्घ्रिजमङ्गसङ्गै-
स्तीर्थद्वयं शुचिषदस्तु उपस्पृशन्ति ॥१९॥

की वासनासे बन्धनको प्राप्त होते हैं, इस कारण आप ही स्थावर और जङ्गम जगत्के ईश्वर (नियन्ता) हैं ॥१७॥

[श्रीकृष्ण-चरितसे भगवान्का अलिप्तपना दिखाते हैं—] सोलह हजार एक सौ आठ रमणियाँ मन्द-हास्यपूर्ण कटाक्ष द्वारा दर्शाये गये हाव-भावोंसे अत्यन्त मनोहर भौओं द्वारा किये गये सुरत-सम्बन्धी आलापोंसे प्रौढ़ कामदेवके बाणोंके समान सम्मोहन करनेवाली काम-कलाओंसे आपके चित्तको क्षुब्ध करनेके लिये समर्थ नहीं हुईं, ऐसे आप किसी अवस्थामें भी विषयोंसे लिप्त नहीं होते हैं ॥१८॥

आपकी अमृतके समान मधुर कथारूपी जलको बहानेवाली कीर्त्ति-रूपी नदियाँ एवं चरणोदकसे उत्पन्न हुई गङ्गा आदि त्रिलोकीके पापोंका नाश करनेमें समर्थ हैं। इसी कारण अपने धर्ममें स्थित पुरुष अपनी शुद्धिके लिये आपके वेदोक्त कीर्त्तिरूप तीर्थका कानों द्वारा एवं आपके चरणसे उत्पन्न हुए गङ्गादि तीर्थके जलका शरीरस्पर्श आदि द्वारा सेवन करते हैं ॥१९॥

पाँचवाँ अध्याय

श्रीकृष्ण-उद्धव-संवाद—ज्ञान-विज्ञानका सार

प्रथम प्रकरण

कर्मयोग

इस लोककी लीला समाप्त होनेपर भगवान् श्रीकृष्णके आज्ञाकारी भक्त उद्धवजीने एकान्तमें हाथ जोड़कर निवेदन किया—'हे केशव ! यद्यपि एकान्तनिष्ठ भक्त आपके किये हुए कर्म, आपके भाषण, आपकी गति और मन्द हास्य आदिका कीर्तन करते हुए और आपकी कथाका श्रवण करते हुए अति दुस्तर संसारको तर जायेंगे; किन्तु मैं आपके चरणकमलोंका वियोग आधे क्षणके लिए भी सहन नहीं कर सकता, इसलिये मुझे भी अपने धाम ले चलिये'।

श्रीभगवान्‌ने कहा कि यह सत्य है कि ब्रह्मा, शङ्कर और सब लोकपाल मेरे वैकुण्ठ जानेकी इच्छा कर रहे हैं। यादवकुल भी ब्राह्मणोंके शापसे नष्ट-प्राय है। आजसे सातवें दिन इस द्वारका नगरीको समुद्र डुबा देगा और इस लोकमें कलियुग भी अपना प्रभाव जमा लेगा। अतः हे उद्धव ! तुमको जो प्रष्टव्य है, उसे लोकोपकारके लिये अथवा अपनी शङ्काओंको दूर करनेके लिये पूछ लो।

उद्धवजीने कुन्तीपुत्र अर्जुनके समान पहले कर्मतत्त्व पूछा। तदनन्तर श्रीभगवान्‌ने अनेक प्रकारके ज्ञानयोगके साधन बतलाये। कर्मयोगको कहनेके निमित्त उद्धवजीके प्रश्नके अनुसार भगवान्‌ने कहा❀—

❀ भा० ११-७-६ इत्यादि।

[श्रीभगवानुवाच]

त्वं तु सर्वं परित्यज्य स्नेहं स्वजनबन्धुषु ।
मय्यावेश्य मनः सम्यक्समदृग्विचरस्व गाम् ॥ ६ ॥
यदिदं मनसा वाचा चक्षुर्भ्यां श्रवणादिभिः ।
नश्वरं गृह्यमाणं च विद्धि मायामनोमयम् ॥ ७ ॥
पुंसोऽयुक्तस्य नानार्थो भ्रमः स गुणदोषभाक् ।
कर्माकर्मविकर्मेति गुणदोषधियो भिदा ॥ ८ ॥
तस्माद्युक्तेन्द्रियग्रामो युक्तचित्त इदं जगत् ।
आत्मनीक्षस्व विततमात्मानं मय्यधीश्वरे ॥ ९ ॥

तुम स्वजन और बान्धवोंमें सम्पूर्ण स्नेहका त्याग करके मुझ परमेश्वरमें मन लगाकर सर्वत्र समदृष्टि रखकर पृथ्वीपर विचरण करो ॥ ६ ॥

[शङ्का—इस संसारमें सब लोग गुण और दोषोंसे भरे हुए हैं, अतः उनमें समदृष्टि किस प्रकार हो सकती है ? समाधान—] जो कुछ मन, वाणी, चक्षु और कर्ण आदिसे ग्रहण किया जाता है, वह सब मनसे कल्पित होनेके कारण मायिक और नाशवान् है, ऐसा जानो ॥ ७ ॥

विक्षिप्त चित्तवाले पुरुषको भेद-विषयक भ्रम ('मैं' और 'मेरा' अध्यास) होता है, उसीसे वह पुण्य, पाप, सुख,* दुःख† आदिका भोक्ता होता है । गुण-दोषोंकी बुद्धिवाले पुरुषके लिए वेदमें कर्म (विहित), अकर्म (कर्मलोप) और विकर्म (निषिद्ध) ऐसा भेद है; न कि समदृष्टिवालेके लिए ॥ ८ ॥

इस कारण इन्द्रियोंके समूह और चित्तको वशमें करके तुम इस जगत्का विस्तार अपनी आत्मामें देखो और आत्माको मुझ ईश्वरमें देखो—अर्थात् मुझमें अभेदरूपसे देखो ॥ ९ ॥

* सुख-दुःखका अनुसन्धान न रखना सुख है, भोग सुख नहीं है (भा० ११-१९-४१)।
† भोगकी इच्छा दुःख है, अग्निदाहादि दुःख नहीं हैं (भा० ११-१९-४१)।

ज्ञानविज्ञानसंयुक्त आत्मभूतः शरीरिणाम् ।
आत्मानुभवतुष्टात्मा नाऽन्तरायैर्विहन्यते ॥१०॥
दोषबुद्ध्योभयातीतो निषेधान्न निवर्तते ।
गुणबुद्ध्या च विहितं न करोति यथाऽर्भकः ॥११॥
सर्वभूतसुहृच्छान्तो ज्ञानविज्ञाननिश्चयः ।
पश्यन्मदात्मकं विश्वं न विपद्येत वै पुनः ॥१२॥

[शङ्का—यों एकाग्र-चित्तसे कर्म न करनेपर देवता आदि विघ्न करेंगे, समाधान—] ज्ञान (वेदके तात्पर्यका निश्चय) और विज्ञान (वेदके अर्थका अनुभव) इन दोनोंसे युक्त और तदनन्तर आत्माके अनुभवसे सन्तुष्टचित्त होता हुआ पुरुष देवादिका भी आत्मा हो जाता है, इसलिए उसका कोई विघ्न (तिरस्कार) नहीं कर सकता है। भाव यह है कि जबतक आत्मानुभव न हो तबतक वर्णाश्रमके अनुसार अवश्य कर्म करे। आत्मज्ञान होनेपर सबकी आत्मा होनेके कारण कोई भी उसका विघ्न नहीं कर सकता। जैसा कि श्रुति भी कहती है—'तस्य ह न देवाश्च नाभूत्या ईशते' इत्यादि ॥ १० ॥

[ज्ञान होनेपर भी यथेष्ट आचरण-प्रसंग नहीं होता है, ऐसा कहते हैं—] जैसे छोटा बालक संकल्प-विकल्पसे रहित होकर कोई कर्म करता है और कोई नहीं करता, वैसे ही गुणदोषरहित ज्ञानी प्राक्तन संस्कारसे निषिद्ध कर्मोंसे निवृत्त होता है, न कि दोषबुद्धिसे और प्रायः विहित कर्म करता है; न कि इस बुद्धिसे कि इन कर्मोंसे कोई लाभ होगा ॥११॥

इस प्रकार सब प्राणियोंका मित्र, ज्ञान-विज्ञानका निश्चय करनेवाला शान्त भक्त 'सकल जगत् मेरा (ईश्वरका) स्वरूप है' ऐसा देखनेसे फिर भवबन्धनको प्राप्त नहीं होता ॥ १२ ॥

दूसरा प्रकरण

असम्भावना, विपरीतभावनारूप दोषोंके परिहारका उपाय

पूर्वोक्त संन्यासरूप त्यागके लक्षणको उद्धवजी नहीं समझ सके। उन्होंने तत्त्वज्ञानकी इच्छासे फिर भगवान्‌से नम्रभावसे निवेदन किया—'हे योगेश्वर! हे योगस्वरूप! आपके कहे हुए अर्थको मेरी बुद्धि ग्रहण नहीं कर सकती है, क्योंकि मुझ जैसे विषयोंमें आसक्त पुरुषोंसे विषयोंका त्याग होना बड़ा कठिन है। मेरी तो आपकी माया-से रचे हुए पुत्र, कलत्र आदिमें 'मैं' और इस शरीरमें 'मेरा'—ऐसी बुद्धि हो रही है, इस कारण कृपा करके पीछे संक्षेपसे कहे गये ज्ञान-को विस्तारसे कहिये, जिससे कि मैं उसे सुखसे साध सकूँ। ऐसा अन्य कोई व्यक्ति नहीं है, जिससे मैं ज्ञान प्राप्त कर सकूँ, क्योंकि ब्रह्मादिसे लेकर मनुष्यपर्यन्त सभी देहधारी होनेसे आपकी मायासे मोहित होनेके कारण विषयोंमें सत्यत्व-बुद्धि रखते हैं।

इस कारण आध्यात्मिक आदि तापोंसे तपा हुआ और विषयोंसे घबड़ाया हुआ मैं निर्दोष, अविनाशी, सर्वज्ञ, रक्षा करनेमें समर्थ, काल आदिसे बाधा न पानेवाले वैकुण्ठमें रहनेवाले एवं नरके सखा नारायणरूप आपकी शरणमें आया हूँ।

इस प्रकार उपदिष्ट तत्त्वज्ञानको असम्भावना और विपरीतभावनासे नहीं समझ रहे उद्धवके प्रति भगवान् यह प्रतिपादन करते हैं कि अन्वय-व्यतिरेकन्यायसे अपने आप विचार करके ज्ञानकी प्राप्ति हो जाती है।

श्रीभगवानुवाच❀

प्रायेण मनुजा लोके लोकतत्त्वविचक्षणाः।
समुद्धरन्ति ह्यात्मानमात्मनैवाऽशुभाशयात्॥ १९॥

❀ भा० ११-७-१९ इत्यादि।

आत्मनो गुरुरात्मैव पुरुषस्य विशेषतः ।
यत्प्रत्यक्षानुमानाभ्यां श्रेयोऽसावनुविन्दते ॥२०॥
पुरुषत्वे च मां धीराः सांख्ययोगविशारदाः ।
आविस्तरां प्रपश्यन्ति सर्वशक्त्युपबृंहितम् ॥२१॥
एकद्वित्रिचतुष्पादो बहुपादस्तथाऽपदः ।
बह्व्यः सन्ति पुरः सृष्टास्तासां मे पौरुषी प्रिया ॥२२॥

श्रीभगवान्‌ने कहा—

इस लोकमें जो लोग परमाथ तत्त्वके परीक्षक हैं, वे प्रायः गुरुके उपदेशके बिना (स्वयं) विवेक-बुद्धिसे ही अपना विषयवासनासे उद्धार करते हैं ॥ १९ ॥

[पशु आदिके शरीरमें भी अपना हित और अहित चिन्तन करनेवाली आत्मा ही है] मनुष्यके शरीरमें तो विशेषरूपसे अपना हितचिन्तक (गुरु) आत्मा ही है, क्योंकि पुरुष अधिकारी होनेसे प्रत्यक्ष और अनुमानसे परमपुरुषार्थभूत आत्मतत्त्वका ज्ञान प्राप्त करता है ॥ २० ॥

[अब मनुष्य शरीरमें आत्माका प्रत्यक्ष होना 'पुरुषत्वे चाविस्तरामात्मा स हि प्रज्ञानेन सम्पन्नतमो विज्ञातं वदति विज्ञातं पश्यति' इस श्रुतिसे दिखलाते हैं—] सांख्ययोगमें प्रवीण विवेकी पुरुष सम्पूर्ण शक्तियोंसे सुसम्पन्न मेरे स्वरूपको पुरुषशरीरमें (मनुष्य-जन्ममें) विस्तारके साथ देखते हैं ॥२१॥

[इस कारण पुरुषशरीरकी स्तुति करते हैं—] मैंने एक, दो, तीन और चार पैरवाले, बहुत पैरवाले तथा बिना पैरवाले बहुत शरीरोंकी सृष्टि की हैं, उनमें से मुझे मनुष्यशरीर अतिप्रिय लगता है, क्योंकि वह पुरुषार्थका साधक है ॥ २२ ॥

अत्र मां मार्गयन्त्यद्धा युक्ता हेतुभिरीश्वरम् ।
गृह्यमाणैर्गुणैर्लिङ्गैरग्राह्यमनुमानतः ॥२३॥

प्रमाद रहित प्राणी इस पुरुषशरीरमें इन्द्रियों द्वारा गृहीत न होनेवाले अहङ्कार आदिसे भिन्न मुझ ईश्वरका साक्षात् करते हैं। साक्षात्कार करनेमें दो प्रकार कहते हैं—

गृहीत होनेवाले बुद्धि आदि हेतुओंसे अर्थात् जड़ वस्तुओंका प्रकाश अपने प्रकाशक चेतनके बिना नहीं हो सकता, यों अनुपपत्ति द्वारा भगवान्के लक्षक हेतुओंसे और बुद्धि आदि करण कर्तासे ही प्रयोज्य हैं, करण होनेसे, बसुली आदिके समान, यों व्याप्तिके द्वारा उन्हीं हेतुओंसे अनुमानतः बुद्धि आदिके प्रवर्तक ईश्वरका अनुसन्धान करते हैं ॥२३॥
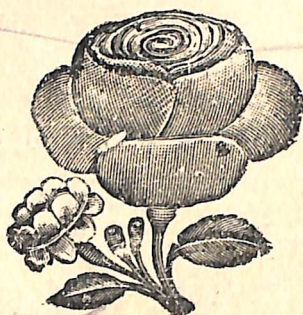
तीसरा प्रकरण

यदु-दत्तात्रेय-संवाद

आत्मज्ञानके उपाय

भगवान्‌ने जो कहा था कि गुरुके बिना भी असम्भावनादि दोषोंकी निवृत्ति हो जाती है, उसीको स्पष्ट करनेके लिए उद्धवजीको अवधूत दत्तात्रेयके चौबीस गुरुओंके दृष्टान्तोंसे उपदेश देते हैं। राजा यदुने एक समय निर्भय फिरनेवाले, विद्वान् अवधूत दत्तात्रेयजी-को देखा और उनसे पूछा—भगवन्, आपको अत्यन्त निपुण, लोक-विलक्षण बुद्धि कहाँसे मिल गयी, जिस बुद्धिको पाकर आप विद्वान् होकर भी बालकके समान विचरते हैं। यों पूछनेपर दत्तात्रेयजीने कहा—राजन्, मैंने बहुत-से गुरु बनाये हैं, जिनसे बुद्धि प्राप्त कर मैं तीनों तापोंसे मुक्त होकर घूमता हूँ। मैंने पृथिवी आदि चौबीसोंका गुरुरूपसे स्वीकार किया है, उनकी वृत्तिसे हेय और उपादेय व्यव-हारोंकी मैंने शिक्षा ली है। उनमें से जिससे जो शिक्षा लेनी चाहिए, उसे मैं आपसे कहता हूँ, सुनिये—

पृथ्वीसे क्षमा, परोपकार और पराधीन रहना सीखे [यहाँ परा-धीनतासे सर्वथा परमात्माके अधीन रहना विवक्षित है]।

प्राणवायुसे प्राणवायुके समान प्राणधारणमात्र जीविकासे निर्वाह करना सीखे। किसीमें आसक्त न होना और अलिप्त रहना बाहरी वायुसे सीखे।

आकाशसे यह सीखे कि आत्मा अपरिच्छिन्न और व्यापक है। अर्थात् जैसे धूलि, धूम आदिसे व्याप्त हुआ सर्वव्यापक आकाश उनसे लिप्त या परिच्छिन्न नहीं होता वैसे ही पञ्चमहाभूत अन्तर्यामी आत्मा-का स्पर्श नहीं कर सकते, यह आकाशसे सीखना चाहिये।

जलसे स्वच्छता, स्निग्धता, मधुरता (मधुर भाषण) और दूसरेको पवित्र करना सीखे।

अग्निसे तेजस्विता, मलरहित तथा पापरहित रहना और दूसरेसे दिये गये आहारसे तृप्त रहना सीखे। जैसे आकाररहित अग्नि काठके गुणोंसे लम्बी, टेढ़ी आदि प्रतीत होती है वैसे ही किसी विशेष आकारका न होकर भी परमात्मा अपनी मायासे देव, तिर्यगादि शरीरोंमें प्रविष्ट हुआ-सा प्रतीत होता है।

चन्द्रमासे आत्मा जन्म आदि छः विकारोंसे रहित है, यह सीखे, अर्थात् जैसे वास्तवमें चन्द्रमा घटता और बढ़ता नहीं है, किन्तु मनुष्यों-को उसका जितना अंश दिखलायी देता है वह उतना ही प्रतीत होता है वैसे ही जन्मादि छः विकार आत्माके नहीं हैं, किन्तु शरीरके हैं।

सूर्यसे निरभिमानपना और भेदभावरहित होना सीखे। जैसे सूर्य घट आदि बर्तनों और उपाधियोंके भेदसे नाना-प्रकारका दिखायी देता है वैसे ही अजन्मा आत्मा अद्वितीय होता हुआ भी देहादि उपाधिमें प्रविष्ट होकर अज्ञानसे नाना प्रतीत होता है।

कपोतसे यह सीखे कि किसीके लालन-पालनमें आसक्ति या किसीसे अधिक प्रीति नहीं करनी चाहिये। अन्यथा कपोतके* समान दुःखको प्राप्त होना पड़ता है।

अजगरसे यह सीखे कि प्रारब्ध कर्मका भोग अवश्य भोगना पड़ेगा, इस कारण उसके लिये उद्यम करना वृथा है।

मुनिको समुद्रके समान बाहरसे प्रसन्न और भीतरसे गम्भीर होना चाहिए। उसके अभिप्रायका पता किसीको न लगे। वह देश और

* किसी जङ्गलमें एक वृक्षपर घोंसला बनाकर एक कपोत और कपोती अपने छोटे बच्चोंके साथ सुखपूर्वक रहते थे। एक दिन उन दोनोंके चारा चुँगनेके लिये बाहर जानेपर किसी बहेलियेने उनके बच्चोंको पकड़ लिया। कबूतरोंने लौटकर यह करुण दृश्य देखा। बच्चोंकी लालन-पालनरूपी प्रीतिसे पहले कपोती तदनन्तर कपोत भी मोह-के वशमें होकर स्वयं भी उस जालमें फँस गये, जिसमें बच्चे फँसे थे और नाशको प्राप्त हुए। इसी प्रकार कुटुम्बपर प्रेम करनेवाला गृहस्थ चित्तकी अशान्तिसे सुख-दुःखमें फँसकर कुटुम्बका पोषण करता हुआ स्त्री-पुत्र सहित नाशको प्राप्त होता है।

कालके परिच्छेदसे रहित और अविकारी हो। मनोरथ प्राप्त होनेपर अथवा न प्राप्त होनेपर शोक न करे।

जब पतङ्ग, मधुमक्खी, हाथी, हरिण और मछली क्रमसे रूप, गन्ध, स्पर्श, शब्द (गान) आदि एक-एक विषयका सेवन करनेसे मारे जाते हैं; तब उनका कहना ही क्या है, जो पाँचों विषयोंका सेवन करते हैं? वे उनसे क्यों न मारे जायेंगे। इस कारण उक्त रूप, रस आदि विषयोंको शत्रु समझकर उनमें आसक्ति छोड़ देनी चाहिये।

जैसे मधुहरण करनेवाला पुरुष मक्खियों द्वारा इकट्ठा किये गये मधुको खा लेता है वैसे ही जिस धनका त्याग और भोग नहीं किया जाता, उसका भोग कोई दूसरा करता है।

आशा अति दुःख देनेवाली होती है। जिसके कारण जनकपुरमें रहनेवाली पिङ्गला नामकी वेश्या किसी जार पुरुषकी आशाके लिये प्रयत्न करती हुई उसको न प्राप्त कर विरागको प्राप्त हुई और अन्तमें परम पदको प्राप्त हुई। इस कारण निराशा परम सुखका साधन है।

मनुष्योंको जो-जो वस्तु अत्यन्त प्रिय होती है, उसका सञ्चय अति दुःखदायी होता है। जो पुरुष सञ्चयकी दुःखहेतुताको जानकर सञ्चय नहीं करता, वह परम सुखी रहता है। एक समय कुरर नामका पक्षी अपनी चोंचमें मांसका टुकड़ा लिये जा रहा था और उसपर मांसहीन और उससे बलवान् बाज और गृध्र झपट पड़े। तब उस कुररने मांसका टुकड़ा त्याग दिया और बड़ा सुखी हुआ। ऐसे ही परिग्रह-रहित भी सुखी होता है, अतः मनुष्यको संग्रह नहीं करना चाहिये, क्योंकि वह दुःखका कारण है।

बालकके समान मान, अपमान और घर, पुत्रादिकी चिन्तासे भी रहित होवे, क्योंकि चिन्तासे दो ही पुरुष मुक्त रहते हैं—उद्यम न करनेवाला बालक और ईश्वरपरायण पुरुष।

सर्पकी भांति योगी अकेला नियत वासस्थानसे रहित और असहाय रहे।

जैसे मकड़ी अपनेमें से तन्तु निकालकर फिर उसको खा भी जाती है वैसे ही ईश्वर भी अपनेसे संसारको फैलाकर उसमें क्रीडा कर फिर उसे अपनेमें समेट लेता है।

जैसे एक प्रकारके भ्रमर द्वारा (बिलनी द्वारा) किसी दीवारमें बन्द किया गया कीड़ा बन्धन करनेवालेका (भ्रमरका) ध्यान करता हुआ उसीके सदृश हो जाता है वैसे ही जीव जिन-जिन विषयोंमें अपना मन प्रेमसे, द्वेषसे या भयसे लगाता है उसीके सदृश हो जाता है, इसमें कोई विचित्रता नहीं है।

अपने शरीरसे भी ज्ञान और वैराग्यकी शिक्षा लेनी चाहिए। यह शरीर जन्म-मरणसे युक्त और दुःखका घर है। इससे यथार्थज्ञानका उपार्जन करे और अन्तमें यह सियार आदिका भक्ष्य है, यह जानकर इसमें आसक्ति छोड़ दे।

बहुत मनुष्योंके साथ रहनेसे झगड़ा होता है और दो आदमी भी साथ रहें, तो बातें करते रहते हैं। इस कारण कुमारीकी चूड़ीके समान अकेला रहे❀।

जैसे बाण बनानेवाला अपने कार्यमें दत्तचित्त होनेसे अन्य विषयोंपर ध्यान नहीं देता, वैसे ही योगियोंको अपना मन अन्य विषयोंको छोड़कर भगवान्‌के चरणोंमें लगाना चाहिये।

इस प्रकार चौबीस दृष्टान्तोंसे असम्भावनादि दोषोंको हटाकर

❀ किसी दरिद्र ब्राह्मणकी कन्या विवाहके योग्य हुई। ब्राह्मण तथा उसकी पत्नीकी अनुपस्थितिमें उस कन्याको देखनेके लिये कुछ पुरुष आये। कन्या उनके भोजनके लिये घरके भीतर धान कूटने लगी और उसके हाथकी चूड़ियोंका शब्द होने लगा, जिससे दरिद्रताका व्यक्त होना सम्भव था। कन्याने एक-एक चूड़ीको छोड़ अन्य सब चूड़ियाँ तोड़ डालीं, तब शब्द होना रुक गया और उस परिवारकी गरीबीको अतिथि न जान सके।

श्रीभगवानुवाच❀

मयोदितेष्ववहितः स्वधर्मेषु मदाश्रयः ।
वर्णाश्रमकुलाचारमकामात्मा समाचरेत् ॥ १ ॥
अन्वीक्षेत विशुद्धात्मा देहिनां विषयात्मनाम् ।
गुणेषु तत्त्वध्यानेन सर्वारम्भविपर्ययम् ॥ २ ॥
सुप्तस्य विषयालोको ध्यायतो वा मनोरथः ।
नानात्मकत्वाद्विफलस्तथा भेदात्मधीर्गुणैः ॥ ३ ॥

विवेक ज्ञानको प्राप्त हुए, उद्धवजीके प्रति आत्म-तत्त्वज्ञानकी प्राप्तिके लिए फिर भी दयासे भगवान् साधनोंको कहते हैं ।

श्रीभगवान्ने कहा—

मेरे द्वारा गीता, पञ्चरात्र आदिमें कहे गये पूजा, नमस्कार, श्रवण आदि वैष्णव धर्मोंमें अप्रमत्त होकर (उक्त धर्मोंका अनुष्ठान करता हुआ) फलकी कामना-रहित हो और मेरा आश्रय करके अपने वर्ण, आश्रम और कुलके अनुरूप आचरण करे ॥१॥

[अब निष्कामभाव कैसे प्राप्त होता है ? यह दिखलाते हैं—] स्वधर्मके आचरणसे विशुद्धचित्त पुरुष यह देखे कि विषयोंमें परमार्थ बुद्धि रखकर विषयासक्त लोग जो-जो कर्म करते हैं, उनका उन्हें विपरीत फल मिलता है। इस प्रकार कर्मोंका विपरीत फल देखनेसे निष्कामभाव प्राप्त हो जायगा ॥२॥

जैसे स्वप्न देखनेवाले पुरुषका नाना विषय देखना मिथ्या है और जैसे मनोराज्य करनेवालेके मनोराज्यके विषय मिथ्या हैं, क्योंकि वे नाना प्रकारकी वस्तुएँ एक ही आत्मामें कल्पित हैं वैसे ही देव, मनुष्य आदि शरीरोंसे आत्मामें जो भेदबुद्धि होती है अर्थात् देव, मनुष्य आदि शरीरोंमें अहंप्रतीति होती है, वह भी नानात्मक होनेसे

❀ भा० ११।१०।१ इत्यादि ।

निवृत्तं कर्म सेवेत प्रवृत्तं मत्परस्त्यजेत् ।
जिज्ञासायां संप्रवृत्तो नाऽऽद्रियेत्कर्मचोदनाम् ॥ ४ ॥
यमानभीक्ष्णं सेवेत नियमान्मत्परः क्वचित् ।
मदभिज्ञं गुरुं शान्तमुपासीत मदात्मकम् ॥ ५ ॥
अमान्यमत्सरो दक्षो निर्ममो दृढसौहृदः ।
असत्वरोऽर्थजिज्ञासुरनसूयुरमोघवाक् ॥ ६ ॥

मिथ्या ही है। तात्पर्य यह है कि इन्द्रियोंसे जो बाह्य विषयोंकी प्रतीति होती है, वह नानात्मक और इन्द्रियजन्य होनेसे स्वप्न और मनोराज्यके विषयोंके समान मिथ्या ही है ॥ ३ ॥

भगवत्परायण पुरुष निष्कामभावसे नित्य और नैमित्तिक कर्मोंको करे; सकाम कर्म न करे और जब आत्मविचारमें ठीक प्रवृत्त हो जाय तब वेद-विहित कर्मोंका भी आदर न करे ॥ ४ ॥

मुमुक्षु अहिंसा आदि यमोंका* आदरसे सेवन करे और उसे शौचादि नियमोंका† भी यथाशक्ति सेवन करना चाहिए (जिससे आत्मज्ञान-प्राप्ति करनेमें त्रुटि न आवे। यदि यमोंसे ज्ञानकी प्राप्तिमें कोई त्रुटि आवे, तो उनमें भी अति आदर त्याग दे) ऐसे गुरुका सेवन करे, जो मुझे तत्त्वतः जानता हो और उसे मेरा स्वरूप ही समझे ॥ ५ ॥

[दो श्लोकोंसे शिष्यका लक्षण कहते हैं—] अभिमान, मत्सरता (डाह), आलस्य और ममतासे रहित, परमेश्वररूप गुरुमें दृढ़ प्रेम करनेवाला, व्यग्रता-रहित, आत्मज्ञानका इच्छुक (मुमुक्षु), दूसरेकी निन्दा न करनेवाला, व्यर्थ न बोलनेवाला पुरुष ॥ ६ ॥

---

* अहिंसा सत्यमस्तेयमसङ्गो ह्रीरसञ्चयः ।
आस्तिक्यं ब्रह्मचर्यं च मौनं स्थैर्यं क्षमाऽभयम् ॥ भा० ११-१९-३३ ।

† शौचं जपस्तपो होमः श्रद्धाऽऽतिथ्यं मदर्चनम् ।
तीर्थाटनं परार्थेहा तुष्टिराचार्यसेवनम् ॥ भा० ११-१९-३४ ।

जायापत्यगृहक्षेत्रस्वजनद्रविणादिषु ।
उदासीनः समं पश्यन्त्सर्वेष्वर्थमिवात्मनः ॥ ७ ॥
विलक्षणः स्थूलसूक्ष्माद्देहादात्मेक्षिता स्वदृक् ।
यथाऽग्निर्दारुणो दाह्याद्दाहकोऽन्यः प्रकाशकः ॥ ८ ॥
निरोधोत्पत्त्यणुबृहन्नानात्वं तत्कृतान्गुणान् ।
अन्तः प्रविष्ट आधत्त एवं देहगुणान्परः ॥ ९ ॥

सब विषयोंमें आत्माका अर्थ सुखादि समान है ऐसी समदृष्टि रखकर स्त्री, पुत्र, घर, क्षेत्र, बान्धव और धन आदिमें उदासीन हो। [भाव यह है कि सब देहोंमें आत्मा एक ही है, अतः स्त्री, पुत्र आदिकी देहमें और अन्यकी देहमें आत्माका अर्थ सुख आदि समान ही है, इसलिये भार्यादिके देहमें ममता क्यों की जाय ? इस प्रकार उदासीन होकर गुरुकी शरणमें जावे।] ॥७॥

देहसे अतिरिक्त कौन आत्मा है, जिसके एकत्वसे सबमें सुख-दुःख आदि समानभावसे प्राप्त होते हैं ? इस प्रश्नका समाधान दृष्टान्त द्वारा करते हैं—] जैसे प्रकाशक और दाहक अग्नि दाह्य और प्रकाश्य काठसे पृथक् है वैसे ही आत्मा भी स्थूल और सूक्ष्म—दोनों देहोंसे विलक्षण है, क्योंकि वह द्रष्टा और स्वप्रकाश है। (भाव यह है कि द्रष्टा दृश्यसे विलक्षण और प्रकाशस्वरूप होता है) ॥ ८ ॥

जैसे काठके भीतर प्रविष्ट अग्नि यद्यपि नाश, उत्पत्ति आदिसे रहित है तथापि काठके सम्बन्धसे नाश, उत्पत्ति, बढ़ना, घटना, नानात्व आदि अनेक गुणोंको प्राप्त होती है, वैसे ही देहमें प्रविष्ट आत्मा भी देहके अनित्यत्व आदि धर्मोंको प्राप्त हुआ-सा प्रतीत होता है। [भाव यह है कि जैसे अग्नि स्वयं नाश-रहित होती हुई भी काष्ठके नाशसे नाशको प्राप्त होती है और इसी प्रकार उत्पत्तिरहित होती भी अग्नि काष्ठकी उत्पत्तिसे उत्पत्तिको एवं स्वयं महान् होती हुई भी लकड़ियों-

योऽसौ गुणैर्विरचितो देहोऽयं पुरुषस्य हि ।
संसारस्तन्निबन्धोऽयं पुंसो विद्याच्छिदात्मनः ॥१०॥
तस्माज्जिज्ञासयाऽऽत्मानमात्मस्थं केवलं परम् ।
संगम्य निरसेदेतद्वस्तुबुद्धिं यथाक्रमम् ॥११॥
आचार्योऽरणिराद्यः स्यादन्तेवास्युत्तरारणिः ।
तत्संधानं प्रवचनं विद्यासन्धिः सुखावहः ॥१२॥

की अल्पतासे सूक्ष्मताको प्राप्त होती है वैसे ही स्वयं नित्य, अजर और अमर आत्मा भी देहमें प्रविष्ट होकर देहके धर्म, जरा, मरण आदिको धारण करता हुआ-सा प्रतीत होता है, वस्तुतः वह नित्य ही है।] ॥९॥

[अग्निका दृष्टान्त विषम है, क्योंकि अग्निका काष्ठके साथ सम्बन्ध होनेसे उसमें काष्ठके धर्म आ सकते हैं, किन्तु आत्मा असङ्ग है, अतः उसके साथ देहका या देहके धर्मोंका सम्बन्ध कैसे हो सकता है ? और यदि यथाकथञ्चित् वे धर्म आ गये, तो फिर वे कैसे छूट सकते हैं ?] परमेश्वरके अधीन रहनेवाली मायाके गुणोंसे जिस सूक्ष्मरूप देहकी रचना होती है, उसके अध्यास (झूठे सम्बन्ध) के कारण मनुष्यको जन्म-मरणरूप संसार प्राप्त होता है—आत्मज्ञानसे उस अध्यासकी निवृत्ति हो जाती है ॥ १० ॥

चूँकि देह आदिमें अध्यास करनेसे ही उनकी प्राप्ति होती है, इसलिए विचारसे कार्य-कारण संघातरूप देहमें ही विद्यमान तथा देहसे विलक्षण असङ्ग आत्माके स्वरूपको भली भाँति जानकर देह आदिमें आत्मबुद्धिका क्रमशः (पहले स्थूल शरीरमें जो आत्मबुद्धि है उसका, फिर सूक्ष्म शरीरमें जो आत्मबुद्धि है उसका) त्याग करे ॥ ११ ॥

[अब 'आचार्यः पूर्वरूपमन्तेवास्युत्तररूपं विद्या सन्धिः प्रवचनं सन्धानम्' श्रुतिके अनुसार अग्निकी उत्पत्तिके दृष्टान्तसे यह दिखलाते हैं कि गुरुसे प्राप्त हुई विद्या अध्यासको दूर करती है—] नीचेका काठ

वैशारदी साऽतिविशुद्धबुद्धि-
　　र्धुनोति मायां गुणसंप्रसूताम् ।
गुणांश्च संदह्य यदात्ममेत-
　　त्स्वयं च शाम्यत्यसमिद्यथाऽग्निः ॥१३॥
अथैषां कर्मकर्तॄणां भोक्तॄणां सुखदुःखयोः ।
नानात्वमथ नित्यत्वं लोककालागमात्मनाम् ॥१४॥

गुरु है और ऊपरका शिष्य है, गुरुका उपदेश उन काठोंका मन्थन करनेवाला बीचका काठ है और सन्धिमें उत्पन्न हुई अग्निके समान विद्या (ज्ञान) सुख देनेवाली, अविद्यादि दोषनाशक और परम आनन्द देनेवाली है ॥ १२ ॥

गुरुसे चतुर शिष्यको प्राप्त हुई अति शुद्ध बुद्धि (आत्मविद्या) गुणसे उत्पन्न मायाको हटा देती है, जिनसे जीवको बन्धनमें डालनेवाला यह संसार उत्पन्न हुआ है उन गुणोंको भी जलाकर अन्तमें जैसे काठके जल जानेपर अग्नि स्वयं शान्त हो जाती है वैसे ही विद्या भी शान्त हो जाती है । भाव यह है कि कार्य, कारण और विद्याका व्यवधान न रहनेपर जीव साक्षात्परमानन्दस्वरूप हो जाता है ॥ १३ ॥

[८ वें श्लोक से यहाँतक यह दिखलाया कि आत्मा एक, स्वप्रकाश, ज्ञानस्वरूप और नित्य है, उसमें कर्तृत्व आदि धर्म देहकी उपाधिसे भासते हैं; उससे पृथक् सब पदार्थ अनित्य और मायामय हैं, अतः जीव सम्पूर्ण विषयोंसे विरक्त होकर आत्मज्ञानसे मुक्ति प्राप्त कर सकता है । अब 'स्थूणानिखनन न्यायसे' श्रुतिसम्मत इस मतमें मतान्तरके विरोधसे किसीको सन्देह न हो यह विचार कर आत्मैक्य-विरोधीके मतका खण्डन करनेके लिए उसे दर्शाते हैं—]

यदि तुम पूर्वमीमांसाके अनुसार कर्म करनेवाले और उसके फल

मन्यसे सर्वभावानां संस्था ह्यौत्पत्तिकी यथा ।
तत्तदाकृतिभेदेन जायते भिद्यते च धीः ॥१५॥

(सुखादि) के भोक्ता जीवोंको नाना मानते हो और भोगके स्थान (स्वर्गादि), भोगकाल, वेदोक्त कर्मकाण्ड और भोक्ता जीवको नित्य मानते हो; ॥ १४ ॥

और माला, चन्दन, स्त्री आदिकी स्थिति प्रवाहरूपसे नित्य मानते हो (अर्थात् सृष्टि करनेवाले ईश्वरको नहीं मानते हो और सृष्टिको यथार्थ मानते हो, न कि माया-मय) अथवा यह मानते हो कि घट, पट आदि बाह्य वस्तुओंके भेदसे ही बुद्धि उत्पन्न होती है और लीन होती है । मीमांसाका गूढ़ आशय यह है कि आत्मा ज्ञानस्वरूप नहीं है, किन्तु ज्ञानपरिणामी है और ऐसा होनेसे वह अनित्य है । फिर मुक्तिदशामें आत्मामें इन्द्रिय आदिके न होनेसे उसका परिणाम नहीं होगा, इस कारण आत्मा जड़ हुआ, तब ऐसी मुक्तिके लिए पुरुषार्थ करना व्यर्थ है । इसलिए प्रवृत्ति ही अच्छी है न कि निवृत्ति ।

[भाव यह है कि मीमांसक कहते हैं कि 'अहं' इस प्रतीतिसे ज्ञेय ही आत्मा है, वह प्रत्येक शरीरमें भिन्न-भिन्न है तथा कर्ता और भोक्ता स्वरूप है (वेदान्तियोंका अभिमत) ज्ञानस्वरूप, निर्विकार, अद्वितीय परमात्मा नहीं है । इसी प्रकार वैराग्य भी नहीं हो सकता है, क्योंकि वैराग्य तभी हो सकता है जब कि भोगस्थान (स्वर्ग आदि लोक), भोग-काल, भोगके उपायभूत कर्मोंके बोधक वेद और भोक्ता अनित्य माने जायँ, परन्तु वे भोगस्थान, भोगकाल आदि नित्य हैं। यद्यपि वस्तुओंके साथ सम्बन्धका विच्छेद होनेसे या उनके मायामय होनेसे वैराग्य हो सकता है । तथापि भोग्यवस्तुओंकी स्थिति प्रवाहरूपसे नित्य है, और जगत् सदा ऐसा ही है, अतः उसका कभी अभाव या वह मायामय नहीं हो सकता, अतः उसका निर्माता कोई ईश्वर भी नहीं है ।

एवमप्यङ्ग सर्वेषां देहिनां देहयोगतः ।
कालावयवतः सन्ति भावा जन्मादयोऽसकृत् ॥१६॥
अत्रापि कर्मणां कर्तुरस्वातन्त्र्यं च लक्ष्यते ।
भोक्तुश्च दुःखसुखयोः को न्वर्थो विवशं भजेत् ॥१७॥
न देहिनां सुखं किञ्चिद्विद्यते विदुषामपि ।
तथा च दुःखं मूढानां वृथाऽहंकरणं परम् ॥१८॥

और आत्मस्वरूपभूत नित्य एक ज्ञान नहीं है, किन्तु तत्-तत् घट, पट आदिके भेदसे ज्ञान होता है और नष्ट हो जाता है; अतः नित्यज्ञानरूप आत्मा नहीं है, किन्तु ज्ञानपरिणामी नानारूप ही आत्मा है। इस अवस्थामें मुक्तिमें इन्द्रिय आदिसे रहितका परिणाम न हो सकनेसे वह जड़ हो जायगा और उसकी प्राप्ति पुरुषार्थरूप नहीं होगी, अतः प्रवृत्तिमार्ग ही श्रेष्ठ है, निवृत्तिमार्ग श्रेष्ठ नहीं है, ऐसा यदि मानो, तो सुनो] ॥ १५ ॥

यह मीमांसकोंका मत अनर्थका कारण है, क्योंकि हे राजन्! यदि ऐसा माना जाय, तो सब देहधारियोंके देहके सम्बन्धसे लव, निमेष, मास आदि कालके अवयवोंसे पुनः पुनः जन्म, मरण आदि विकार प्राप्त होते ही रहेंगे अर्थात् इस मतके अनुसार दुःखकी निवृत्ति कभी नहीं होगी ॥ १६ ॥

पूर्वोक्त मीमांसकमतमें भी कर्म करनेवाले और सुख-दुःखोंके भोक्ता (जीवों) की परतन्त्रता देखी जाती है, क्योंकि उनकी इच्छा न होनेपर भी दुष्कर्मोंमें प्रवृत्ति देखी जाती है। दुःखभोक्ता यदि स्वतन्त्र होता, तो वह दुःखभोग क्यों करता ? इस कारण परवश अर्थात् काल, कर्म तथा गुणोंके अधीन पुरुषको विषयोंका उपभोग कौन-सा सुख देगा ? ॥१७॥

[शङ्का—जो मनुष्य उत्तम प्रकारसे कर्म करेंगे, उनको सुख ही

यदि प्राप्तिं विघातं च जानन्ति सुखदुःखयोः ।
तेऽप्यद्धा न विदुर्योगं मृत्युर्न प्रभवेद्यथा ॥१९॥
को न्वर्थः सुखयत्येनं कामो वा मृत्युरन्तिके ।
आघातं नीयमानस्य वध्यस्येव न तुष्टिदः ॥२०॥
श्रुतं च दृष्टवद्दुष्टं स्पर्द्धासूयात्ययव्ययैः ।
बह्वन्तरायकामत्वात् कृषिवच्चाऽपि निष्फलम् ॥२१॥

मिलेगा औरोंको दुःख मिलेगा; इस पक्षकी निवृत्ति अनुभवसे करते हैं—] उत्तम प्रकारके कर्म करनेमें प्रवीण पुरुषोंको भी कभी भी कुछ भी सुख प्राप्त नहीं होता (क्योंकि साधन कालमें या धन आदिकी प्राप्तिकी अवस्थामें शरीरकष्ट, धननाश आदि दुःख देखे जाते हैं) और मूर्ख पुरुषोंमें भी दुःख नहीं देखा जाता है, क्योंकि प्रारब्धसे उनको भी भोग और ऐश्वर्य मिलते देखे गए हैं । वास्तवमें सुख-दुःख आदि अन्तःकरणके धर्म हैं अतः दोनों पक्षोंमें 'मैं सुखी हूँ' 'मैं निपुण हूँ' एवं 'मैं दुःखी हूँ, मूर्ख हूँ' आदि अहङ्कार वृथा है ॥ १८ ॥

यदि यह मान लिया जाय कि मीमांसक सुखकी प्राप्ति और दुःखके निराकरणका उपाय जानते हैं, तो भी यह निश्चय है कि वे ऐसा उपाय नहीं जानते जिससे कि मौत टल जाय ॥ १९ ॥

[शङ्का—जबतक जीते रहेंगे तबतक तो सुखी रहेंगे, समाधान—] जैसे फांसीपर लटकाये जानेवाले पुरुषको उस समय दिये हुए माला, चन्दन, मिष्टान्न आदि पदार्थ सुख नहीं देते हैं वैसे ही मृत्यु-भययुक्त पुरुषको धन अथवा काम (शब्दादि विषय) आनन्द नहीं दे सकते हैं ॥२०॥

[शङ्का—इस लोकमें यदि सुख नहीं है, तो भी स्वर्गमें तो होगा ही ? समाधान—] सांसारिक सुखके समान स्वर्गादि सुख भी दूसरोंके सुखको न सह सकना, उनमें दोषारोपण करना, सुखका नाश होना और प्रतिदिन क्षीण होना इत्यादि दुःखोंसे मिश्रित ही

अन्तरायैरविहतो यदि धर्मः स्वनुष्ठितः ।
तेनाऽपि निर्जितं स्थानं यथा गच्छति तच्छृणु ॥२२॥
इष्ट्वेह देवता यज्ञैः स्वर्लोकं याति याज्ञिकः ।
भुञ्जीत देववत्तत्र भोगान्दिव्यान्निजार्जितान् ॥२३॥
स्वपुण्योपचिते शुभ्रे विमान उपगीयते ।
गन्धर्वैर्विहरन्मध्ये देवीनां हृद्यवेषधृक् ॥२४॥
स्त्रीभिः कामगयानेन किङ्किणीजालमालिना ।
क्रीडन्न वेदाऽऽत्मपातं सुराक्रीडेषु निर्वृतः ॥२५॥

है, इस कारण स्वर्गादि सुख खेतीके समान निष्फल है । जैसे खेती अतिवृष्टि, अनावृष्टि आदि विघ्नोंके कारण निष्फल हो जाती है वैसे ही प्रचुर सुखरूपसे श्रुत स्वर्गादि सुख भी दुःखमिश्रित होनेसे निष्फल ही है, यह भाव है ।] ॥ २१ ॥

[अब पाँच श्लोकोंसे यह दिखलाते हैं कि यदि स्वर्गप्राप्तिमें विघ्न न भी माने जायँ, तो भोगके पूर्ण होनेपर जीव फिर स्वर्गसे नीचे गिर पड़ता है, अतः अनित्य सुखके लिए प्रयत्न करनेमें वृथा परिश्रम है—] यदि विघ्न-बाधाओंसे बचकर उत्तम रीतिसे धर्मका आचरण किया गया, तो उससे प्राप्त होनेवाले (स्वर्गादि) स्थानको जिस प्रकार जीव प्राप्त होता है, उसे सुनो—॥ २२ ॥

यज्ञ करनेवाला पुरुष इस लोकमें इन्द्रादि देवताओंकी आराधना करके स्वर्गलोकको प्राप्त करता है और वहाँपर अपने कर्मोंसे सम्पादित दिव्य भोगोंको देवताओंके समान भोगता है ॥ २३ ॥

अप्सराओंके मनोहर रूपसे सम्पन्न पुरुष अप्सराओंके मध्यमें विहार करता हुआ अपने पुण्यसे उपार्जित श्रेष्ठ विमानपर बैठकर गन्धर्वों द्वारा प्रशंसित होता है ॥ २४ ॥

तब बहुतसी छोटी-छोटी घंटियोंसे शोभायमान और यथेच्छ

तावत् प्रमोदते स्वर्गे यावत् पुण्यं समाप्यते ।
क्षीणपुण्यः पतत्यर्वागनिच्छन् कालचालितः ॥२६॥
यद्यधर्मरतः संगादसतां चाऽजितेन्द्रियः ।
कामात्मा कृपणो लुब्धः स्त्रैणो भूतविहिंसकः ॥२७॥
पशूनविधिनाऽऽलभ्य प्रेतभूतगणान् यजन् ।
नरकानवशो जन्तुर्गत्वा यात्युल्बणं तमः ॥२८॥
कर्माणि दुःखोदर्काणि कुर्वन् देहेन तैः पुनः ।
देहमाभजते तत्र किं सुखं मर्त्यधर्मिणः ॥२९॥

चलनेवाले विमानमें देवाङ्गनाओंके साथ बैठकर वह देवताओंके नन्दनवन आदि स्थानोंमें क्रीड़ा करता हुआ अपने पतनको नहीं जानता है ॥२५॥

जबतक भोगोंसे पुण्योंका क्षय नहीं होता तबतक वह स्वर्गमें आनन्द करता है तदनन्तर पुण्योंके क्षीण होनेपर वहाँसे गिरनेकी इच्छा न करता हुआ भी कालकी प्रेरणासे नीचे गिर जाता है (अर्थात् मनुष्य, पशु आदि योनियोंमें प्राप्त होता है) ॥ २६ ॥

प्रवृत्ति दो प्रकारकी है एक तो विधिके अनुसार काम्य कर्म करना और दूसरी विधिको उल्लंघन करके कर्म करना, प्रथम प्रकारके कर्मोंकी गति कह चुके हैं । अब दूसरे प्रकारके कर्मोंकी गतिको दो श्लोकोंसे कहते हैं:—

जो विषयासक्त पुरुषोंके सङ्गसे अधर्ममें तत्पर, अजितेन्द्रिय, विषयोंको चाहनेवाला, कृपण, लोभी, स्त्रीलम्पट, प्राणी-मात्रकी हिंसा करता है ॥२७॥

और विधिके विना पशुओंको मारकर भूत, प्रेतोंका आराधन करता है, वह मनुष्य परवश होकर नरकमें पड़ता है और वहाँके दुःखोंको भोगकर फिर अज्ञानसे परिपूर्ण स्थावर आदि योनियोंमें उत्पन्न होता है ॥ २८ ॥

[अब इस प्रकरणका उपसंहार करते हैं कि कर्ममें प्रवृत्त हुए

लोकानां लोकपालानां मद्भयं कल्पजीविनाम् ।
ब्रह्मणोऽपि भयं मत्तो द्विपरार्द्धपरायुषः ॥३०॥
गुणाः सृजन्ति कर्माणि गुणोऽनुसृजते गुणान् ।
जीवस्तु गुणसंयुक्तो भुङ्क्ते कर्मफलान्यसौ ॥३१॥
यावत् स्याद्गुणवैषम्यं तावन्नानात्वमात्मनः ।
नानात्वमात्मनो यावत् पारतन्त्र्यं तदैव हि ॥३२॥

पुरुषको न सुख प्राप्त होता है और न उसकी दुःखनिवृत्ति ही होती है—] जिन कर्मोंका फल दुःख ही है ऐसे कर्मोंको देहसे करनेवाला मनुष्य फिर देहको प्राप्त करता है। यों संसार-चक्रमें चक्कर काटता है आवागमनमें फँसे हुए मरणशीलको भला क्या सुख हो सकता है ? ॥ २९ ॥

[शङ्का—स्वर्गादि लोक नित्य हैं और लोकपाल भी अमर हैं उनको तो नित्य सुख प्राप्त है । समाधान—]ऐसा नहीं है, क्योंकि श्रुति कहती है "मृत्युर्धावति पञ्चमः" लोकोंको और कल्पपर्यन्त जीवित रहनेवाले लोकपालोंको मुझसे भय है । दो परार्ध आयुवाले ब्रह्माजीको भी कालरूप मुझसे भय है । [भाव यह है कि प्रवृत्ति-मार्ग अनर्थका हेतु है इस कारण निवृत्ति ही युक्त है] ॥ ३० ॥

[इस प्रकार अनीश्वरवादका निराकरण हो गया। अब आत्मामें कर्तृत्व, भोक्तृत्व आदि धर्मोंका निराकरण चार श्लोकोंसे करते हैं—] सत्त्व आदि गुणोंके कार्य इन्द्रियादिसे कर्मोंकी उत्पत्ति होती है । और सत्त्व आदि गुण ही इन्द्रियोंको प्रवृत्त करते हैं (इस प्रकार आत्मामें कर्तृत्व नहीं है। अब यह कहते हैं कि भोक्तापन उपाधिसे है) यह जीव, देह, इन्द्रिय आदिमें आसक्त होकर अर्थात्तादात्म्याध्यास करके सुख-दुःखोंका अनुभव करता है । [भाव यह है कि जीवको उनमें अहङ्कार रहता है] ॥ ३१ ॥

[अब आत्मामें नानात्वका निराकरण करते हैं—] जबतक

यावदस्याऽस्वतन्त्रत्वं तावदीश्वरतो भयम् ।
य एतत् समुपासीरंस्ते मुह्यन्ति शुचार्पिताः ॥३३॥
काल आत्मागमो लोकः स्वभावो धर्म एव च ।
इति मां बहुधा प्राहुर्गुणव्यतिकरे सति ॥३४॥

गुणोंकी विषमता अर्थात् अहंकार, इन्द्रिय आदि रूपसे परिणाम रहता है, तबतक उन उपाधियोंसे आत्मामें नानात्व है और जबतक नानात्व है तबतक उसको परतन्त्र अर्थात् कर्मोंके अधीन रहना पड़ता है ॥३२॥

[१५वें श्लोककी टीकामें जो यह कहा गया है कि प्रवृत्ति ही उत्तम है, उसपर कहते हैं—] जबतक आत्मा कर्मोंके अधीन है तबतक काल-स्वरूप ईश्वरसे (मुझसे) उसे भय रहता है। इसलिए जो लोग गुणोंकी विषमता (गुणोंका इन्द्रियादिरूपसे परिणाम) और तज्जनित भोगरूप कर्ममें आसक्ति (मैं और मेरा ऐसा अभिमान) रखते हैं, वे ही, पूर्वोक्त लोकोंके विनाशी होनेके कारण, शोकाकुल होकर क्लेश पाते हैं। [इससे पूर्वमें जो यह दर्शाया गया था कि प्रवृत्तिमार्ग ही श्रेष्ठ है, उसका खण्डन हो गया] ॥ ३३ ॥

[अब कोई पदार्थ ईश्वराधीन है, कोई कालाधीन है, अतः परस्पर विरोध होता है; इस शङ्काका परिहार करते हैं—] प्रकृतिके सत्त्वादि गुणोंका क्षोभ (परिणाम) होनेपर मनुष्य मुझे ही काल, ईश्वर, शास्त्र, लोक, स्वभाव (देवत्वादिरूपसे परिणाम) और धर्म (उनके भोगका कारण) इत्यादि शब्दोंसे कहते हैं। [भाव यह है कि कालको लोग भिन्न समझते हैं, परन्तु वह मैं ही हूँ। काल जो कुछ करता है वह मैं ही करता हूँ।] ॥ ३४ ॥

चौथा प्रकरण

बद्ध और मुक्त प्राणियोंके लक्षण

आत्मा एक है, उसको गुणके कार्यरूप देहके सम्बन्धसे संसार प्राप्त होता है और आत्मज्ञानसे मुक्ति होती है। इससे उद्धवजी पूछते हैं कि सत्त्व आदि गुणोंके दूर होनेपर मुक्ति मिलती है अथवा उनके रहते ? प्रथम पक्षमें तो ज्ञानरूप साधन न होनेसे मुक्ति नहीं होगी। दूसरे पक्षमें गुणोंके रहते हुए उनके कार्य देहके कर्म और सुखादिसे क्यों बन्ध नहीं होगा ? यदि कहो कि आकाशके समान अनावृत होनेसे आत्मा बद्ध नहीं होगा तब तो बन्धका सम्भव ही नहीं होगा। यदि गुणोंके रहते उनके अहङ्कारसे बद्ध होता है और उसकी निवृत्तिसे मुक्त होता है, ऐसा कहो, तो बद्ध और मुक्तके लक्षण बतलाइये; क्योंकि इन दोनोंके बर्ताव, विहार, भोजन आदि तो एक ही समान होते हैं और एक ही आत्मा अनादि गुणोंके सम्बन्धसे नित्यबद्ध है। यदि मुक्ति जन्य मान ली जाय, तो मुक्ति अनित्य हो जायगी; इसलिए (नित्य-बद्धके समान) आत्मा नित्यमुक्त है यह भी मानना होगा। यों तो परस्पर विरोध होता है, इस विषयमें मुझको भ्रम है। इसलिए भगवान् मेरे भ्रमको दूर करें।

श्रीभगवानुवाच❀

बद्धो मुक्त इति व्याख्या गुणतो मे न वस्तुतः।
गुणस्य मायामूलत्वान्न मे मोक्षो न बन्धनम् ॥ १ ॥

इसपर श्रीभगवान् कहते हैं—

[बन्ध और मोक्ष वास्तविक नहीं हैं, यह कहते हैं—] आत्मा बद्ध है और मुक्त है, यह व्यवहार मेरे अधीन रहनेवाले गुणरूप उपाधिसे होता है—वस्तुतः नहीं है। [शङ्का—जैसे तण्डुल-

❀ भा० ११।११।१ इत्यादि।

शोकमोहौ सुखं दुःखं देहोत्पत्तिश्च मायया ।
स्वप्नो यथाऽऽत्मनः ख्यातिः संसृतिर्न तु वास्तवी ॥२॥
विद्याविद्ये मम तनू विद्ध्युद्धव शरीरिणाम् ।
मोक्षबन्धकरी आद्ये मायया मे विनिर्मिते ॥३॥

पाक अग्नि और जलरूप उपाधिसे होनेके कारण औपाधिक होनेपर भी वास्तविक ही होता है वैसे ही बन्ध और मोक्ष औपाधिक होनेपर भी वास्तविक क्यों न हों ? समाधान—] गुण मायामूलक हैं (वास्तव नहीं हैं) अतः बन्धन नहीं है । (कल्पित रस्सीसे बन्धन नहीं देखा जाता) जब बन्धन नहीं है, तो मोक्ष भी नहीं है । [यह कथन सम्पूर्ण शास्त्रोंके विरुद्ध है, शास्त्र जिसका प्रतिपादन करते हैं उसका अपलाप आप कैसे करते हैं ? ऐसी शङ्का होनेपर भगवान् कहते हैं—] यह मेरी व्याख्या है अर्थात् मेरा निर्णीत अर्थ है, इस विषयमें कुतर्कोंके लिए स्थान नहीं है ॥ १ ॥

[यह कहते हैं कि जब गुण मायामय हैं तब उनका कार्य यह संसार भी मायामय होगा—] जैसे स्वप्न बुद्धिका विकार (विवर्त) मात्र होनेसे मिथ्या है वैसे ही शोक, मोह, सुख, दुःख और देहकी उत्पत्ति ये मायासे (देहादिके अध्याससे) आत्मामें प्रतीत होते हैं और वास्तवमें नहीं हैं । अतः जीवकी संसारप्राप्ति औपाधिक है वास्तविक नहीं है। [भाव यह है कि आत्मा एक ही है, अध्याससे उसमें बन्ध प्रतीत होता है । वस्तुतः अध्यासका सम्बन्ध न होनेसे वह नित्यमुक्त भी है ही, इससे कुछ विरोध नहीं है] ॥ २ ॥

हे उद्धव ! यह समझो कि जीवोंमें विद्या और अविद्या मेरी ही शक्तियाँ हैं और ये अनादि शक्तियाँ ही बन्ध और मोक्ष करती हैं, क्योंकि ये आद्या मायाकी कार्य हैं। [भाव यह है कि जब मैं अविद्याकी प्रवृत्ति करता हूँ तब बन्ध होता है और जब विद्याप्रदान करता हूँ तब मोक्ष होता है] ॥३॥

एकस्यैव ममांऽशस्य जीवस्यैव महामते ।
बन्धोऽस्याऽविद्ययाऽनादिर्विद्यया च तथेतरः ॥ ४ ॥
अथ बद्धस्य मुक्तस्य वैलक्षण्यं वदामि ते ।
विरुद्धधर्मिणोस्तात स्थितयोरेकधर्मिणि ॥ ५ ॥

[पूर्व श्लोकमें बन्ध और मोक्षकी व्यवस्था करते समय 'शरीरिणाम्' इस बहुवचनके निर्देश द्वारा विषयभेदसे (जीवभेदसे) बन्ध और मोक्षका अविरोध कहा गया है, ऐसी किसीको शङ्का न हो जाय, इस शङ्काकी निवृत्तिके लिए बन्ध और मोक्षकी व्यवस्थाका उपपादन करते हैं—] हे महामते उद्धव ! मेरे एक हीके अंशभूत जीवका अविद्यासे अनादि बन्ध और विद्यासे अनादि मोक्ष होता है । तात्पर्य यह है कि भगवान् कहते हैं कि मैं एक ही हूँ । इसपर शङ्का होती है कि जब कोई द्वितीय है ही नहीं तो बन्ध आपका ही होता है ? समाधान—नहीं, जीवका ही बन्ध होता है । शङ्का—यदि आत्मा एक ही है जीव नामका दूसरा पदार्थ नहीं है, तो ऐसी अवस्थामें बन्ध-मोक्ष और सुख-दुःख आदिकी व्यवस्था कैसे होगी ? समाधान—) मेरे अंशभूत जीवके ही बन्ध और मोक्ष होते हैं । जैसे एक ही चन्द्रमाके जल आदि उपाधिसे बिम्ब-प्रतिबिम्बरूप भेद देखे जाते हैं और प्रतिबिम्बमें ही जलके कारण कम्प आदि होते हैं बिम्बमें नहीं होते वैसे ही अविद्यामें प्रतिबिम्बित मेरे अंशभूत जीवका ही अविद्याके कारण बन्ध होता है, बिम्बभूत मेरा नहीं । यों उपाधिसे भेद होनेके कारण अव्यवस्था नहीं है ॥ ४ ॥

[सिद्धान्तका प्रतिपादन करके अब ज्ञानी कैसा बर्ताव करते हैं इस प्रश्नका उत्तर यह ध्यानमें रखकर देते हैं कि एक तो जीव और ईश्वरमें परस्पर भेद है और दूसरे, जीव भी परस्पर भिन्न हैं—] हे तात ! शोक, आनन्द आदि विरुद्ध धर्मवाले जीव और

सुपर्णावेतौ सदृशौ सखायौ
यदृच्छयैतौ कृतनीडौ च वृक्षे ।
एकस्तयोः खादति पिप्पलान्न-
मन्यो निरन्नोऽपि बलेन भूयान् ॥ ६ ॥
आत्मानमन्यं च स वेद विद्वा-
नपिप्पलादो न तु पिप्पलादः ।
योऽविद्यया युक्स तु नित्यबद्धो
विद्यामयो यः स तु नित्यमुक्तः ॥ ७ ॥

ईश्वर एक ही शरीरमें नियम्य-नियन्तृभावसे रहते हैं । उनमें से बद्ध और मुक्तकी (विलक्षणता) मैं तुमसे कहता हूँ ॥ ५ ॥

[अत्र ''द्वा सुपर्णा'' इस श्रुतिके अनुसार यह दिखलाते हैं कि जीव और ईश्वर (आत्मा) की समानता किस अंशमें है और बन्ध और मोक्षकी क्या व्यवस्था है ? यहाँ शरीरकी कल्पना वृक्षरूपसे की गई है, जैसा कि गीता (१५।१) में ''ऊर्ध्वमूलमधःशाखम्'' कहा है । इसमें एक ही वृक्षरूपी शरीरमें रहनेवाले जीव और ईश्वरको पक्षीका रूप दिया है—]

जैसे वृक्षमें रहनेवाले पक्षी वृक्षसे पृथक् होते हैं वैसे ही शरीरमें रहनेवाले ईश्वर और जीव भी देहसे भिन्न हैं, दोनों समान हैं, (चैतन्यरूप होनेसे) एवं सखा हैं, (एक दूसरेसे वियुक्त न होने अथवा एकमत होनेसे) वे दोनों शरीररूप वृक्षमें हृदयरूप घोंसला बनाकर रहते हैं। उनमें से एक अर्थात् जीव पीपलके फलका (देहस्थ कर्मफलका) भोग करता है और दूसरा अर्थात् ईश्वर अभोक्ता होकर भी निज आनन्दसे तृप्त है और ज्ञान आदि शक्तिसे अधिक है ॥ ६ ॥

[अब ईश्वरकी ज्ञान आदि शक्तिसे श्रेष्ठता दिखाते हैं—] इनमें

देहस्थोऽपि नदेहस्थो विद्वान् स्वप्नाद् यथोत्थितः।
अदेहस्थोऽपि देहस्थः कुमतिः स्वप्नदृग्यथा ॥ ८॥
इन्द्रियैरिन्द्रियार्थेषु गुणैरपि गुणेषु च।
गृह्यमाणेष्वहं कुर्यान्न विद्वान्यस्त्वविक्रियः ॥ ९॥
दैवाधीने शरीरेऽस्मिन् गुणभाव्येन कर्मणा।
वर्तमानोऽबुधस्तत्र कर्ताऽस्मीति निबध्यते ॥१०॥

जो फलका (कर्म) फलका, न भोगनेवाला सर्वज्ञ (ईश्वर) है, वह अपनेको और अन्यको (जीवको) भी जानता है और कर्मफल भोक्ता (जीव) इन दोनोंको नहीं जानता है। इनमें से अविद्यायुक्त (जीव) अनादि कालसे बद्ध है और विद्यासे युक्त (ईश्वर) नित्यमुक्त है ॥ ७ ॥

जैसे स्वप्नावस्थासे जागा हुआ पुरुष स्मरण हो रहे स्वप्नदेहमें स्थित होता हुआ भी उसमें स्थित नहीं रहता, क्योंकि स्वप्नदेहके सुख-दुःख आदि उस समय उसे नहीं होते वैसे ही मुक्त भी संस्कारवश देहमें स्थित होता भी देहसम्बन्धी सुखदुःखोंसे मुक्त होनेके कारण देहमें स्थित नहीं रहता अर्थात् देहाभिमान नहीं करता और जैसे सोया हुआ पुरुष स्वप्नदेहको प्राप्त होकर उसके सुख-दुःखोंको अपने सुख-दुःख समझता है वैसे ही अज्ञानी जीव वास्तवमें देहादिके सम्बन्धसे रहित होता हुआ भी (देहके सुख-दुःखादिके सम्बन्धका अपनेमें अध्यास करके) देहके सम्बन्धसे दुःख आदिसे युक्त होता है ॥ ८ ॥

इन्द्रियों द्वारा इन्द्रियोंके विषय रूप, रस आदिका उपभोग होनेपर भी जो विद्वान् है वह मैं उनका ग्रहण (उपभोग) कर रहा हूँ ऐसी बुद्धि न करे, क्योंकि इन्द्रियाँ ही तो विषयोंमें प्रवृत्त होती हैं अतएव विद्वान् रागादिसे रहित है। इसलिये गीतामें कहा है— 'तत्त्ववित्तु महाबाहो' इत्यादि ॥ ९ ॥

पूर्व कर्मोंके अधीन इस शरीरमें रहता हुआ अज्ञानी जीव

एवं विरक्तः शयन आसनाटनमज्जने ।
दर्शनस्पर्शनघ्राणभोजनश्रवणादिषु ॥११॥
न तथा बध्यते विद्वांस्तत्र तत्राऽऽदयन् गुणान् ।
प्रकृतिस्थोऽप्यसंसक्तो यथा खं सविताऽनिलः ॥१२॥
वैशारद्येक्षयाऽसङ्गशितया छिन्नसंशयः ।
प्रतिबुद्ध इव स्वप्नान्नानात्वाद्विनिवर्तते ॥१३॥

इन्द्रियोंसे किये गये कर्मोंमें "मैं कर्ता हूँ" ऐसा अभिमान करके, बन्धको प्राप्त होता है (देखिये गीता ३।२७ 'प्रकृतेः क्रियमाणानि' इत्यादि) । [ज्ञानी कैसा बर्ताव करता है ? इस प्रश्नका उत्तर तीन श्लोकोंसे कहा कि ज्ञानी सुख-दुःख रहित होकर और अभिमान त्यागकर शरीरयात्रा करता है] ॥ १० ॥

[अब तीन श्लोकोंसे अन्यविलक्षणता दिखाते हुए ज्ञानीको कैसा भोजन करना चाहिए इस प्रश्नका उत्तर देते हैं—] जैसे सर्वत्र व्याप्त भी आकाश किसीके गुणदोषसे लिप्त नहीं होता; एवं जैसे जलमें प्रतिबिम्बित सूर्य तथा सर्वत्र बहनेवाली हवा किसीके गुणदोषसे लिप्त नहीं होती, वैसे ही अन्यके ही कर्म "मेरा बन्धन करते हैं" यों विरक्त हुआ ज्ञानी पुरुष उन-उन विषयोंका इन्द्रियोंसे भोग कराता हुआ (साक्षीरूपसे रहता हुआ—स्वयं भोग न करता हुआ) इस शरीरमें स्थित होकर भी शय्या, आसन, स्नान, दर्शन, स्पर्श, घ्राण, भोजन, श्रवण आदिमें आसक्त नहीं होता (बन्धनको प्राप्त नहीं होता), क्योंकि उनके भोगसे उसे 'अहं' 'मम' ऐसा अभिमान नहीं होता ॥११-१२॥

वैराग्यसे तीक्ष्ण हुई निपुण बुद्धिसे जिसके असम्भावनादि दोष दूर हो गये हैं, ऐसा विद्वान् स्वप्नसे जगे हुए मनुष्यके समान देहादि प्रपञ्चसे मुक्त हो जाता है ॥ १३ ॥

[अब किस प्रकार विहार करे ? इस प्रश्नके उत्तररूपसे ज्ञानीमें

यस्य स्युर्वीतसंकल्पाः प्राणेन्द्रियमनोधियाम् ।
वृत्तयः स विनिर्मुक्तो देहस्थोऽपि हि तद्गुणैः ॥१४॥
यस्याऽऽत्मा हिंस्यते हिंस्रैर्येन किञ्चिद्यदृच्छया ।
अर्च्यते वा क्वचित्तत्र न व्यतिक्रियते बुधः ॥१५॥
न स्तुवीत न निन्देत कुर्वतः साध्वसाधु वा ।
वदतो गुणदोषाभ्यां वर्जितः समदृङ्मुनिः ॥१६॥
न कुर्यान्न वदेत् किञ्चिन्न ध्यायेत् साध्वसाधु वा ।
आत्मारामोऽनया वृत्त्या विचरेज्जडवन्मुनिः ॥१७॥

विलक्षणता दिखलाते हैं—] जिसके प्राण, इन्द्रिय और मनका व्यापार सङ्कल्पसे रहित है, वह देहमें रहकर भी उसके (देहके) गुणोंसे मुक्त है । संकल्प रहित प्राण, इन्द्रिय आदिके व्यापारोंसे विहार करता हुआ मुक्त है, यह भाव है ॥ १४ ॥

[अबतक बद्ध और मुक्तके स्वयं जानने योग्य लक्षण कहे अब 'किन लक्षणोंसे मुक्त जाना जाय' इस प्रश्नका उत्तर तीन श्लोकोंसे देते हैं—] विद्वान् दुर्जनोंसे अथवा अन्योंसे शरीर पीड़ित किये जानेपर अथवा संयोगवश कहींपर किसीके द्वारा पूजे जानेपर खेद या हर्षको प्राप्त नहीं होता है ॥ १५ ॥

गुणदोषरहित समदृष्टि मुनि भला बुरा कहनेवालोंकी तथा करनेवालोंकी स्तुति और निन्दा नहीं करता है ॥ १६ ॥

अपने स्वरूपमें जिसकी आन्तर वृत्ति रमण करती है वह मन, वाणी, कर्मसे न भला-बुरा करे, न सोचे, न कहे, इस प्रकार मुनि जड़के समान संसारमें विचरता है । अर्थात् जो अपने दैहिक कर्ममें भी उदासीन है, वह मुक्त है और अन्य बद्ध है । ये ही सब मुमुक्षुओंके साधन जाननेयोग्य हैं ॥ १७ ॥

जैसे बन्ध्या गायका पालना व्यर्थ है वैसे ही पुरुष वेदमें

शब्दब्रह्मणि निष्णातो न निष्णायात्परे यदि ।
श्रमस्तस्य श्रमफलो ह्यधेनुमिव रक्षतः ॥१८॥
गां दुग्धदोहामसतीं च भार्यां
देहं पराधीनमसत्प्रजां च ।
वित्तं त्वतीर्थीकृतमङ्ग वाचं
हीनां मया रक्षति दुःख-दुःखी ॥१९॥
यस्यां न मे पावनमङ्ग कर्म
स्थित्युद्भवप्राणनिरोधमस्य ।
लीलावतारेप्सितजन्म वा स्या-
द्वन्ध्यां गिरं तां बिभृयान्न धीरः ॥२०॥

पारङ्गत भी हो किन्तु परब्रह्ममें निष्णात (निष्ठा रखनेवाला) न हो, तो उसका परिश्रम व्यर्थ है अर्थात् वह पुरुषार्थ रूपमें परिणत होनेवाला नहीं है ॥ १८ ॥

[इसीको अन्य दृष्टान्तसे भी स्पष्ट करते हैं—] हे उद्धव ! फिर कभी दूध न देनेवाली गायकी, दुराचारिणी स्त्रीकी, पराधीन देहकी, दुष्ट प्रजाकी—वर्णसंकर सन्तानकी या सेवा आदि ऐहिक साधनों और परमेश्वरनिष्ठा और स्वधर्मनिष्ठा आदि पारलौकिक साधनोंसे रहित सन्ततिकी, पात्रको दान न किये गए द्रव्यकी तथा मेरे गुणानुवाद-रहित वाणीकी जो रक्षा करता है, वह उत्तरोत्तर दुःख पाता है ॥ १९ ॥

[अब गुणानुवाद रहित वाणीका विवरण करते हैं—] हे उद्धव ! जिस वाणीसे संसारकी उत्पत्ति-स्थिति-लयके कारण और श्रवणादि करनेवालोंको पवित्र करनेवाले मेरे चरित्रका तथा लीलावतारोंमें जगत्को अभीष्ट मेरे जन्मका गान न हो ऐसी निष्फल वाणीको बुद्धिमान् पुरुष न धारण करे [अर्थात् ऐसे बोलसे मूक रहना ही अच्छा है] ॥ २० ॥

एवं जिज्ञासयाऽपोह्य नानात्वभ्रममात्मनि ।
उपारमेत विरजं मनो मय्यर्प्य सर्वगे ॥२१॥
यद्यनीशो धारयितुं मनो ब्रह्मणि निश्चलम् ।
मयि सर्वाणि कर्माणि निरपेक्षः समाचर ॥२२॥
श्रद्धालुर्मे कथाः शृण्वन् सुभद्रा लोकपावनीः ।
गायन्ननुस्मरन् कर्म जन्म चाऽभिनयन् मुहुः ॥२३॥

[उक्त ज्ञानमार्गका उपसंहार करते हैं—] इस प्रकार निश्चय कर विचारसे जीवात्मामें नानात्वभ्रमको (देवता, मनुष्य आदि देहाध्यासको) दूर कर निर्मल हुए मनको मुझ व्यापक परमात्मामें लगाकर कर्मानुष्ठान और शास्त्राभ्यास आदि कर्मोंसे विरत हो । [तात्पर्य यह है कि केवल शास्त्रपाण्डित्यकी प्रशंसासे कृतकृत्य न हो ।] ॥२१॥

[यदि तुम मुझमें चित्त लगानेमें असमर्थ हो, तो इसे रहने दो मेरी भक्तिसे ही तुम कृतार्थ हो जाओगे, ऐसा कहते हैं—] यदि तुम मुझ ब्रह्ममें मनको निश्चलरूपसे धारण करनेमें असमर्थ हो, तो फलकी अभिलाषाको छोड़कर अपने वर्ण और आश्रमके योग्य कर्मोंको करो । [भाव यह है कि निष्काम कर्म करनेसे हुई शुद्धिसे मन निश्चल हो जायगा। अथवा मेरे लिये सब कर्मोंको करो, इससे कर्मफल नहीं भोगने पड़ेंगे ।] ॥ २२ ॥

[अब तीन श्लोकोंसे यह कहते हैं कि निष्काम कर्मोंको करनेसे परा भक्ति (ज्ञान) प्राप्त होती है—] हे उद्धव ! जो पुरुष लोकोंको पवित्र करनेवाली मेरी परम मङ्गल कथाओंका श्रद्धासे श्रवण करता है, बारम्बार मेरे जन्म और कर्मोंको गाता है एवं उनका स्मरण और अनुकरण करता है ॥ २३ ॥

मदर्थे धर्मकामार्थानाचरन् मदपाश्रयः ।
लभते निश्चलां भक्तिं मय्युद्धव सनातने ॥२४॥
सत्सङ्गलब्धया भक्त्या मयि मां समुपासिता ।
स वै मे दर्शितं सद्भिरञ्जसा विन्दते पदम् ॥२५॥

मेरे निमित्त ही धर्म, अर्थ और कामका सेवन करता हुआ❀ मेरे भरोसेपर रहता है, वह मुझ सब कारणोंके कारणकी निश्चल भक्तिको प्राप्त होता है ॥ २४ ॥

तदनन्तर इस प्रकार सत्सङ्गसे प्राप्त हुई मेरी भक्तिसे वह मेरा निरन्तर ध्यान करता है, ध्यान करनेवाला मेरा भक्त साधुओं द्वारा दिखलाये गये मेरे पदको (स्वरूपको) सुखसे निश्चय प्राप्त करता है ॥ २५ ॥
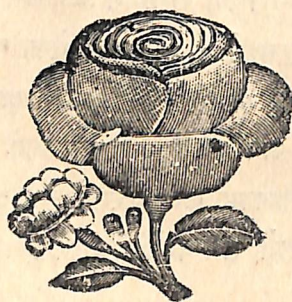
❀ भगवान्‌की प्रीतिके लिए धर्मका आचरण धर्मसेवन है, भगवान्‌की आराधनाके उपयोगी धन आदिका उपार्जन अर्थसेवन है एवं भगवान्‌के प्रसादरूपसे माला, चन्दन, वस्त्र, आभूषण आदिका धारण कामसेवन है ।

पाँचवाँ प्रकरण
साधुओंके लक्षण

उद्धवजीने सत्सङ्ग तथा भक्तिके महत्त्वको सुनकर साधुजनोंके लक्षण तथा सत्सङ्गकी महिमाके विषयमें प्रश्न किया । भगवान् तीस लक्षणोंसे साधुओंका निरूपण करते हैं ।

श्रीभगवानुवाच❀

कृपालुरकृतद्रोहस्तितिक्षुः सर्वदेहिनाम् ।
सत्यसारोऽनवद्यात्मा समः सर्वोपकारकः ॥२९॥
कामैरहतधीर्दान्तो मृदुः शुचिरकिञ्चनः ।
अनीहो मितभुक् शान्तः स्थिरो मच्छरणो मुनिः ॥३०॥
अप्रमत्तो गभीरात्मा धृतिमाञ्जितषड्गुणः ।
अमानी मानदः कल्पो मैत्रः कारुणिकः कविः ॥३१॥

श्रीभगवान्ने कहा—

कृपालु, किसीका भी द्रोह न करनेवाला, क्षमावान्, सत्यशील, असूया आदि दोषोंसे रहित, सुख और दुःखमें समभाव रखनेवाला (हर्ष-शोक न करनेवाला), यथाशक्ति सबका उपकार करनेवाला; ॥२९॥

विषयोंसे चञ्चलचित्त न होनेवाला, जितेन्द्रिय, कोमलचित्त, सदाचारी, परिग्रहत्यागी, सांसारिक तथा पारलौकिक सुखके लिए कर्म न करनेवाला, परिमित भोजन करनेवाला, शान्त, अपने धर्ममें स्थिर, केवल मेरे आश्रयमें रहनेवाला, मननशील; ॥ ३० ॥

सावधान, निर्विकार, धैर्यवान्, देहके छः धर्मोंको (क्षुधा, पिपासा, शोक, मोह, जरा और मृत्युको) जीतनेवाला, अपने सम्मानको न चाहनेवाला, औरोंका सम्मान करनेवाला, उपदेश देनेमें समर्थ, धोखा न देनेवाला, केवल दयासे ही परोपकार करनेवाला, तत्त्वज्ञानयुक्त; ॥३१॥

❀ भा० ११-११-२९ इत्यादि ।

आज्ञायैवं गुणान् दोषान् मयाऽऽदिष्टानपि स्वकान् ।
धर्मान् संत्यज्य यः सर्वान् मां भजेत स सत्तमः ॥३२॥
ज्ञात्वा ज्ञात्वा*ऽथ ये वै मां यावान् यश्चाऽस्मि यादृशः ।
भजन्त्यनन्यभावेन ते मे भक्ततमा मताः ॥३३॥

वेदरूप मेरे द्वारा कहे गये वर्णाश्रम आदि स्वधर्मोंका पालन करनेमें (अन्तःकरणकी शुद्धि आदि) गुण हैं और त्यागमें (नरकपात आदि) दोष हैं ऐसा जानकर भी मेरे ध्यानमें बाधा करनेवाले धर्मका भी त्यागकर जो मेरा भजन करता है, वह साधुओंमें श्रेष्ठ है; ॥३२॥

देश और कालके परिच्छेदसे रहित, सर्वात्मा, सच्चिदानन्दरूप मुझको (सामान्यरूपसे) जानकर फिर मनन आदि द्वारा विशेषरूपसे जानकर (पाठान्तरमें यथार्थरूपसे जानकर या न जानकर) अनन्यभावसे जो मेरा भजन करते हैं, उनको मैं सबसे उत्तम भक्त मानता हूँ ॥३३॥

* 'ज्ञात्वाऽज्ञात्वाऽथ' ऐसा पाठान्तर भी उपलब्ध होता है ।

छठा प्रकरण

भक्तिके लक्षण

साधुओंके लक्षण कहकर अब भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रजी भक्तिके लक्षण* कहते हैं—

श्रीभगवानुवाच†

मल्लिङ्गमद्भक्तजनदर्शनस्पर्शनार्चनम् ।
परिचर्या स्तुतिः प्रह्वगुणकर्मानुकीर्तनम् ॥३४॥
मत्कथाश्रवणे श्रद्धा मदनुध्यानमुद्धव ।
सर्वलाभोपहरणं दास्येनाऽऽत्मनिवेदनम् ॥३५॥
मज्जन्मकर्मकथनं मम पर्वानुमोदनम् ।
गीतताण्डववादित्रगोष्ठीभिर्मद्गृहोत्सवः ॥३६॥
यात्रा बलिविधानं च सर्ववार्षिकपर्वसु ।
वैदिकी तान्त्रिकी दीक्षा मदीयव्रतधारणम् ॥३७॥

श्रीभगवान्ने कहा—

मेरी प्रतिमाओं तथा मेरे भक्तोंका दर्शन, स्पर्शन, पूजन, सेवा, स्तुति, नम्रता, गुण और कर्मोंका कीर्तन; ॥ ३४ ॥

मेरी कथा सुननेमें श्रद्धा, मेरा ध्यान, जो मिले उसे मेरे लिये अर्पण करना, दास्यभावसे अपने शरीरतकको मेरे अर्पण करना ॥३५॥

मेरे जन्म और कर्मोंका कथन करना, मेरे जन्माष्टमी आदि उत्सवोंका अनुमोदन करना, मेरे मन्दिरमें गाना, बजाना, नाचन इत्यादिसे उत्सव मनाना ॥ ३६ ॥

मेरे दर्शन करनेके लिए यात्रा करना, प्रत्येक वर्षमें होनेवाले पर्वोंमें

---

* ये लक्षण उन्नीसवें अध्यायके श्लोक १९ से ३६ तक फिर भी भगवान् द्वारा कहे गये हैं । विशेष जिज्ञासु जनोंको उन्हें उसी स्थलमें देखना चाहिये ।

† भा० ११-११-३४ इत्यादि ।

ममाऽर्चास्थापने श्रद्धा स्वतः संहत्य चोद्यमः ।
उद्यानोपवनाक्रीडपुरमन्दिरकर्मणि ॥३८॥
संमार्जनोपलेपाभ्यां सेकमण्डलवर्तनैः ।
गृहशुश्रूषणं मह्यं दासवद्यदमायया ॥३९॥
अमानित्वमदम्भित्वं कृतस्याऽपरिकीर्तनम् ।
अपि दीपावलोकं मे नोपयुञ्ज्यान्निवेदितम् ॥४०॥

(जन्माष्टमी, एकादशी आदिमें) विशेषरूपसे फल, पुष्प, माला आदि चढ़ाना, वैदिक अथवा तान्त्रिक दीक्षा लेना, मेरे एकादशी आदि व्रतोंको करना; ॥ ३७ ॥

मेरी मूर्तिके स्थापनमें श्रद्धा करना, मेरे निमित्त बाग, बगीचा, विहारके स्थान, नगर और मन्दिर बनवानेके लिए सामर्थ्य होनेपर स्वयं, सामर्थ्य न होनेपर दूसरोंसे मिलकर उद्योग करना, ॥ ३८ ॥

मेरे मन्दिरको निष्कपट होकर भृत्यके समान झाड़ना, लीपना, पानी छिड़कना, सर्वतो भद्र बनाना (ऐपन देना) आदिसे सुसज्जित करना; ॥ ३९ ॥

अभिमान रहित रहना, पाखण्ड न करना, अपने किये (पूजा आदि) का बखान न करना, अन्य द्वारा मेरे अर्पण की हुई दीपक या अन्न आदि वस्तुको अपने काममें न लावे । भाव यह है कि अन्य पुरुष द्वारा भगवान्‌को समर्पित वस्तुका स्वयं उपभोग न करे । यह निषेधवचन साधारण स्थावर सम्पत्तिके विषयमें है; या लोभसे देवार्पित प्रसाद आदि वस्तुके ग्रहणके विषयमें है। भक्तिसे तो भगवान्‌का प्रसाद लेना ही चाहिये, क्योंकि सब शास्त्रोंमें भगवान्‌के प्रसाद, निर्माल्य आदिका ग्रहण मोक्षप्रद कहा गया है❀ ।

❀ षड्भिर्मासोपवासैस्तु यत्फलं परिकीर्त्तितम् ।
विष्णोर्नैवेद्यसिक्थेन पुण्यं तद्भुञ्जतां कलौ ॥

यद्यदिष्टतमं लोके यच्चाऽतिप्रियमात्मनः ।
तत्तन्निवेदयेन्मह्यं तदानन्त्याय कल्पते ॥४१॥
सूर्योऽग्निर्ब्राह्मणो गावो वैष्णवः खं मरुज्जलम् ।
भूरात्मा सर्वभूतानि भद्र पूजापदानि मे ॥४२॥
सूर्ये तु विद्यया त्रय्या हविषाऽग्नौ यजेत माम् ।
आतिथ्येन तु विप्राग्र्ये गोष्वङ्ग यवसादिना ॥४३॥
वैष्णवे बन्धुसत्कृत्या हृदि खे ध्याननिष्ठया ।
वायौ मुख्यधिया तोये द्रव्यैस्तोयपुरस्कृतैः ॥४४॥

अथवा यह भी इसका अर्थ हो सकता है कि अन्यके लिये दिये गये दीपक आदि पदार्थोंको मेरे अर्पण न करे ।] ॥ ४० ॥

संसारमें जो जो अभीष्ट पदार्थ हों और जो अपनेको अतिप्रिय लगते हों, उनको मेरे अर्पण करे । उनको मेरे अर्पण करना अनन्त फल देनेवाला होता है ॥ ४१ ॥

[अब पूजाके ग्यारह अधिष्ठानोंका निरूपण करते हैं—] हे भद्र ! सूर्य, अग्नि, ब्राह्मण, गाय, विष्णुभक्त, हृदयाकाश, वायु, जल, पृथिवी, आत्मा और सम्पूर्ण प्राणी मेरी पूजाके स्थान हैं ॥ ४२ ॥

[तीन श्लोकोंसे अधिष्ठानभेदसे पूजाके साधनोंको कहते हैं—] वेदत्रयी द्वारा (सूक्तोंसे उपस्थान आदि द्वारा) सूर्यमें मेरी पूजा करे घृतादिसे अग्निमें, आतिथ्यसत्कारसे उत्तम ब्राह्मणमें, तृणादिके अर्पणसे गायमें; ॥ ४३ ॥

बन्धुके समान सत्कारसे विष्णुभक्तमें, ध्यानसे हृदयाकाशमें, प्राणदृष्टिसे वायुमें, तर्पणादिविधिसे जल आदिसे जलमें; ॥४४॥

हृदि रूपं मुखे नाम नैवेद्यमुदरे हरेः ।
पादोदकं च निर्माल्यं मस्तके यस्य सोऽच्युतः ॥ इत्यादिसे ।

स्थण्डिले मन्त्रहृदयैर्भोगैरात्मानमात्मनि ।
क्षेत्रज्ञं सर्वभूतेषु समत्वेन यजेत माम् ॥४५॥
धिष्ण्येष्वेष्विति मद्रूपं शङ्खचक्रगदाम्बुजैः ।
युक्तं चतुर्भुजं शान्तं ध्यायन्नर्चेत्समाहितः ॥४६॥
इष्टापूर्तेन मामेवं यो यजेत समाहितः ।
लभते मयि सद्भक्तिं मत्स्मृतिः साधुसेवया ॥४७॥
प्रायेण भक्तियोगेन सत्संगेन विनोद्धव ।
नोपायो विद्यते सध्र्यङ्प्रायणं हि सतामहम् ॥४८॥

रहस्यमन्त्रोंके न्याससे भूमिमें, न्यायोपार्जित विषयभोगसे देहादि-संघातमें और समदृष्टिसे सब प्राणियोंमें क्षेत्रज्ञरूपी मेरा पूजन करे ॥ ४५॥

इन अधिष्ठानोंमें शङ्ख, चक्र, गदा और कमलसे युक्त चार भुजा-वाले शान्त मेरे स्वरूपका ध्यान करते हुए एकाग्रचित्त होकर मेरा पूजन करे ॥ ४६ ॥

जो पुरुष एकाग्रचित्त होकर इष्ट, यज्ञ आदि वैदिक कर्म और पूर्त (कुआँ बनाना आदि स्मार्त कर्म) से यों मेरी पूजा करता है, वह परम प्रेमरूपी मेरी भक्तिको पाता है और तदनन्तर सत्सङ्गसे तत्त्वज्ञान प्राप्त करता है ॥ ४७ ॥

[ज्ञानमार्ग और भक्तिमार्ग कहे गये, अब ज्ञानमार्गसे भक्तिमार्ग सुगम है, यह कहते हैं—] प्रायः सत्सङ्गसे लब्ध भक्तियोगके बिना मेरी प्राप्तिका दूसरा सुगम मार्ग नहीं है, क्योंकि मैं सत्पुरुषोंका श्रेष्ठ आश्रय हूँ; अतः सत्सङ्ग मेरी भक्तिका अन्तरङ्ग साधन है। भाव यह कि ज्ञानमार्गसे भी भक्तियोग अत्यन्त श्रेष्ठ है ॥ ४८ ॥

सातवाँ प्रकरण

आत्मा तथा अनात्माका विवेक और योगरहस्य

परम गुरु भगवान् श्रीकृष्णजीने अपने सेवक और बन्धु उद्धवजी-से अतिगोप्य सत्सङ्गकी महिमा अपने आप कही, क्योंकि कल्याण-पथमें सत्सङ्गके सिवा दूसरा निश्चित तथा सरल साधन नहीं है। इस विषयमें अनेक उदाहरण सुसम्पन्न 'भागवत-स्तुतिसंग्रह' ग्रंथमें भरे पड़े हैं। उन भक्तोंमें गोपिकाएँ यद्यपि स्त्रियाँ थीं और वेदाध्ययन, तप, शम, दम इत्यादि साधनोंसे रहित भी थीं तथापि केवल सत्सङ्ग-से साक्षात् भगवान्को प्राप्त हुईं। वे भगवान्में बुद्धि लगानेसे एकाग्र-चित्त हुईं। गोपियोंको समाधिस्थ मुनियोंके समान अपनी देह और इस दृश्यमान संसारका ज्ञान नहीं रहा। वे सब विषयोंको छोड़कर, मुझको जारबुद्धिसे जानकर परब्रह्मस्वरूप मुझको प्राप्त हुईं।

इस प्रकार उपदेश देकर भगवान्ने उद्धवसे कहा—तुम सब विहित और निषिद्ध कर्मोंका तथा सुननेयोग्य और सुने हुए सब विषयोंका त्याग करके सब प्रकारसे मेरी शरणमें आओ। भगवान्ने पहले 'मेरे द्वारा वर्णित वर्णाश्रम धर्मोंका एकाग्र मनसे अनुष्ठान करे' इत्यादिसे कर्मको कर्तव्य बतलाया पर अब सब छोड़कर मेरे शरणमें आओ ऐसा कह रहे हैं। उद्धवजी कहते हैं कि आपके वाक्यको सुनकर मेरा आत्मविष-यक सन्देह (आत्मामें कर्तृत्व है या नहीं ऐसा सन्देह) अथवा मेरे मनमें विद्यमान सन्देह (कर्मका त्याग कर देना चाहिये या अनुष्ठान करना चाहिये ऐसा सन्देह) नहीं जा रहा है। इसलिये कृपया आप मेरे उक्त सन्देहको निवृत्त कीजिये।

उद्धवके यों प्रार्थना करनेपर भगवान् कहते हैं—ईश्वर अपनी मायासे प्रपञ्चरूपसे भासता है। उस प्रपञ्चके अध्याससे जीवोंको अनादि अविद्या द्वारा कर्तृत्वादि धर्म प्राप्त होते हैं और तदनन्तर

विधिनिषेध कर्मका अधिकार प्राप्त होता है। ऐसी परिस्थितिमें अन्तःकरणकी शुद्धिके लिए कर्म करने चाहियें। अन्तःकरणके शुद्ध हो जानेपर विक्षेप करनेवाले कर्मोंमें आदर छोड़कर, दृढ़ विश्वाससे, मेरा भजन करना चाहिये।

तदनन्तर भक्तिसे तीक्ष्ण किये गये विद्यारूपी कुठारसे जीवके उपाधिरूप लिङ्गशरीरको काटकर विवेकी पुरुष आत्माको प्राप्त करता है।

शङ्का—तम आदि तीन गुणोंकी वृत्तिरूप प्रतिबन्ध जबतक रहता है तबतक कैसे ज्ञानकी उत्पत्ति होगी?

समाधान—सात्त्विक पदार्थोंका सेवन करनेसे, एवं सात्त्विक उपासनासे सत्त्व गुणकी उत्पत्ति होती है, तदनन्तर शेष दो गुणोंका तिरस्कार होनेपर ज्ञान उत्पन्न होता है।

शङ्का—गुणोंकी वृद्धि स्वभावसे अर्थात् पूर्व जन्मके संस्कारोंसे होती है और स्वभावको कोई छोड़ नहीं सकता, तब कैसे सत्त्वगुणकी वृद्धि होगी? कहा भी है सम्पूर्ण पदार्थोंको अतिक्रमण करके स्वभाव ही प्रधान रहता है।

समाधान—ठीक है, किन्तु गुणकी वृद्धिके और भी कारण हैं जैसे—विधि-निषेधशास्त्र; निवृत्तिपरक और प्रवृत्तिपरक पुरुषोंका सङ्ग; विविक्त देशका (काशी आदिका) सेवन अथवा राजमार्ग, जुआ आदिका अवलम्बन, प्रातःकाल अथवा अर्धरात्रका सेवन, वेदोक्त नित्य कर्म अथवा काम्य—मारण, उच्चाटन आदि कर्म, ब्राह्मण आदि सत्कुलोंमें अथवा नीचयोनिमें जन्म, विष्णु अथवा स्त्रीका ध्यान, प्रणवादि मन्त्रका जप अथवा भूत, प्रेत आदिके मन्त्रका जप, अन्तःकरण-के शोधक अथवा गृहादिके शोधक संस्कार, तीर्थोदक (गङ्गाजल) अथवा सुगन्धित जल या मद्यादिरूप जलका सेवन, ये देश तीनों गुणोंकी उत्पत्तिके कारण हैं। विशेष प्रयत्न करनेपर ये गुण प्रकट होते हैं या

दब जाते हैं, इस कारण विवेकी पुरुष सत्त्वगुणकी वृद्धि करनेवाले कारणोंका विवेकपूर्वक सेवन करे।

प्रश्न—ज्ञान तो महावाक्यादिके श्रवण करनेसे होता है, ऐसी अवस्थामें सत्त्वकी वृद्धि अथवा धर्मसे क्या होगा ?

समाधान—जबतक आत्मा परोक्ष है और जबतक स्थूल एवं सूक्ष्म दोनों देह और उनके कारणभूत गुणोंमें मोह है तबतक सत्त्वगुणकी वृद्धिका प्रयत्न करते रहना चाहिये।

शङ्का—शरीर गुणोंके मेलसे उत्पन्न होता है, ऐसी अवस्थामें वह अपने आश्रयभूत गुणोंका अपनेसे उत्पन्न हुई विद्यासे निरास करके स्वयं भी कैसे उपरत होगा ?

समाधान—जैसे बाँसोंकी रगड़से उत्पन्न हुई अग्नि अपनेसे उत्पन्न हुई ज्वालाओंसे सम्पूर्ण बनको जलाकर स्वयं भी शान्त हो जाती है; वैसे ही गुणोंके मेलसे उत्पन्न हुआ शरीर अपनेसे ही उत्पन्न हुए ज्ञानसे अपने कारणभूत गुणोंका निरास करके आप भी शान्त हो जाता है।

शङ्का—जितेन्द्रिय होकर यदि सात्त्विक पदार्थोंका सेवन करना पुरुषार्थ है, तो यह जानते हुए भी राजस पदार्थोंसे दुःख होता है मनुष्य उनका क्यों सेवन करता है ? (जैसे गीता (३।३६) में पूछा है 'अथ केन प्रयुक्तोऽयम्' इत्यादि)। यहाँ यह विचार है कि जब अविवेकी पुरुषकी देहादिमें 'मैं' ऐसी मिथ्या बुद्धि होती है, तब सत्त्वगुणप्रधान मनमें रजोगुण व्याप्त होता है, और रजोगुणयुक्त मनमें यह सङ्कल्प होता है—'यह इस प्रकार भोग्य है'। फिर गुणोंका चिन्तन करता है—'अहो यह कैसा रूप है ? यह कैसा मधुर है ?' तब भोगकी दुःसह उत्कट इच्छा उत्पन्न होती है। अन्तमें विषयोंके भोगनेके निमित्त कर्म करता है और दुःखको प्राप्त होता है। तथापि विवेकी पुरुष मनका निरोध करके विषयोंमें आसक्त नहीं

श्रीभगवानुवाच❀

गुणेष्वाविशते चेतो गुणाश्चेतसि च प्रजाः ।
जीवस्य देह उभयं गुणाश्चेतो मदात्मनः ॥२५॥
गुणेषु चाऽविशच्चित्तमभीक्ष्णं गुणसेवया ।
गुणाश्च चित्तप्रभवा मद्रूप उभयं त्यजेत् ॥२६॥

होता है । मनके निरोधके उपाय जो भगवान्‌ने पहले कल्पमें हंसरूप-से कहे थे, उनको अब फिर कहते हैं ।†

[नीचे लिखी टिप्पणीमें निर्दिष्ट सनकादिके प्रश्नका उत्तर कहते हैं—] हे पुत्रो ! यद्यपि चित्त विषयोंमें जाता है और विषय चित्तमें प्रवेश करते हैं, तथापि ये दोनों (विषय और चित्त) ब्रह्मरूप जीवकी उपाधि हैं, स्वरूप नहीं हैं। वास्तवमें उसका स्वरूप ब्रह्म ही है । [अभिप्राय यह है कि यदि कर्तृत्व, भोक्तृत्वरूपसे विषयोंसे गुथा हुआ चित्त जीवका स्वरूप हो, तो एकका दूसरेसे वियोग नहीं होगा, परन्तु जीवका वास्तविक स्वरूप ब्रह्म है और अध्याससे वह विषयोंमें ग्रथित हो रहा है, इस कारण अपनेमें ब्रह्मकी भावना करनेसे तथा विषयोंको मिथ्या समझनेसे और भगवान्‌को भजनेसे उसकी (जीवकी) परिपूर्ण ब्रह्ममें स्थिति होती है ।] ॥२५॥

निरन्तर विषयोंका सेवन करनेसे चित्त उन विषयोंमें लग जाता है और वे विषय वासनारूपसे चित्तमें तीव्रतासे प्रवेश करते हैं; इन दोनोंको मेरे स्वरूपका साक्षात् करके त्याग दे ॥ २६ ॥

❀ भा० ११-१३-१८ इत्यादि ।

† एक समय सनकादि ऋषियोंने ब्रह्माजीसे प्रश्न किया कि चित्त स्वभाव हीसे विषयोंमें आसक्त रहता है और अनुभव किये हुए विषय भी वासनारूपसे चित्तमें प्रवेश करते हैं, ऐसी परिस्थितिमें मुमुक्षुके चित्तका और विषयोंका वियोग कैसे हो सकता है ? उस समय ब्रह्माजीका ध्यान कर्मोंमें लगा हुआ था, इसलिये विचार करनेपर भी वे इसका उत्तर न दे सके । तब ब्रह्माजीने प्रश्नका उत्तर जाननेके लिए भगवान्‌का ध्यान किया और भगवान्‌ने हंसरूपसे प्रकट होकर सनकादिको उपदेश दिया । वही यहाँपर कहा गया है ।

जाग्रत्स्वप्नः सुषुप्तं च गुणतो बुद्धिवृत्तयः ।
तासां विलक्षणो जीवः साक्षित्वेन विनिश्चितः ॥२७॥
यर्हि संसृतिबन्धोऽयमात्मनो गुणवृत्तिदः ।
मयि तुर्ये स्थितो जह्यात्त्यागस्तद्गुणचेतसाम् ॥२८॥
अहङ्कारकृतं बन्धमात्मनोऽर्थविपर्ययम् ।
विद्वान्निर्विद्य संसारचिन्तां तुर्ये स्थितस्त्यजेत् ॥२९॥
यावन्नानार्थधीः पुंसो न निवर्त्तेत युक्तिभिः ।
जागर्त्यपि स्वपन्नज्ञः स्वप्ने जागरणं यथा ॥३०॥

[शङ्का—जाग्रदादि अवस्थायुक्त जीव किस प्रकार कूटस्थ ब्रह्म-स्वरूप हो सकता है ? समाधान—] जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति—ये अवस्थाएँ सत्त्वादि गुणोंके कारण होती हैं और ये बुद्धिकी वृत्तिमात्र हैं अर्थात् स्वाभाविक नहीं हैं। जीव तो उनसे विलक्षण है, यह निश्चय किया गया है; क्योंकि वह उनका साक्षी है ॥ २७ ॥

[शङ्का—तब 'मैं जागता हूँ' और 'मैं सोता हूँ' इत्यादि प्रतीति कैसे होती है ? समाधान—] बुद्धिका किया हुआ यह जाग्रत्, स्वप्नावस्थारूप अध्यास है और यह आत्माके बन्धनका कारण है। इसलिये तुरीयावस्थारूप मुझमें स्थित होकर बन्धनका त्याग करे, तदनन्तर विषय और चित्तका आपसमें वियोग हो जाता है ॥ २८ ॥

[अब यह कहते हैं कि संसृतिसे बन्ध कैसे होता है और उस बन्धका किस प्रकार त्याग करे—] अहङ्कार (देहमें आत्माके अभिमान) द्वारा किया गया बन्धन अपने परमानन्दादि धर्मोंको ढककर अनर्थका कारण होता है, ऐसा जाननेवाला (विद्वान्) विषयोंसे विरक्त होकर और मुझ तुरीयमें एकता पाकर संसारके कारण देहादि-का अभिमान और उसके निमित्त भोगकी चिन्ताको त्याग दे॥२९॥

जबतक पुरुषकी भेदबुद्धि गुरुके उपदेश और शास्त्रके अभ्यास-

असत्त्वादात्मनोऽन्येषां भावानां तत्कृता भिदा ।
गतयो हेतवश्चाऽस्य मृषा स्वप्नदृशो यथा ॥३१॥
यो जागरे बहिरनुक्षणधर्मिणोऽर्था-
न्भुङ्क्ते समस्तकरणैर्हृदि तत्सदृक्षान् ।
स्वप्ने सुषुप्त उपसंहरते स एकः
स्मृत्यन्वयात्त्रिगुणवृत्तिदृगिन्द्रियेशः ॥३२॥

से उत्पन्न युक्तियोंसे दूर नहीं होती तबतक आत्मज्ञानसे रहित वह पुरुष जागता हुआ भी स्वप्नद्रष्टाके समान है अर्थात् जैसे स्वप्नमें जाग्रत् अवस्था दिखायी देती है वैसे ही अज्ञानी पुरुष जागता हुआ भी स्वप्न देखनेवालेके समान है ॥ ३० ॥

[शङ्का—वेदप्रतिपादित वर्णाश्रम-कर्म आदि भेदबुद्धि किस प्रकार निवृत्त हो सकती है ? समाधान—] आत्मासे अतिरिक्त देव, मनुष्य आदि शरीर मिथ्या हैं और उनसे किया गया वर्णाश्रम आदि भेद, स्वर्गादि फल और उन फलोंको देनेवाले कर्म भी मिथ्या हैं, जिस प्रकार कि स्वप्न देखनेवालेकी गति आदि मिथ्या हैं। [भाव यह है कि वेद अविद्वान्के लिये है] ॥ ३१ ॥

तीसवें श्लोकमें कही गयी युक्तियोंको दिखलाते हैं—] जो जाग्रत् अवस्थामें अपनी इन्द्रियोंसे बाहरके क्षणिक पदार्थोंको भोगता है (अर्थात् जो बाल्य, तारुण्य आदि धर्मोंको धारण करता है) जो स्वप्न अवस्थामें मनसे वासनामय पदार्थोंको भोगता है और जो सुषुप्तिमें उन सब विषयोंका उपसंहार करता है, वही तीनों अवस्थाओंका एक द्रष्टा है । [शङ्का—यदि जाग्रद् अवस्थाको इन्द्रियाँ देखती हैं, स्वप्नको मन देखता है और सुषुप्ति अवस्थाको जाग्रत्–स्वप्नावस्थाओंसे शेष रहे हुए संस्कारोंसे युक्त बुद्धि देखती है, तो आत्मा कैसे उनका द्रष्टा है ? समाधान—) वह आत्मा इन्द्रियादिका स्वामी है। [पूर्वपक्ष—

एवं विमृश्य गुणतो मनसस्त्र्यवस्था
मन्मायया मयि कृता इति निश्चितार्थाः ।
संछिद्य हार्दमनुमानसदुक्तितीक्ष्ण-
ज्ञानासिना भजत माऽखिलसंशयाधिम् ॥ ३३ ॥
ईक्षेत विभ्रममिदं मनसो विलासं
दृष्टं विनष्टमतिलोलमलातचक्रम् ।
विज्ञानमेकमुरुधेव विभाति माया
स्वप्नस्त्रिधा गुणविसर्गकृतो विकल्पः ॥ ३४ ॥

इन्द्रियोंके स्वामी विश्व, तैजस और प्राज्ञके भेदसे भिन्न हैं, ऐसी अवस्थामें एक द्रष्टा है कैसे ? समाधान—तीनों अवस्थाओंकी घटनाओंका एक ही द्रष्टा स्मरण करता है, इस कारण वह एक है, (क्योंकि जिसने स्वप्न देखा और जिसने सुषुप्तिमें कुछ नहीं देखा वही 'मैं' अब जाग रहा हूँ, ऐसी स्मृतिसे तीनों अवस्थाओंमें एक हीका अन्वय है; इससे सिद्ध होता है कि उपाधिभेदसे विश्व आदि नामोंसे कहा जानेवाला वह एक ही आत्मा है। इसी प्रकार यह जाननेसे बाल्य, यौवन आदि अवस्थाओंमें भी एक ही आत्मा है, इसका प्रतिसन्धान होता है ॥ ३२ ॥

इस प्रकार विचारसे ये तीनों मनकी अवस्थाएँ गुणोंसे हुई हैं और वे मेरी मायासे मेरे अंशभूत जीवकी होती हैं, किन्तु वास्तवमें मिथ्या हैं । ऐसा आत्मतत्त्वका निश्चय करनेवाले तुम अनुमानसे, साधुओंके वचनोंसे और श्रुतिसे तीखी की हुई ज्ञानरूप तलवारसे सब संशयोंके अधिष्ठान अहङ्कारको काटकर अपने हृदयमें विराजमान मेरा सेवन करो ॥ ३३ ॥

[अनुमानोंको दिखलाते हैं—] यह जगत् भ्रान्तिमात्र है—क्योंकि स्वप्नके समान मनसे कल्पित, दृश्य और नश्वर है—और अलातचक्र (बनेंठी) के समान अति चञ्चल है । [पूर्वपक्ष—तब

दृष्टिं ततः प्रतिनिवर्त्य निवृत्ततृष्ण-
स्तूष्णीं भवेन्निजसुखानुभवो निरीहः ।
संदृश्यते क्व च यदीदमवस्तुबुद्ध्या
त्यक्तं भ्रमाय न भवेत्स्मृतिरानिपातात् ॥३५॥
देहं च नश्वरमवस्थितमुत्थितं वा
सिद्धो न पश्यति यतोऽध्यगमत्स्वरूपम् ।

तो निर्विषयक भ्रान्ति नहीं होगी ? समाधान—] एक विज्ञान ही भ्रमसे अनेक प्रकारका भासता है। अथवा ब्रह्म भ्रान्तिका अधिष्ठान है और भ्रान्तिके समय अनेक प्रकारका भासता है, जिस प्रकार आकाशतल कटाह-रूप और मलिनता आदि रूपोंसे भासता है, इस कारण गुणोंसे परिणामको प्राप्त हुआ विज्ञान शरीर, इन्द्रिय और अन्तःकरणरूपसे तीन प्रकारका मायासे कल्पित है ॥ ३४ ॥

[देहादि सब पदार्थ आत्मामें कल्पित हैं] इसलिये दृश्य (देहादि) से दृष्टि लौटा कर अर्थात् उनमें 'मैं और मेरा' अभिमान छोड़कर अपने सुखस्वरूपका अनुभव करना चाहिये (और उस सुखकी निश्चलताके निमित्त) सम्पूर्ण कामनाओं और शरीरके व्यापारोंका त्याग कर देना चाहिये । [पूर्वपक्ष—सर्वथा द्वैतदृष्टि न रहनेसे देहकी स्थिति न रहेगी और देहकी स्थितिके लिये आहारादिकी आवश्यकता है और उनका सञ्चय करनेसे पुनः संसार प्राप्त होगा । समाधान—] यद्यपि जीवन्मुक्तको आवश्यक आहारादिके समय द्वैत-दृष्टि आती है तथापि तुच्छ समझ कर त्यागा हुआ द्वैत उसको मोहित नहीं कर सकता है; किन्तु देहका अन्त होने तक उसको देहका केवल स्मरण रहता है अर्थात् केवल संस्कारमात्रसे भान रहता है ॥ ३५॥

[इसीका प्रतिपादन करते हैं—] जैसे मदिरासे उन्मत्त पुरुष यह नहीं जानता कि वह अपने वस्त्रको पहने हुए है या वह कहीं

दैवादपेतमुत दैववशादुपेतं
वासो यथा परिकृतं मदिरामदान्धः ॥३६॥
देहोऽपि दैववशगः खलु कर्म याव-
त्स्वारम्भकं प्रति समीक्षत एव सासुः ।
तं सप्रपञ्चमधिरूढसमाधियोगः
स्वाप्नं पुनर्न भजते प्रतिबुद्धवस्तुः ॥३७॥

गिर पड़ा है वैसे ही जीवन्मुक्त पुरुष भी यह अनुसन्धान नहीं रखता कि जिस देहसे उसने आत्मज्ञान पाया है, वह नाशवान् देह प्रारब्ध कर्मवश आसनपर बैठा है या खड़ा है अथवा वहाँसे किसी दूसरी ओर चला गया या जाकर लौट आया ॥ ३६ ॥

[यदि यह शङ्का हो कि उपेक्षा करनेपर देहका अन्त हो जायगा, इसपर कहते हैं—] इसमें सन्देह नहीं है कि प्राणेन्द्रिय सहित यह देह जबतक प्रारब्ध कर्मोंका क्षय नहीं होता तबतक जीवित रहेगा ही । [पूर्वपक्ष—तब तो उसमें किसी समय आसक्ति हो ही जायगी ? समाधान—] जिसने समाधिपर्यन्त योगसाधन किया है और परमार्थ वस्तुको जान लिया है, वह पुरुष स्वप्नके देहके समान स्त्री, पुत्र, धन आदि सहित इस देहमें आसक्ति नहीं रखता है ॥ ३७ ॥

छठा अध्याय

कल्याणके साधन

पहला प्रकरण

भक्ति

जिनका चित्त भगवान्‌की मायासे मोहित हो गया है, वे अपनी रुचि और कर्मोंके अनुसार कल्याण और उसके साधनोंका प्रतिपादन करते हैं। जैसे—मीमांसक कहते हैं कि स्वर्गप्राप्ति ही फल है और धर्म ही उसका साधन है; अलङ्कार शास्त्रके जाननेवाले यशको, वात्स्या-यनादि कामको और कोई कोई लोग सत्य, शम, दम, विषयभोग, यज्ञ, तप और दानको ही कल्याणका साधन कहते हैं। इसपर उद्धवजी प्रश्न करते हैं—क्या उनमें से सब ही मुख्य हैं अथवा कोई एक मुख्य है अन्य उसके अवान्तर भेद हैं? श्रीभगवान् इन सब साधनोंको परिणाममें दुःख और मोहमें डालनेवाले, तुच्छ आनन्दयुक्त शोकसे भरे हुए और आदि-अन्तवाले मानकर भक्तिको ही मुख्य साधन कहते हैं।

श्रीभगवानुवाच❀

मय्यर्पितात्मनः सभ्य निरपेक्षस्य सर्वतः ।
मयाऽऽत्मना सुखं यत्तत्कुतः स्याद्विषयात्मनाम् ॥१२॥

श्रीभगवान् बोले—

हे सभ्य ! मुझमें चित्त लगाकर सब ओर आसक्ति रहित भक्तों-को परमानन्दरूपसे स्फुरित हो रहे मुझसे जो सुख होता है वह विषय-लोलुप पुरुषोंको कहाँसे मिलेगा ? ॥ १२ ॥

❀ भा० ११-१४-१२ इत्यादि।

अकिञ्चनस्य दान्तस्य शान्तस्य समचेतसः ।
मया सन्तुष्टमनसः सर्वाः सुखमया दिशः ॥१३॥
न पारमेष्ठ्यं न महेन्द्रधिष्ण्यं
न सार्वभौमं न रसाधिपत्यम् ।
न योगसिद्धीरपुनर्भवं वा
मय्यर्पितात्मेच्छति मद्विनाऽन्यत् ॥१४॥
न तथा मे प्रियतम आत्मयोनिर्न शङ्करः ।
न च संकर्षणो न श्रीर्नैवाऽऽत्मा च यथा भवान् ॥१५॥
निरपेक्षं मुनिं शान्तं निर्वैरं समदर्शनम् ।
अनुव्रजाम्यहं नित्यं पूयेयेत्यङ्घ्रिरेणुभिः ॥१६॥

जो परिग्रहशून्य, जितेन्द्रिय, शान्त, समबुद्धि और मेरी प्राप्तिसे सन्तुष्टचित्तवाले हैं, उन भक्तोंके लिए चारों दिशाओंमें आनन्द ही आनन्द है। [आनन्दमय परमात्माकी प्राप्ति होनेपर सदा और सर्वत्र आनन्दके सिवा और क्या प्राप्त हो सकता है ?] ॥ १३ ॥

मुझमें दत्तचित्त भक्त, मुझे छोड़कर ब्रह्मपद, स्वर्गका राज्य, चक्रवर्ती राज्य, पातालका राज्य, योगसिद्धि और मोक्षकी भी इच्छा नहीं करते हैं । भाव यह है कि मैं ही उनका प्रियतम हूँ ॥१४॥

[अब दो श्लोकोंसे कहते हैं कि भक्त ही मेरा प्रिय है–] जैसे मुझे तुम (भक्त) अतिप्रिय हो, वैसे मेरे पुत्र ब्रह्मा, साक्षात् मेरे स्वरूप शङ्कर, मेरे भ्राता बलराम, मेरी पत्नी लक्ष्मी और मेरी मूर्ति भी मुझे प्रिय नहीं है ॥ १५ ॥

मैं निरपेक्ष, शान्त, निर्वैर और सर्वदर्शी मुनि (भक्त) के पीछे-पीछे इस कारण नित्य जाता हूँ कि उसके चरणरजसे मैं अपने अन्तर्गत ब्रह्माण्डोंको पवित्र करूँ ॥ १६ ॥

निष्किञ्चना मय्यनुरक्तचेतसः
शान्ता महान्तोऽखिलजीववत्सलाः ।
कामैरनालब्धधियो जुषन्ति यत्
तन्नैरपेक्ष्यं न विदुः सुखं मम ॥१७॥
बाध्यमानोऽपि मद्भक्तो विषयैरजितेन्द्रियः ।
प्रायः प्रगल्भया भक्त्या विषयैर्नाऽभिभूयते ॥१८॥
यथाऽग्निः सुसमिद्धार्चिः करोत्येधांसि भस्मसात् ।
तथा मद्विषया भक्तिरुद्धवैनांसि कृत्स्नशः ॥१९॥
न साधयति मां योगो न सांख्यं धर्म उद्धव ।
न स्वाध्यायस्तपस्त्यागो यथा भक्तिर्ममोर्जिता ॥२०॥

मुझमें अनुरक्तचित्त, परिग्रहशून्य, शान्त, सब प्राणियोंपर दया करनेवाले एवं अभिमानरहित भक्त निरपेक्षोंको प्राप्त होनेवाले जिस सुखको भोगते हैं, उसको वे ही जानते हैं, वह दूसरे किसीके जाननेमें नहीं आता ॥ १७॥

[अब दो श्लोकोंसे कहते हैं कि मेरा प्राकृत भक्त भी कृतार्थ है—] इन्द्रियोंको वशमें न करनेके कारण विषयोंकी ओर खींचा जाता हुआ भी मेरा भक्त अपनी भक्तिकी सामर्थ्यसे प्रायः विषयोंसे तिरस्कार नहीं पाता है ॥ १८ ॥

हे उद्धव ! जैसे भोजन बनाने आदिके लिए जलाई गई भली भाँति प्रज्वलित अग्नि काष्ठोंको जलाकर भस्म कर देती है, वैसे ही काम, द्वेष आदिसे भी किसी प्रकार की गई मेरी भक्ति सम्पूर्ण पातकोंको भस्म कर देती है ॥१९॥

[अब दो श्लोकोंसे कहते हैं भक्तिसे दूसरा कल्याणका साधन नहीं है—] वृद्धिको प्राप्त हुई मेरी भक्ति जैसा मुझे वशमें करती है वैसा योग, सांख्य, धर्म, वेदाध्ययन, तप तथा दान मुझे वशमें नहीं कर सकते हैं ॥२०॥

भक्त्याऽहमेकया ग्राह्यः श्रद्धयाऽऽत्मा प्रियः सताम् ।
भक्तिः पुनाति मन्निष्ठा श्वपाकानपि सम्भवात् ॥२१॥
धर्मः सत्यदयोपेतो विद्या वा तपसाऽन्विता ।
मद्भक्त्यपेतमात्मानं न सम्यक्प्रपुनाति हि ॥२२॥
कथं विना रोमहर्षं द्रवता चेतसा विना ।
विनाऽऽनन्दाश्रुकलया शुध्येद्भक्त्या विनाऽऽशयः ॥२३॥

वाग्गद्गदा द्रवते यस्य चित्तं
रुदत्यभीक्ष्णं हसति क्वचिच्च ।
विलज्ज उद्गायति नृत्यते च
मद्भक्तियुक्तो भुवनं पुनाति ॥२४॥

साधुओंका प्रिय आत्मरूप 'मैं' श्रद्धायुक्त एकाग्रभक्तिसे प्राप्त होता हूँ; मेरी दृढ भक्ति चाण्डालपर्यन्त सब पुरुषोंको जातिदोषसे पवित्र करती है ॥ २१ ॥

[अब दो श्लोकोंसे कहते हैं कि भक्तिके अभावमें और साधन व्यर्थ हैं, क्योंकि] सत्य और दयासे युक्त दानादि धर्म और तपसे युक्त विद्या (शास्त्राभ्यास) मेरी भक्तिसे रहित जीवको पूर्णतया पवित्र नहीं कर सकते ॥ २२ ॥

रोमाञ्च, चित्तके द्रवीभाव और नेत्रोंमें आनन्दके आँसुओंके बिना कैसे भक्ति समझी जाय ? और भक्तिके बिना कैसे अन्तःकरण-की शुद्धि हो सकती है ? ॥ २३ ॥

[भक्ति भक्तको तो पवित्र करती ही है इसमें कहना ही क्या है ? क्योंकि] जिसकी वाणी (मेरे प्रेमसे) गद्गद होती है, चित्त-द्रवीभूत अर्थात् संसारके व्यापारमें शिथिल होता है, जो कभी) मेरे वियोगमें) रोता है, कभी (मेरी क्रीड़ाका रहस्य समझकर) हँसता है, कभी लोकलाजको छोड़कर ऊँचे स्वरसे मेरे चरित्रोंको गाता है

यथाऽग्निना हेम मलं जहाति
ध्मातं पुनः स्वं भजते स्वरूपम् ।
आत्मा च कर्मानुशयं विधूय
मद्भक्तियोगेन भजत्यथो माम् ॥२५॥

यथा यथाऽऽत्मा परिमृज्यतेऽसौ
मत्पुण्यगाथाश्रवणाभिधानैः ।
तथा तथा पश्यति वस्तु सूक्ष्मं
चक्षुर्यथैवाऽञ्जनसंप्रयुक्तम् ॥२६॥

और कभी नाचता है ऐसा मेरी भक्तिसे युक्त पुरुष जगत्‌को (अपने दर्शन आदिसे) पवित्र कर देता है ॥ २४ ॥

[अब दृष्टान्त देकर कहते हैं कि भक्तिसे ही अन्तःकरण शुद्ध होता है अन्यथा नहीं—] जैसे अग्निसे तपाये जानेपर सुवर्ण अपने मलको त्याग देता है (धोने आदि संस्कारसे नहीं त्यागता) और अपने उज्वल स्वरूपको प्राप्त हो जाता है, वैसे ही जीव मेरी भक्तिसे संसारकारण कर्मवासनाओंका त्यागकर मेरा भजन करता है (अर्थात् मेरे स्वरूपको प्राप्त होता है) ॥ २५ ॥

[शङ्का—श्रुतियाँ प्रतिपादन करती हैं कि ज्ञान हीसे अविद्याकी निवृत्ति होती है यथा 'ब्रह्मविदाप्नोति परम्', तमेव विदित्वाति मृत्यु-मेति' तब यह कैसे कहा कि भक्तिसे मुक्ति प्राप्त होती है ? समाधान—] मेरी पवित्र कथाओंका श्रवण और कीर्तन करनेसे जैसे-जैसे अन्तःकरण शुद्ध होता है वैसे-वैसे यह जीव आत्मतत्त्वको देखता है। भाव यह है ज्ञान भक्तिका अवान्तर व्यापार है पृथक् नहीं, जिस प्रकार अञ्जन नेत्रके दोषोंको दूर करता है और उससे रूप भली भाँति दिखायी पड़ता है, ऐसा यहाँ भी समझो ॥ २६ ॥

विषयान् ध्यायतश्चित्तं विषयेषु विषज्जते ।
मामनुस्मरतश्चित्तं मय्येव प्रविलीयते ॥२७॥
तस्मादसदभिध्यानं यथा स्वप्नमनोरथम् ।
हित्वा मयि समाधत्स्व मनो मद्भावभावितम् ॥२८॥
स्त्रीणां स्त्रीसङ्गिनां संगं त्यक्त्वा दूरत आत्मवान् ।
क्षेमे विविक्त आसीनश्चिन्तयेन्मामतन्द्रितः ॥२९॥
न तथाऽस्य भवेत् क्लेशो बन्धश्चाऽन्यप्रसङ्गतः ।
योषित्संगाद्यथा पुंसो यथा तत्सङ्गिसङ्गतः ॥३०॥

[अब दृष्टान्त देकर यह दिखाते हैं कि चित्तका मेरे आकारमें परिणाम होने अर्थात् भगवदाकार होनेका नाम ज्ञान है और वह मेरा भजन करनेसे स्वभावतः प्राप्त हो जाता है दूसरे प्रयत्नोंकी आवश्यकता नहीं है—] जैसे विषयोंका निरन्तर चिन्तन करनेसे चित्त विषयोंमें फँस जाता है, वैसे ही निरन्तर मेरा स्मरण करनेसे चित्त मुझमें लीन हो जाता है ॥ २७ ॥

इस कारण स्वप्न और मनोरथके तुल्य देह, इन्द्रिय आदि असत् विषयोंके (अहंता-ममतारूप) ध्यानको छोड़कर मेरे श्रवण, स्मरण आदिसे मनको शुद्ध करके मुझमें स्थिर करो ॥ २८ ॥

[वात्स्यायन आदिका कहा हुआ काममार्ग त्याग देना चाहिये] विवेकी पुरुष स्त्रियोंकी और स्त्रियोंमें आसक्त पुरुषोंकी संगतिको दूरसे छोड़कर निर्भय एवं निर्जन स्थानमें बैठकर मेरा चिन्तन करे ॥२९॥

स्त्री या स्त्रीसङ्गी पुरुषोंसे जैसा बन्धन और क्लेश होता है वैसा किसी दूसरेकी सङ्गतिसे नहीं होता ॥ ३० ॥

दूसरा प्रकरण

अष्टाङ्ग योग

यद्यपि दीर्घकाल तक एक आसनमें बैठकर प्राणायाम आदिसे मन रुक जाता है तो भी भगवान्‌के ध्यानके विना वह निष्फल है। आसन और प्राणायाम आदि बहुत प्रकारके हैं, वे गुरुमुखसे ही जाने जा सकते हैं*। प्राणनिरोध हो जानेपर भगवान् ध्यानकी विधि कहते हैं—शरीरके भीतर हृदयकमल है, उसकी ऊपरको डंडी है और नीचेको वह मुँदा हुआ है। साधक यह ध्यान करे कि वह कमल डंडीके ऊपर खिला हुआ है और ज्योतियुक्त है। उस तेजोमण्डलमें गुरूपदेशानुसार मेरा ध्यान करे। फिर सर्वत्र फैले हुए चित्तको एक अङ्गमें धारण करे। तदनन्तर वहाँसे भी हटाकर सबके आधार आकाशके समान व्यापक मेरे रूपमें धारण करे और ध्याता-ध्यानके विभागका चिन्तन न करे। यही परिपाक अवस्था समाधि है, जिसमें मुझे अपनेमें देखता है। उस अवस्थामें 'देहादिमें मैं हूँ' ऐसा भ्रम तथा ज्ञानभ्रम अर्थात् 'मैं जानता हूँ' और क्रियाभ्रम अर्थात् 'मैं करता हूँ' ये सब लीन हो जाते हैं।

योगीको समाधिसे अनेक सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं। यदि मनकी धारणा मुझ सूक्ष्मभूतमें करे, तो 'अणिमा', महाभूतोंमें 'महिमा' वायुमें 'लघिमा' इस प्रकार अनेकानेक सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं। इन तत्त्वोंमें से यदि मुझ निर्गुण ब्रह्ममें प्राणायाम आदिसे मनकी धारणा करे, तो वह परमानन्द मिलता है जिसमें सम्पूर्ण कामनाओंका अन्त हो जाता है। ये सिद्धियाँ वैदिक उपासनासे भी प्राप्त हो सकती हैं—जैसा छान्दोग्य उपनिषत्‌के द्वितीय अध्यायके द्वितीयादि खण्डोंमें कहा है।

---

* गुरुमुखैकलभ्य होनेके कारण हमने इस विषयका संक्षेपतः निर्देश किया है। भा० स्क० ११ अ० १४ और १५ में विस्तारसे अष्टाङ्गयोग और उससे लभ्य सिद्धियाँ वर्णित हैं।

तीसरा प्रकरण

उपासनाका प्रकार

यद्यपि अन्तःकरणके शुद्ध हुए बिना भगवान्का तत्त्व जानना कठिन है तथापि वेदोंके जाननेवाले सम्पूर्ण ऊँच-नीच भूतोंमें भगवान्की उपासना करते हैं और परमप्रेमरूपी भक्तिको पाते हैं। इस कारण उद्धव ईश्वरकी विभूतियोंको पूछते हैं। भगवान् विभूतियोंको सूक्ष्म प्रकारसे, जैसे गीताके दशम अध्यायमें कही गई हैं वैसे ही, कहते हैं*। विभूतियोंका यह तत्त्व है जो सब भूतोंमें सारवस्तु है और जो सम्पूर्ण भूतोंकी उत्पत्ति, स्थिति और लयका कारण है, उसी ईश्वरकी उपासना करनी चाहिए। यह सुनकर उद्धवने उपासनाका प्रकार पूछा जिससे भक्त भगवान्का पूजन करते हैं। कर्मबन्धनसे मुक्त होनेका यही उपाय है। असंख्य कर्मकाण्डके ग्रन्थोंमें जो उपासनाका तत्त्व कहा गया है, उसीको भगवान् सूक्ष्म प्रकारसे कहते हैं।

श्रीभगवानुवाच†

वैदिकस्तान्त्रिको मिश्र इति मे त्रिविधो मखः।
त्रयाणामीप्सितेनैव विधिना मां समर्चयेत् ॥ ७ ॥
यदा स्वनिगमेनोक्तं द्विजत्वं प्राप्य पूरुषः।
यथा यजेत मां भक्त्या श्रद्धया तन्निबोध मे ॥ ८ ॥

श्रीभगवान् बोले—

मेरी पूजा तीन प्रकारकी है—वैदिक, तान्त्रिक और मिश्रित (जो वेद और तन्त्र दोनोंमें कहा गया हो अर्थात् अष्टाक्षर आदि) इनमें से जो प्रकार अभीष्ट हो. उसीसे मेरा पूजन करे ॥७॥

तीनों वर्णोंके पुरुष अपने अपने अधिकार-बोधनमें प्रवृत्त वेदसे उपनीत होकर श्रद्धा और भक्तिसे जिस प्रकार मेरा पूजन करे, उसको सुनो ॥ ८॥

* भा० स्क० ११ अ० १६ में देखिये। † भा० ११-२७-७ इत्यादि।

अर्चायां स्थण्डिलेऽग्नौ वा सूर्ये वाऽप्सु हृदि द्विजे ।
द्रव्येण भक्तियुक्तोऽर्चेत् स्वगुरुं माममायया ॥९॥
पूर्वं स्नानं प्रकुर्वीत धौतदन्तोऽङ्गशुद्धये ।
उभयैरपि च स्नानं मन्त्रैर्मृद्ग्रहणादिना ॥१०॥
संध्योपास्त्यादिकर्माणि वेदेनाऽऽचोदितानि मे ।
पूजां तैः कल्पयेत् सम्यक्सङ्कल्पः कर्मपावनीम् ॥११॥
शैली दारुमयी लौही लेप्या लेख्या च सैकती ।
मनोमयी मणिमयी प्रतिमाऽष्टविधा स्मृता ॥१२॥
चलाऽचलेति द्विविधा प्रतिष्ठा जीवमन्दिरम् ।
उद्वासावाहने न स्तः स्थिरायामुद्धवाऽर्चने ॥१३॥

पुरुष भक्तियुक्त होकर गन्ध, पुष्प आदि सामग्रीसे प्रतिमा, वेदी, अग्नि, सूर्य, जल, हृदय या ब्राह्मणमें गुरुरूप मेरी उपासना निष्कपटभावसे करे ॥ ९ ॥

दाँत साफ़ करके शरीरकी शुद्धिके लिए वैदिक और तान्त्रिक मन्त्रोंसे देहमें मृत्तिका और गोबर लगाकर स्नान करे ॥ १० ॥

मेरी पूजाका संकल्प करनेवाला पुरुष वेदविहित सन्ध्योपासन आदि कर्मोंके साथ कर्मके बन्धनको दूर करनेवाली मेरी पूजा करे । [भाव यह है कि सन्ध्योपासन आदि न छोड़े] ॥ ११ ॥

[प्रतिमाओंके भेद कहते हैं—] पाषाणमयी, काष्ठमयी, धातुमयी, भित्तिलिखित, चित्रलिखित, बालुकाकी बनी हुई, मनोमयी और मणिमयी ये आठ प्रकारकी मेरी प्रतिमाएँ हैं । इन आठ प्रकारकी प्रतिमाओंमें मेरी पूजा होती है ॥ १२ ॥

स्थिर और अस्थिर दो प्रकारकी प्रतिमा मेरा (भगवान्का) मन्दिर है, किन्तु हे उद्धव ! स्थिर प्रतिमाकी पूजा करनेमें आवाहन और विसर्जनका विधान नहीं है ॥ १३ ॥

अस्थिरायां विकल्पः स्यात् स्थण्डिले तु भवेद् द्वयम् ।
स्नपनं त्वविलेप्यायामन्यत्र परिमार्जनम् ॥१४॥
द्रव्यैः प्रसिद्धैर्मद्याग: प्रतिमादिष्वमायिनः ।
भक्तस्य च यथालब्धैर्हृदि भावेन चैव हि ॥१५॥
स्नानालङ्करणं प्रेष्ठमर्चायामेव तूद्धव ।
स्थण्डिले तत्त्वविन्यासो वह्नावाज्यप्लुतं हविः ॥१६॥
सूर्ये चाऽभ्यर्हणं प्रेष्ठं सलिले सलिलादिभिः ।
श्रद्धयोपाहृतं प्रेष्ठं भक्तेन मम वार्यपि ॥१७॥
भूर्यप्यभक्तोपहृतं न मे तोषाय कल्पते ।
गन्धो धूपः सुमनसो दीपोऽन्नाद्यं च किं पुनः ॥१८॥

अस्थिर प्रतिमाका आवाहन करे या न करे यह विकल्प है। वेदीमें या बालुकामय प्रतिमामें दोनों (आवाहन और विसर्जन) होते हैं। मिट्टी या चित्ररूप प्रतिमा न हो, तो स्नान करावे अन्यथा मार्जन करे ॥ १४ ॥

निष्काम भक्तको शास्त्रमें कहे हुए देश, काल और वित्तके अनुसार प्राप्त पदार्थोंसे पूजन करना चाहिए। मेरा मानसिक पूजन हृदयमें मनोमयी सामग्रीसे करे ॥ १५ ॥

[अधिष्ठानके भेदसे पूजाका प्रकार कहते हैं—] हे उद्धव ! धातु आदिकी प्रतिमाके पूजनमें ही स्नान और अलङ्कार योग्य हैं। वेदीमें अङ्गसहित प्रधान देवताओंकी तत्त्रादि मन्त्रोंसे स्थापना करना श्रेष्ठ है। अग्निमें घृतसे सनी हुई सामग्रीसे आहुति देना ही श्रेष्ठ है ॥ १६ ॥

सूर्यमें अर्घ, उपस्थान आदि श्रेष्ठ हैं। जलका जल आदि सामग्रीसे अर्थात् तर्पणादिसे पूजन करना श्रेष्ठ है। भक्त द्वारा श्रद्धासे लाये गये जलसे की हुई पूजा भी मुझे अत्यन्त प्रिय है ॥ १७ ॥

अभक्त द्वारा लायी गयी बहुतसी सामग्रीसे भी मुझे सन्तोष नहीं

शुचिः संभृतसंभारः प्राग्दर्भैः कल्पितासनः ।
आसीनः प्रागुदग्वार्चेदर्चायामथ संमुखः ॥१९॥
कृतन्यासः कृतन्यासां मदर्चां पाणिना मृजेत् ।
कलशं प्रोक्षणीयं च यथावदुपसाधयेत् ॥२०॥
तदद्भिर्देवयजनं द्रव्याण्यात्मानमेव च ।
प्रोक्ष्य पात्राणि त्रीण्यद्भिस्तैस्तैर्द्रव्यैश्च साधयेत् ॥२१॥
पाद्यार्घ्याचमनीयार्थं त्रीणि पात्राणि दैशिकः ।
हृदा शीर्ष्णाऽथ शिखया गायत्र्या चाऽऽभिमन्त्रयेत् ॥२२॥

होता । भक्त द्वारा प्रस्तुत गन्ध, फल, धूप, दीप, फूल और अन्नादि नैवेद्यसे मुझे प्रसन्नता होती है, इसमें तो कहना ही क्या है ? ॥१८॥

[अधिकार आदिकी व्यवस्था कहकर अब पूजाका प्रकार कहते हैं—] पूजाके सब साधन पहले इकट्ठा कर ले, कुशाका आसन बिछावे, फिर पवित्र होकर पूर्व अथवा उत्तरको मुख करके (यदि स्थिर प्रतिमा हो तो) उसके सम्मुख बैठकर पूजा करे ॥ १९ ॥

स्वयं अङ्गन्यास करे और फिर मेरी मूर्तिपर मन्त्रोंसे न्यास करे, हाथसे निर्माल्य आदिको हटाना आदिसे मूर्तिको स्वच्छ करे, पूर्णकुम्भ और प्रोक्षणके लिए रखे हुए जलपात्रका चन्दन, पुष्प आदि-से संस्कार करे ॥ २० ॥

उस प्रोक्षणी पात्रके जलसे देवताकी पूजाके स्थान, पूजाकी सामग्रीका और अपना प्रोक्षण कर, पाद्य आदिके लिए कलशके जलसे भरे हुए तीन पात्रोंको गन्ध, पुष्प, अक्षत आदिसे सुसम्पन्न करे ॥ २१ ॥

पाद्य, अर्घ्य और आचमनके तीन पात्रोंको 'हृदयाय नमः, शिरसे स्वाहा और शिखायै वषट्' इन मन्त्रोंसे अभिमन्त्रित करे फिर पूरे गायत्री मन्त्रसे अभिमन्त्रित करे ॥ २२ ॥

पिण्डे वाय्वग्निसंशुद्धे हृत्पद्मस्थां परां मम ।
अण्वीं जीवकलां ध्यायेन्नादान्ते सिद्धभाविताम् ॥२३॥
तयाऽऽत्मभूतया पिण्डे व्याप्ते संपूज्य तन्मयः ।
आवाह्याऽर्चादिषु स्थाप्य न्यस्ताङ्गं मां प्रपूजयेत् ॥२४॥
पाद्योपस्पर्शार्हणादीनुपचारान् प्रकल्पयेत् ।
धर्मादिभिश्च नवभिः कल्पयित्वाऽऽसनं मम ॥२५॥
पद्ममष्टदलं तत्र कर्णिकाकेसरोज्ज्वलम् ।
उभाभ्यां वेदतन्त्राभ्यां मह्यं तूभयसिद्धये ॥२६॥

[अब एक प्रकारके प्राणायामसे ध्यान बतलाते हैं—] तदनन्तर भूतशुद्धिमें कही गयी रीतिसे कोष्ठगत वायुसे देहके शोषित होनेपर, आधारगत अग्निसे जलनेपर, फिर ललाटमें स्थित चन्द्रमण्डलके अमृतप्रवाहसे अमृतमय होनेपर, तत्-तत् प्रकरणमें कहे गये न्यास आदि करके शरीरमें 'हृत्कमलमें स्थित' प्रणव (ओंकार) के अकार, उकार, मकार, बिन्दु और नाद ये जो पाँच अंश हैं उनमें नादके अन्तमें सिद्धों द्वारा ध्यात (जिसका ध्यान किया गया है), जीव है अंश जिसका एवं अतिसूक्ष्म मेरी श्रेष्ठ मूर्तिका ध्यान करे ॥२३॥

जैसे दीपकप्रभासे घर व्याप्त होता है वैसे ही अपने भावके अनुसार ध्यात मेरी मूर्तिसे देहके व्याप्त एवं अमृतमय होनेपर देहमें ही मानसिक पूजासामग्रीसे मेरी पूजा कर, मद्रूप होकर फिर उसका बाहर प्रतिमा आदिमें आवाहन कर और स्थापनाकी रीतिसे उसका स्थापन कर अङ्गन्यास आदि द्वारा मेरी पूजा करे ॥ २४ ॥

[दो श्लोकोंसे पूजाका प्रकार दिखलाते हैं—] पाद्य, आचमन, अर्घ्य आदि सामग्रियोंको प्रस्तुत करे, धर्मादिगुण और नौ शक्तियोंसे मेरा आसन बनावे ॥ २५ ॥

उसमें केसर और कर्णिकासे उज्ज्वल अष्टदल कमल बनाकर

सुदर्शनं पाञ्चजन्यं गदासीषुधनुर्हलान् ।
मुसलं कौस्तुभं मालां श्रीवत्सं चाऽनुपूजयेत् ॥२७॥
नन्दं सुनन्दं गरुडं प्रचण्डं चण्डमेव च ।
महाबलं बलं चैव कुमुदं कुमुदेक्षणम् ॥२८॥
दुर्गां विनायकं व्यासं विष्वक्सेनं गुरून् सुरान् ।
स्वे स्वे स्थाने त्वभिमुखान् पूजयेत् प्रोक्षणादिभिः ॥२९॥
चन्दनोशीरकर्पूरकुङ्कुमागुरुवासितैः ।
सलिलैः स्नापयेन्मन्त्रैर्नित्यदा विभवे सति ॥३०॥
स्वर्णघर्मानुवाकेन महापुरुषविद्यया ।
पौरुषेणाऽपि सूक्तेन सामभी राजनादिभिः ॥३१॥

उसमें मेरी स्थापना कर वेद और तन्त्रोंमें कहे गये भोग और मोक्षकी सिद्धिके लिए वेद और तन्त्रमें कही गयी विधिसे मेरे लिए पाद्य आदि सामग्रियोंको अर्पित करे ॥ २६ ॥

सुदर्शन, पाञ्चजन्य, गदा, खड्ग, बाण, धनुष, हल, मूसलका (आठों दिशाओंमें) एवं कौस्तुभमाला और श्रीवत्सका (वक्षस्थलमें) पूजन करे ॥ २७ ॥

नन्द, सुनन्द, प्रचण्ड, चण्ड, महाबल, बल, कुमुद और कुमुदेक्षण-की (आठ दिशाओंमें) और गरुड़की भगवान्के सामने पूजा करे ॥२८॥

दुर्गा, विनायक, व्यास और विष्वक्सेनकी (दाहिनी ओर) गुरुकी (बाँई ओर) इन्द्रादि लोकपालोंकी (आठों दिशाओंमें) कल्पना करके अपने अपने स्थानमें भगवान्के सम्मुख स्थित इनकी प्रोक्षणादिसे पूजा करे ॥ २९ ॥

यदि वैभवसम्पन्न हो, तो प्रतिदिन चन्दन, खस्, कपूर, केसर, अगर आदिसे सुवासित जलसे, ॥ ३० ॥

"सुवर्ण वर्मम्" इत्यादि अनुवाक द्वारा, "जितं ते पुण्डरीकाक्ष"

वस्त्रोपवीताभरणपत्रस्रग्गन्धलेपनैः ।
अलंकुर्वीत सप्रेम मद्भक्तो मां यथोचितम् ॥३२॥
पाद्यमाचमनीयं च गन्धं सुमनसोऽक्षतान् ।
धूपदीपोपहार्याणि दद्यान्मे श्रद्धयाऽर्चकः ॥३३॥
गुडपायससर्पींषि शष्कुल्यापूपमोदकान् ।
संयावदधिसूपांश्च नैवेद्यं सति कल्पयेत् ॥३४॥
अभ्यङ्गोन्मर्दनादर्शदन्तधावाभिषेचनम् ।
अन्नाद्यं गीतनृत्यानि पर्वणि स्युरुताऽन्वहम् ॥३५॥
विधिना विहिते कुण्डे मेखलागर्तवेदिभिः ।
अग्निमाधाय परितः समूहेत् पाणिनोदितम् ॥३६॥

इत्यादि महाविद्या द्वारा, "सहस्रशीर्षा" आदि पुरुष सूक्त द्वारा और "इन्द्रं नरो मेमधिता हवन्ते" इत्यादि ऋचामें गीत राजन सामके द्वारा मुझे स्नान करावे ॥ ३१ ॥

मेरा भक्त प्रेमसे वस्त्र, उपवस्त्र, आभूषण, तुलसीपत्र आदि, माला, गन्ध और चन्दन आदिसे मेरा शृङ्गार करे ॥ ३२ ॥

मेरी पूजा करनेवाला पुरुष श्रद्धासे पाद्य, आचमन, गन्ध, फूल, अक्षत, धूप, दीप और नैवेद्य मेरे अर्पण करे ॥ ३३ ॥

यदि वैभव हो, तो गुड़, खीर, घी, पूरी, पुवे, लड्डू, हलुआ, दही, चटनी आदि खाद्य पदार्थ मेरे अर्पण करे ॥ ३४ ।

एकादशी आदि पर्वोंमें या प्रतिदिन सुगन्धित तेल मलकर स्नान कराना, शीशा आदि दिखाना, दाँत धोना, पञ्चामृतसे अभिषेक, नाना प्रकारके भोज्य पदार्थ, गायन, नृत्य आदि करे ॥ ३५ ॥

तन्त्रशास्त्रमें बतलाई हुई विधिसे मेखला, गर्त और वेदी* बनाकर

* विस्तारोच्छ्रायतस्तिस्रो मेखला चतुरङ्गुला । हस्तमात्रो भवेद्गर्तः सयोनि-र्वेदिका तथा ।

परिस्तीर्याऽथ पर्युक्षेदन्वाधाय यथाविधि ।
प्रोक्षण्याऽऽसाद्य द्रव्याणि प्रोक्ष्याऽग्नौ भावयेत माम् ॥३७॥
तप्तजाम्बूनदप्रख्यं शङ्खचक्रगदाम्बुजैः ।
लसच्चतुर्भुजं शान्तं पद्मकिञ्जल्कवाससम् ॥३८॥
स्फुरत्किरीटकटककटिसूत्रवराङ्गदम् ।
श्रीवत्सवक्षसं भ्राजत्कौस्तुभं वनमालिनम् ॥३९॥
ध्यायन्नभ्यर्च्य दारूणि हविषाऽभिघृतानि च ।
प्रास्याऽऽज्यभागावाघारौ दत्त्वा चाऽऽज्यप्लुतं हविः ॥४०॥

कुण्डमें अग्निकी स्थापना करके उस प्रज्वलित अग्निका हाथसे परिसमूहन करे, (यह एक प्रकारका संस्कार है) ॥ ३६ ॥

फिर कुशाओंको उसके चारों ओर बिछावे और जलके छींटे दे। तदनन्तर विधिविहित "अन्वाधान" नामक व्याहृतिसे कर्म करके होमके उपयोगी पात्रोंको अग्निके उत्तरमें रखकर प्रोक्षणीके जलसे उनका प्रोक्षण कर अग्निमें मेरा ध्यान करे ॥ ३७ ॥

[ध्यानका प्रकार कहते हैं—] जिनकी कान्ति तपाये हुए सोनेकी तरह है, चारों भुजाएँ शङ्ख, चक्र, गदा और पद्मसे शोभायमान हैं, जो शान्तस्वरूप हैं और कमलके केसरके समान रङ्गवाले वस्त्र पहने हुए हैं ॥ ३८ ॥

जिनके किरीट, कड़े, तगड़ी, उत्तम बाजूबन्द आदि आभूषण उचित स्थानपर शोभित हो रहे हैं, वक्षस्थलमें श्रीवत्स एवं कौस्तुभमणि चमक रही है और गलेमें वनमाला लटक रही है, ॥ ३९ ॥

यों ध्यान करते हुए पूजा कर अग्निमें घीसे युक्त समिधा डाले तब 'आघारभाग' (अर्थात् दो घृतकी आहुतियाँ—प्रजापतये स्वाहा इन्द्राय स्वाहा) तथा 'आज्यभाग' (अर्थात् दो घृतकी आहुतियाँ अग्नये स्वाहा, सोमाय स्वाहा) दे करके घृतसे सने हुए हविसे आहुति दे ॥ ४० ॥

जुहुयान्मूलमन्त्रेण षोडशर्चाऽवदानतः ।
धर्मादिभ्यो यथान्यायं मन्त्रैः स्विष्टकृतं बुधः ॥४१॥
अभ्यर्च्याऽथ नमस्कृत्य पार्षदेभ्यो बलिं हरेत् ।
मूलमन्त्रं जपेद्ब्रह्म स्मरन्नारायणात्मकम् ॥४२॥
दत्त्वाऽऽचमनमुच्छेषं विष्वक्सेनाय कल्पयेत् ।
मुखवासं सुरभिमत्ताम्बूलाद्यमथाऽर्हयेत् ॥४३॥
उपगायन् गृणन्नृत्यन् कर्माण्यभिनयन् मम ।
मत्कथाः श्रावयञ्श्रृण्वन् मुहूर्तं क्षणिको भवेत् ॥४४॥

फिर 'ॐ नमो नारायणाय' इत्यादि मूल मन्त्रोंको पढ़ता हुआ सोलह ऋचाओंके पुरुषसूक्तसे अवदानपूर्वक (प्रत्येक ऋचामें आहुति-ग्रहणपूर्वक) हवन करे तदनन्तर धर्मादिके लिए स्वाहान्त नाममन्त्रों (धर्माय स्वाहा) द्वारा आहुति दे, और अन्तमें बुद्धिमान् पुरुष 'अग्नये स्विष्टकृते स्वाहा०' मन्त्रसे स्विष्टकृत् होम करे ॥ ४१ ॥

तब अग्निमें विद्यमान अन्तर्यामी भगवान्की पुष्प, धूप आदिसे पूजा करके तथा नमस्कार करके आठों दिशाओंमें नन्द आदि पार्षदों-को बलि दे, फिर पूजाके स्थानमें आकर, देवके सामने बैठकर, नारायण-रूप परब्रह्मका ध्यान करके यथाशक्ति मूलमन्त्रका जप करे ॥४२॥

जपके अनन्तर, यह चिन्तन करके कि अग्निमें या उससे बाहर भगवान्का भोजन समाप्त हुआ आचमन देकर शेष नैवेद्यको मुख्य पार्षद विष्वक्सेनके अर्पण करे, (तदनन्तर यह भावना करके कि मुझे उन्होंने आज्ञा दी है, शेष नैवेद्य स्वयं ले ले); फिर सुगन्धयुक्त ताम्बूल आदि मुखवासके लिए देकर पुष्पाञ्जलि चढ़ावे ॥ ४३ ॥

तदुपरान्त मेरी लीलाओंको गाते, कीर्तन करते, मेरे चरित्रोंका अभिनय करे, मेरी कथा सुने और सुनावे तथा व्यग्रता छोड़कर शान्त हो जाय अथवा उत्सवमें मग्न हो जाय ॥ ४४ ॥

स्तवैरुच्चावचैः स्तोत्रैः पौराणैः प्राकृतैरपि ।
स्तुत्वा प्रसीद भगवन्निति वन्देत दण्डवत् ॥४५॥
शिरो मत्पादयोः कृत्वा बाहुभ्यां च परस्परम् ।
प्रपन्नं पाहि मामीश भीतं मृत्युग्रहार्णवात् ॥४६॥
इति शेषां मया दत्तां शिरस्याधाय सादरम् ।
उद्वासयेच्चेदुद्वास्यं ज्योतिर्ज्योतिषि तत्पुनः ॥४७॥
अर्चादिषु यदा यत्र श्रद्धा मां तत्र चार्ऽचयेत् ।
सर्वभूतेष्वात्मनि च सर्वात्माऽहमवस्थितः ॥४८॥

छोटे-बड़े ऋषिप्रणीत पुराणोंके स्तोत्रोंसे अथवा भक्तों द्वारा विरचित पदोंसे स्तुति करके और यह कहते हुए कि "हे भगवन् ! प्रसन्न होइये" दण्डवत् प्रणाम करे ॥ ४५ ॥

[दण्डवत् प्रणामकी विधि बतलाते हैं—] सिरको मेरे चरणोंमें रखकर, दाहिने हाथसे मेरा दाहिना चरण और बायें हाथसे बायाँ चरण पकड़कर "हे भगवन् ! मृत्युरूप ग्राहसे युक्त इस संसारसागरसे डरा हुआ मैं आपकी शरणमें आया हूँ, मेरी रक्षा कीजिए, यों प्रार्थनापूर्वक प्रणाम करे ॥४६॥

यों प्रार्थना करता हुआ भक्त मेरा निर्माल्य (फूल-माला) यह भावना कर सिरपर सादर धारण करे कि वह मैंने (भगवान्ने) दिया है। यदि विसर्जन करना हो, तो जिस ज्योतिका प्रतिमामें न्यास किया था, उसका हृदयकमलमें स्थित ज्योतिमें ही विसर्जन करे ॥४७॥

[प्रश्न—इन अधिष्ठानोंमें सबसे मुख्य कौन है ? समाधान–] जिस समय जिस अधिष्ठानमें श्रद्धा हो, वहीं मेरा पूजन करे; क्योंकि सबकी आत्मा होनेके कारण मैं सब भूतोंमें तथा अपने स्वरूपमें भी रहता हूँ। भाव यह है कि किसी भी अधिष्ठानमें मुख्यता या गौणता नहीं है ॥ ४८ ॥

एवं क्रियायोगपथैः पुमान् वैदिकतान्त्रिकैः ।
अर्चन्नुभयतः सिद्धिं मत्तो विन्दत्यभीप्सिताम् ॥४९॥
मदर्चां संप्रतिष्ठाप्य मन्दिरं कारयेद् दृढम् ।
पुष्पोद्यानानि रम्याणि पूजायात्रोत्सवाऽऽश्रितान् ॥५०
पूजादीनां प्रवाहार्थं महापर्वस्वथाऽन्वहम् ।
क्षेत्रापणपुरग्रामान् दत्त्वा मत्सार्ष्टितामियात् ॥५१॥
प्रतिष्ठया सार्वभौमं दानेन भुवनत्रयम् ।
पूजादिना ब्रह्मलोकं त्रिभिर्मत्साम्यतामियात् ॥५२॥
मामेव नैरपेक्ष्येण भक्तियोगेन विन्दति ।
भक्तियोगं स लभते एवं यः पूजयेत माम् ॥५३॥

इस प्रकार जो पुरुष वैदिक और तान्त्रिक विधिके अनुसार मेरी पूजा करता है, उसको मेरी कृपासे इस लोक और पर लोकमें इच्छित सिद्धियाँ मिलती हैं ॥ ४९ ॥

[तीन श्लोकोंसे समर्थ पुरुषोंको उपदेश देते हैं—] पहले दृढ़ मन्दिर बनावे, उसमें मेरी प्रतिमाका स्थापन करके मनोहर फुलवाड़ी लगवावे और दैनिक पूजन, विशेष पर्वोंमें मेले और उत्सवोंके प्रबन्धके लिए जमीनजागीर दे ॥ ५० ॥

जो पुरुष रोजकी पूजा, विशेष पर्वोंकी पूजा अथवा उत्सव आदिके सदा चलते रहनेके लिए खेत, बाजार, नगर, गाँव देता है, वह मेरे समान ऐश्वर्यको प्राप्त होता है ॥ ५१ ॥

मूर्तिकी प्रतिष्ठा करनेसे चक्रवर्त्ती राज्य मिलता है, केवल मन्दिर बनानेसे तीनों लोकोंका राज्य मिलता है, पूजन आदिसे ब्रह्मलोक मिलता है और जो तीनों कार्य करता है, वह मेरे समान हो जाता है ॥५२॥

[सकाम भक्तिका फल कहकर निष्काम भक्तिका फल कहते हैं—] जो पुरुष निष्कामभावसे इस प्रकार मेरी पूजा करता है, वह

य: स्वदत्तां परैर्दत्तां हरेत सुरविप्रयोः ।
वृत्तिं स जायते विड्भुग्वर्षाणामयुतायुतम् ॥५४॥
कर्तुश्च सारथेर्हेतोरनुमोदितुरेव च ।
कर्मणां भागिनः प्रेत्य भूयो भूयसि तत्फलम् ॥५५॥

भक्तियोगको प्राप्त होता है और उस भक्तियोगसे मुझको ही प्राप्त होता है ॥ ५३ ॥

जो पुरुष अपनी दी हुई अथवा दूसरेकी दी हुई देवता अथवा ब्राह्मणकी वृत्तिको हर लेता है, वह लाखों वर्षोंतक विष्ठाभक्षण करनेवाला कीड़ा होता है ॥ ५४ ॥

पूजा, पूजा करनेकी सहायता, प्रेरणा और अनुमोदन करनेवाले पुरुष उस कर्मके फलके भागी होते हैं और उनको परलोकमें अपनी सहायताके अनुसार अधिक-अधिक फल प्राप्त होता है ॥५५॥

चौथा प्रकरण

वर्णोंके धर्म ।

उद्धवजी पूछते हैं—हे कमलनयन ! वर्णाश्रमधर्मोंका आचरण करनेवाले एवं उससे रहित पुरुषोंके लिए अपनी भक्तिके साधन धर्मको आप सामान्यतः कह चुके हैं । वह आपकी भक्ति जिस प्रकार किये गये स्वधर्मसे पुरुषोंको प्राप्त होती है, उस धर्मको और उसके अनुष्ठानके प्रकारको मुझसे कहिये ।

[श्रीभगवानुवाच※]

शमो दमस्तपः शौचं संतोषः क्षान्तिरार्जवम् ।
मद्भक्तिश्च दया सत्यं ब्रह्मप्रकृतयस्त्विमाः ॥१६॥
तेजो बलं धृतिः शौर्यं तितिक्षौदार्यमुद्यमः ।
स्थैर्यं ब्रह्मण्यतैश्वर्यं क्षत्रप्रकृतयस्त्विमाः ॥१७॥
आस्तिक्यं दाननिष्ठा च अदम्भो ब्रह्मसेवनम् ।
अतुष्टिरर्थोपचयैर्वैश्यप्रकृतयस्त्विमाः ॥१८॥

श्रीभगवान् कहते हैं—

शम, दम, तप, शौच, सन्तोष, शान्ति, सरल व्यवहार, मेरी भक्ति, दया और सत्य ये ब्राह्मणोंके स्वभावसिद्ध धर्म हैं ॥ १६ ॥

तेज, बल, धैर्य, शूरता, दीनोंका अपराध सहना, उदारता, उद्यम, स्थिरता, ब्राह्मणोंकी भक्ति और ऐश्वर्य ये क्षत्रियोंके स्वभावसिद्ध धर्म हैं ॥ १७ ॥

गुरु और शास्त्रमें श्रद्धा, दानमें निष्ठा, दम्भ न करना, ब्राह्मणोंकी सेवा और धनकी वृद्धि होनेपर भी असन्तुष्ट रहना ये वैश्योंके स्वभावसिद्ध धर्म हैं ॥ १८ ॥

※ भा० ११-१७-१६ इत्यादि ।

शुश्रूषणं द्विजगवां देवानां चाऽप्यमायया ।
तत्र लब्धेन संतोषः शूद्रप्रकृतयस्त्विमाः ॥१९॥
अशौचमनृतं स्तेयं नास्तिक्यं शुष्कविग्रहः ।
कामः क्रोधश्च तर्षश्च स्वभावोऽन्तेवसायिनाम् ॥२०॥
अहिंसा सत्यमस्तेयमकामक्रोधलोभता ।
भूतप्रियहितेहा च धर्मोऽयं सार्ववर्णिकः ॥२१॥

× × × ×

इज्याध्ययनदानानि सर्वेषां च द्विजन्मनाम्❀ ।
प्रतिग्रहोऽध्यापनं च ब्राह्मणस्यैव याजनम् ॥४०॥
प्रतिग्रहं मन्यमानस्तपस्तेजोयशोनुदम् ।
अन्याभ्यामेव जीवेत शिलैर्वा दोषदृक्तयोः ॥४१॥

ब्राह्मण, गौ और देवताओंकी निष्कपटभावसे सेवा करना और जो उस सेवासे मिले उसीसे सन्तुष्ट रहना ये शूद्रोंके स्वभावसिद्ध धर्म हैं ॥ १९ ॥

अशुचि रहना, झूठ बोलना, चोरी करना, नास्तिकता, बिना मतलब कलह करना, काम, क्रोध और अतिलोभ ये चाण्डालादिके स्वभावसिद्ध धर्म हैं ॥ २० ॥

अहिंसा, सत्य, चोरी न करना, काम, क्रोध, लोभ और मोहका त्याग और सब प्राणियोंके प्रिय तथा हितकी चेष्टा करना ये सब वर्णोंके स्वाभाविक धर्म हैं ॥ २१ ॥

× × × ×

यज्ञ करना, वेद पढ़ना और दान देना ये सब द्विजातियोंके धर्म हैं। दान लेना, पढ़ाना, दूसरोंको यज्ञ कराना ये केवल ब्राह्मणोंकी ही वृत्तियाँ हैं, अन्योंकी नहीं ॥ ४० ॥

यदि यह प्रतीत हो कि दान लेना अपने तप, तेज और यशका

❀ भा० ११-१७-४० इत्यादि ।

ब्राह्मणस्य हि देहोऽयं क्षुद्रकामाय नेष्यते ।
कृच्छ्राय तपसे चेह प्रेत्याऽनन्तसुखाय च ॥४२॥

विघातक है तब अन्य दो वृत्तियोंसे (पढ़ाने या यज्ञ करानेसे) अपने जीवनका निर्वाह करे । यदि उनमें भी दीनता आदि दोष प्रतीत हों तो 'शिल' वृत्तिसे अपना काम चलावे । [खेतमें से अनाज ले जानेके बाद जो अन्नकी बाल खेतमें पड़ी हो, उनका ग्रहण करना शिल-वृत्ति है] ॥ ४१ ॥

क्योंकि यह ब्राह्मणका शरीर तुच्छ-विषयभोगके लिए नहीं है, किन्तु इस लोकमें कष्ट सहने तथा तप करनेके लिए है और मरनेके अनन्तर मोक्षरूप सुखको प्राप्त करनेके लिए है ॥ ४२ ॥
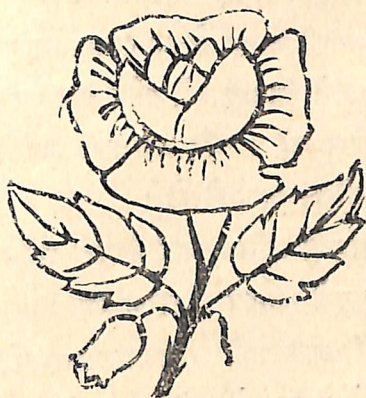
पाँचवाँ प्रकरण

आश्रमोंके धर्म ।

ब्रह्मचर्य, गार्हस्थ्य, वानप्रस्थ और संन्यास ये चार आश्रम हैं । उपनयनके अनन्तर ब्रह्मचर्यव्रतको धारण करनेवाला बालक गुरुके आश्रममें रहता हुआ इन्द्रियोंको वशमें करके मौन होकर गुरुसे वेदोंको पढ़े और गुरुकी सेवा करे । वह कभी भी अपने आप वीर्य-का पात न करे । यदि किसी रोगादि उपद्रवसे वीर्य-पात हो जाय, तो स्नान-प्राणायाम करके गायत्रीमन्त्रका जप करे। नित्य तीनों कालोंमें स्नान, सन्ध्या और अग्निमें होम करे । गुरुको साक्षात् ईश्वर समझे । शौच, आचमन, सन्ध्योपासन, मार्जन, तीर्थाटन, अस्पृश्योंसे न बोलना, मन, वाणी, शरीर आदिकी अधःप्रवृत्ति रोकना, ये सब आश्रमोंके धर्म हैं । यदि शास्त्रके अनुसार शम-दमसम्पन्न नैष्ठिक ब्रह्म-चारी हो, तो गुरुपरायण होकर और उन्हींके आश्रममें वास करे । यदि ब्रह्मचारी गृहस्थाश्रममें प्रवेश करनेकी इच्छा करे, तो गुरुको दक्षिणा देकर और उनकी आज्ञा लेकर समावर्तन करके अपने समान और अपने वर्णकी स्त्रीसे विवाह करे और उस आश्रममें अपने वर्णके उचित धर्मोंका आचरण करे । यदि ब्रह्मचारी ब्रह्मलोक जानेकी इच्छा करे, तो ब्रह्मचर्यसे ही संन्यास ले ले ।

आपत्कालमें ब्राह्मण क्षत्रिय और वैश्यके धर्मका, क्षत्रिय वैश्यके धर्मका और वैश्य शूद्रके धर्मका आचरण आपत्तिके दूर होनेतक कर सकता है। यदि किसी ब्राह्मणकी इच्छा अन्तःकरणको शुद्ध करनेकी हो, तो वह वानप्रस्थाश्रमको ग्रहण करे, यदि उसका चित्त शुद्ध हो गया हो, तो संन्यास ले ले अर्थात् एक आश्रमसे दूसरे आश्रमको ग्रहण करे। वान-प्रस्थ और संन्यासके धर्मोंको श्रीमद्भागवतके ११ स्कन्धके १८ अध्यायमें देखना चाहिए। इन आश्रमोंके अधिकारी विरले होते हैं, अतएव यहाँ

वेदाध्यायस्वधास्वाहाबल्यन्नाद्यैर्यथोदयम्†।
देवर्षिपितृभूतानि मद्रूपाण्यन्वहं यजेत् ॥५०॥
यदृच्छयोपपन्नेन शुक्लेनोपार्जितेन वा।
धनेनाऽपीडयन् भृत्यान्न्यायेनैवाऽऽहरेत् क्रतून् ॥५१॥
कुटुम्बेषु न सज्जेत न प्रमाद्येत् कुटुम्ब्यपि।
विपश्चिन्नश्वरं पश्येददृष्टमपि दृष्टवत् ॥५२॥

उनके धर्म नहीं लिखे गये। सूक्ष्मप्रकारसे शम और अहिंसा संन्यासीके एवं तप और यजन वानप्रस्थके मुख्य धर्म हैं। गृहस्थाश्रममें जिस प्रकार कल्याण हो, उसे भगवान् स्वयं कहते हैं।

[गृहस्थके लिए आवश्यक पाँच महायज्ञोंको कहते हैं—] क्रमशः वेदाध्ययन (ब्रह्मयज्ञ), स्वधा (पितृयज्ञ), स्वाहा (देवयज्ञ), बलिवैश्वदेव (भूतयज्ञ) और अन्नदान (नृयज्ञ) के द्वारा मेरे ही रूप देव, ऋषि, पितर एवं अन्य समस्त भूतोंकी यथाशक्ति नित्य पूजा करे ॥५०॥

[आवश्यक धर्मोंको कहकर अब अपनी-अपनी शक्तिके अनुसार धर्मोंको कहते हैं—] उद्यमके बिना प्राप्त हुए अथवा अपनी वृत्तिसे उपार्जित शुद्ध धनसे अपने पोषणीय जनोंका (माता, पिता, स्त्री, पुत्र आदिका) भली भाँति भरणपोषण कर (उन्हें कष्ट न पहुँचाकर) उपर्युक्त यज्ञोंको विधिपूर्वक करे ॥ ५१ ॥

[तीन श्लोकोंसे गृहस्थकी भी निवृत्तिपरक निष्ठाको कहते हैं—] कुटुम्बवाला पुरुष अपने कुटुम्बमें आसक्त न रहे और ईश्वरनिष्ठामें असावधान न रहे। विवेकी पुरुष अदृष्ट सुख (स्वर्गसुख) को उसी प्रकार नाशवान् समझे जिस प्रकार इस लोकके सुख नाशवान् हैं ॥५२॥

† भा० ११-१७-५० इत्यादि।

पुत्रदाराप्तबन्धूनां संगमः पान्थसंगमः ।
अनुदेहं वियन्त्येते स्वप्नो निद्रानुगो यथा ॥५३॥
इत्थं परिमृशन् मुक्तो गृहेष्वतिथिवद् वसन् ।
न गृहैरनुबध्येत निर्ममो निरहंकृतः ॥५४॥
कर्मभिर्गृहमेधीयैरिष्ट्वा मामेव भक्तिमान् ।
तिष्ठेद् वनं वोपविशेत् प्रजावान् वा परिव्रजेत् ॥५५॥
यस्त्वासक्तमतिर्गेहे पुत्रवित्तैषणातुरः ।
स्त्रैणः कृपणधीर्मूढो ममाऽहमिति बध्यते ॥५६॥

[सांसारिक सुखकी विनाशिता दिखलाते हैं—] रास्तेमें जाते हुए बटोहियोंके समागमके समान पुत्र, स्त्री, आप्त और बान्धवों-का समागम है। जैसे स्वप्नमें देखे गये पदार्थ, जागनेपर चले जाते हैं, वैसे ही ये पुत्रादि अपनी देहके पश्चात् अपने साथ नहीं रहते ॥ ५३ ॥

इस प्रकार दृष्ट तथा अदृष्ट पदार्थोंको मिथ्या जानकर और देहादिमें ममत्व रहित होकर अतिथिके समान घरमें रहता हुआ मनुष्य घरके कर्मोंसे बद्ध नहीं होता है [किन्तु जीवन्मुक्त हो रहता है] ॥५४॥

[इस आश्रममें भी विकल्प है] भक्तिमान् पुरुष गृहस्थके लिए विहित कर्मोंसे मेरी आराधना करके गृहस्थमें रहे अथवा (यदि मेरी आराधनामें विक्षेप हो तो) वनमें चला जाय और यदि पुत्रवान् हो तो संन्यास ले ले ॥ ५५ ॥

[अब तीन श्लोकोंसे गृहादिके सङ्गके दोषोंको कहते हैं—] जिस पुरुषकी बुद्धि घरमें अर्थात् विषयोंमें आसक्त है, जो पुत्र, धन आदि की एषणासे व्याकुल है, स्त्रीमें रत है, जिसकी बुद्धि इन विषयोंकी प्राप्तिमें दीन है और जो अज्ञानी है वह 'मैं' और 'मेरी' ऐसी बुद्धिसे बन्धनको प्राप्त होता है ॥ ५६ ॥

अहो मे पितरौ वृद्धौ भार्याबालात्मजाऽऽत्मजाः ।
अनाथा मामृते दीनाः कथं जीवन्ति दुःखिताः ॥५७॥
एवं गृहाशयाक्षिप्तहृदयो मूढधीरयम् ।
अतृप्तस्ताननुध्यायन् मृतोऽन्धं विशते तमः ॥५८॥

[बन्धनको ही अभिनयसे दिखलाते हैं—] अहो ! मेरे माता, पिता वृद्ध हैं, स्त्रीके छोटे छोटे बच्चे हैं, ये बेचारे बालक मेरे बिना अनाथ होकर क्लेश पाते हुए किस प्रकार जीवित रहेंगे ? ॥ ५७ ॥

इस प्रकार जिसका चित्त घरकी चिन्ताओंसे विध रहा है, वह मूढ़ पुरुष विषयोंसे तृप्त न होकर उन गृहादि विषयोंका चिन्तन करता हुआ मरनेपर तामस योनियोंमें जन्म लेता है ॥ ५८ ॥

छठा प्रकरण

मोक्षधर्म

अपने वर्ण और आश्रमके धर्मोंका आचरण करता हुआ जो अनन्य-भक्तिसे भगवान्‌का भजन करता है, वह शीघ्र ही सब प्राणियोंमें ईश्वरकी भावना करता है और उनकी भक्तिको प्राप्त करता है। फिर ज्ञान, विज्ञानसे युक्त होकर रज्जुमें सर्प, माला आदिकी भ्रान्तिके समान वह भगवद्रूपमें मिल जाता है। आध्यात्मिक, आधिदैविक और आधिभौतिक विकार देहादिरूप प्रकृतिका कार्य अविद्यामात्र है, वह जीवके स्वरूपको ढकनेवाला है, वह रज्जुमें सर्प, माला आदिके समान भ्रान्तिसे कल्पित है, परमार्थ नहीं है।

संक्षेपसे प्रतिपादित इस ज्ञानको सुनकर विशेष रूपसे जाननेके लिये उद्धव पूछते हैं—'हे विश्वमूर्ते ! वैराग्य और विज्ञानसे युक्त यह ज्ञान जिस प्रकार निश्चित हो जाय, वह प्रकार मुझसे कहिये। भगवान्‌ने भीष्म-युधिष्ठिरसंवादमें भीष्मके मुखसे मोक्षधर्म जैसे सुने थे, वैसे ही वे उन्हें उद्धवसे कहते हैं।

[श्रीभगवानुवाच*]

नवैकादश पञ्च त्रीन् भावान् भूतेषु येन वै।
ईक्षेताऽथैकमप्येषु तज्ज्ञानं मम निश्चितम् ॥१४॥

श्रीभगवान् बोले—

[ज्ञान क्या है ?—] प्रकृति, पुरुष, महत्, अहंकार और पाँच तन्मात्राएँ, पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, पाँच कर्मेन्द्रियाँ और ग्यारहवाँ मन, पाँच महाभूत और तीन गुण ये सब मिलकर अट्ठाइस तत्त्वोंको जिससे ब्रह्मासे लेकर स्थावर पर्यन्त प्रपञ्चमें अनुगत देखे और जिससे इन सब भावोंमें परमात्माको ओतप्रोत देखे वह ज्ञान है—(अर्थात्

* भा० ११-१९-१४ इत्यादि।

एतदेव हि विज्ञानं न तथैकेन येन यत् ।
स्थित्युत्पत्त्यप्ययान् पश्येद्भावानां त्रिगुणात्मनाम् ॥१५॥
आदावन्ते च मध्ये च सृज्यात् सृज्यं यदन्वियात् ।
पुनस्तत्प्रतिसंक्रामे यच्छिष्येत तदेव सत् ॥१६॥
श्रुतिः प्रत्यक्षमैतिह्यमनुमानं चतुष्टयम् ।
प्रमाणेष्वनवस्थानाद् विकल्पात् स विरज्यते ॥१७॥

कार्य-कारणरूप संसारको देखते हुए यह निश्चय करना कि वह परमात्मासे पृथक् नहीं है, यही ज्ञान है।) ऐसा मेरा निश्चय है ॥१४॥

[विज्ञान क्या है?—] पहले जो यह देखता था कि सब पदार्थोंमें एक ही वस्तु अनुगत है और अब ऐसा न देखकर यह जाने कि वह परम कारण ब्रह्म ही है—इसीको विज्ञान अथवा अपरोक्ष ज्ञान कहते हैं। [भाव यह है कि जैसे किसीको दिग्भ्रम हो जाता है और उसका भ्रम परोक्ष ज्ञानसे निवृत्त नहीं होता ऐसे ही संसारकी भ्रान्ति अपरोक्ष होनेके कारण उसकी परोक्ष ज्ञानसे निवृत्ति नहीं होती है और अपरोक्ष ज्ञानी यह देखता है कि ब्रह्मसे भिन्न कुछ है ही नहीं, ऐसे जीवन्मुक्तका संसार बाधित हो जाता है। अब यह प्रतिपादन करते हैं कि एक वस्तु सब कार्योंमें अनुगत है।] कार्यकी पृथक् सत्ता नहीं है, त्रिगुणात्मक पदार्थोंके सावयव होनेके कारण उनकी उत्पत्ति, स्थिति और संहार है—ऐसा देखे ॥१५॥

जो वस्तु कार्यकी उत्पत्ति और अन्य परिणामको प्राप्त होनेपर कारणरूपसे और मध्यमें आश्रयरूपसे एक कार्यसे दूसरे कार्यमें अनुगत होती है और उन कार्योंका अन्त होनेपर (प्रलयमें) शेष रहती है, वही परमार्थ वस्तु है—ऐसा देखे ॥ १६ ॥

[दो श्लोकोंसे वैराग्यका प्रतिपादन करते हैं—] श्रुति, प्रत्यक्ष, ऐतिह्य और अनुमान इन चार प्रमाणोंसे यह निश्चय होता है कि

कर्मणां परिणामित्वादाविरिञ्चादमङ्गलम् ।
विपश्चिन्नश्वरं पश्येददृष्टमपि दृष्टवत् ॥१८॥

प्रपञ्च नाशवान् है, इस कारण विवेकी पुरुष इस विकल्परूप प्रपञ्चसे विरक्त होता है। ['नेह नानास्ति किञ्चन' इत्यादि श्रुति है, पट आदि पदार्थ तन्तुके बिना नहीं दिखायी देते हैं वैसे ही चैतन्यके बिना किसी की उपलब्धि नहीं होती है—यह प्रत्यक्ष है, "महाजनो येन गतः स पन्थाः" यह ऐतिह्य है और अनुमान इस प्रकारका है "दिखाई देनेवाले पदार्थ मिथ्या हैं जैसे—सीपमें चाँदी" इसी प्रकार संसार भी मिथ्या है, क्योंकि यह दिखलायी देता है ।] ॥ १७ ॥

कर्मोंके नाशवान् होनेसे उनसे प्राप्त होनेवाले ब्रह्मलोक-पर्यन्त सब लोक विकारयुक्त होनेके कारण अमङ्गल हैं, अतः विद्वान् इस लोकके सुखोंके समान परलोकके सुखोंको भी नाशवान् समझे ॥ १८॥

सातवाँ प्रकरण

भक्ति, ज्ञान, क्रिया और योगका समन्वय

परस्परविरोधी वेदवाक्योंका [जैसे "श्रवण मनन करना चाहिये" इत्यादि विधिवाक्य और "बहुत प्रकारके शास्त्रोंका अध्ययन नहीं करना चाहिये, क्योंकि वे वाणीके परिश्रममात्र हैं;" इत्यादि निषेधवाक्यों-का] स्मरण करते हुए तथा यहाँ भी कल्याणके अनेक साधनोंको सुनकर उद्धव निश्चित कल्याणके साधनोंको पूछते हैं।

श्रीभगवान् विषयमें भेद न होनेपर अधिकारीके भेद होनेसे भी विरोध नहीं है, ऐसा कहनेके लिये आदिमें तीन योगोंको कहते हैं—

श्रीभगवानुवाच❀

योगास्त्रयो मया प्रोक्ता नृणां श्रेयोविधित्सया।
ज्ञानं कर्म च भक्तिश्च नोपायोऽन्योऽस्ति कुत्रचित् ॥६॥
निर्विण्णानां ज्ञानयोगो न्यासिनामिह कर्मसु।
तेष्वनिर्विण्णचित्तानां कर्मयोगस्तु कामिनाम् ॥७॥

श्रीभगवान् बोले—

मनुष्योंके मोक्ष-साधनके निमित्त मैंने ज्ञान, निष्काम कर्म और भक्ति ये तीन प्रकारके उपाय कहे हैं और शास्त्रोंमें इनके सिवा और कोई उपाय नहीं है ॥ ६ ॥

[दो श्लोकोंसे कहते हैं कि इन योगोंमें अधिकारीका भेद है—] दुःखबुद्धिसे कर्मोंके फलसे विरक्त और इसी कारण कर्मोंका संन्यास करनेवालोंको ज्ञानयोग [सिद्धि देनेवाला है], जिनको कर्मोंमें दुःख बुद्धि नहीं है, उन कामी पुरुषोंको कर्मयोग [सिद्धि देनेवाला है] ॥७॥

❀ भा० ११-२०-६ इत्यादि।

यदृच्छया मत्कथादौ जातश्रद्धस्तु यः पुमान् ।
न निर्विण्णो नाऽतिसक्तो भक्तियोगोऽस्य सिद्धिदः ॥८॥
तावत् कर्माणि कुर्वीत न निर्विद्येत यावता ।
मत्कथाश्रवणादौ वा श्रद्धा यावन्न जायते ॥९॥
स्वधर्मस्थो यजन्यज्ञैरनाशीःकाम उद्धव ।
न याति स्वर्गनरकौ यद्यन्यन्न समाचरेत् ॥१०॥
अस्मिँल्लोके वर्तमानः स्वधर्मस्थोऽनघः शुचिः ।
ज्ञानं विशुद्धमाप्नोति मद्भक्तिं वा यदृच्छया ॥११॥

और जिस पुरुषको अपने भाग्योदयसे मेरी कथाओंके श्रवण आदिमें श्रद्धा उत्पन्न हो गई है; परन्तु कर्मफलोंमें न वैराग्य है और न अधिक आसक्ति है, उसको भक्तियोग सिद्धि देनेवाला है ॥ ८ ॥

[कर्मयोगकी अवधि कहते हैं—] जबतक वैराग्य न हो अथवा मेरी कथा आदि सुननेमें श्रद्धा न हो तबतक नित्य और नैमित्तिक कर्म करने चाहियें ॥ ९ ॥

[कर्मयोगी पुरुषका ज्ञान और भक्ति भूमिकाका आरोहणप्रकार कहते हैं—] हे उद्धव! जो पुरुष फलकी कामना रहित हो अपने धर्ममें रहकर यज्ञोंसे मेरी आराधना करता है और निषिद्ध कर्म नहीं करता वह स्वर्ग और नरकमें नहीं जाता है । [भाव यह है कि अपने धर्ममें तत्पर रहनेसे तथा निषिद्ध कर्म न करनेसे नरकमें नहीं जाता और निष्काम कर्म करनेसे स्वर्गमें भी नहीं जाता है ।] ॥ १० ॥

इस लोकमें इसी देहमें रहता हुआ और निषिद्ध कर्मोंका त्याग करनेसे पवित्र हुआ अनायास विशुद्ध ज्ञान अथवा मेरी भक्तिको प्राप्त करता है ॥ ११ ॥

स्वर्गिणोऽप्येतमिच्छन्ति लोकं निरयिणस्तथा ।
साधकं ज्ञानभक्तिभ्यामुभयं तदसाधकम् ॥१२॥
न नरः स्वर्गतिं काङ्क्षेन्नारकीं वा विचक्षणः ।
नेमं लोकं च काङ्क्षेत देहाऽऽवेशात् प्रमाद्यति ॥१३॥
एतद्विद्वान् पुरा मृत्योरभवाय घटेत सः ।
अप्रमत्त इदं ज्ञात्वा मर्त्यमप्यर्थसिद्धिदम् ॥१४॥
छिद्यमानं यमैरेतैः कृतनीडं वनस्पतिम् ।
खगः स्वकेतमुत्सृज्य क्षेमं याति ह्यलम्पटः ॥१५॥

[ज्ञान और भक्तिका साधक होनेसे मनुष्यशरीरकी स्तुति करते हैं—] जैसे नरकमें पड़े हुए जीव इस मनुष्यदेहकी इच्छा करते हैं वैसे ही स्वर्गके देवता भी इच्छा करते हैं, क्योंकि जैसा यह मनुष्य-शरीर ज्ञान और भक्तिका साधक है वैसे अन्य (स्वर्ग या नरकके) शरीर नहीं हैं ॥ १२ ॥

इस कारण विवेकी पुरुष जैसे नरक जानेकी इच्छा नहीं करता वैसे स्वर्गकी भी इच्छा न करे । [भाव यह है कि स्वर्ग और नरक-में ले जानेवाले कर्म न करे ।] और यह भी इच्छा न करे कि अतिश्रेष्ठ होनेसे मनुष्य-शरीर ही मुझे मिले, क्योंकि शरीर आदिमें "मैं" और "मेरा" ऐसी आसक्ति होनेसे मनुष्य अपने स्वार्थमें सावधान नहीं रहता है ॥ १३ ॥

इस शरीरका सम्बन्ध अनर्थका कारण है, ऐसा जाननेवाला पुरुष पुरुषार्थसाधन होनेपर भी इस शरीरको मरणशील जानकर मृत्युका समय आनेसे पहले, समर्थदशामें ही, आलस्यरहित हो मोक्षका यत्न करे ॥ १४ ॥

जैसे घोंसला बनाकर रहनेवाला पक्षी यमराजकी तरह निर्दय पुरुषों द्वारा वृक्षके काटे जानेपर अपने आश्रयमें आसक्तिको छोड़कर सुखी होता है ॥ १५ ॥

अहोरात्रैश्छिद्यमानं बुद्ध्वाऽऽयुर्भयवेपथुः ।
मुक्तसङ्गः परं बुद्ध्वा निरीह उपशाम्यति ॥१६॥
नृदेहमाद्यं सुलभं सुदुर्लभं
प्लवं सुकल्पं गुरुकर्णधारम् ।
मयाऽनुकूलेन नभस्वतेरितं
पुमान् भवाब्धिं न तरेत् स आत्महा ॥१७॥
यदारम्भेषु निर्विण्णो
विरक्तः संयतेन्द्रियः ।
अभ्यासेनाऽऽत्मनो योगी
धारयेदचलं मनः ॥ १८ ॥

वैसे ही दिन और रात आयुको काट रहे हैं, यह जानकर भयसे काँपनेवाला पुरुष आसक्ति रहित होकर और परमात्माको जानकर आकाङ्क्षा रहित शान्तिको प्राप्त होता है ॥१६॥

जो पुरुष मनुष्यशरीररूपी नौकाको पाकर संसारसागरको नहीं तैरता वह आत्मघाती है; क्योंकि यह [शरीर] सब फलोंकी प्राप्तिका मूल है, यद्यपि यह कोटि उपायोंसे भी नहीं मिलता है तथापि दैवयोगसे प्राप्त हो जाता है और इससे सब पुरुषार्थ सिद्ध हो सकते हैं। संसारको पार करनेके लिये यह दृढ़ नौका है, गुरु ही इसके कर्णधार हैं तथा मेरा स्मरणमात्र ही अनुकूल वायु है, जिससे यह प्रेरित होता है ॥१७॥

[इस प्रकार अविरक्तके लिए वैराग्य द्वारा ज्ञान और भक्तिका साधक कर्मयोग कहकर अब पूर्ण विरक्तके लिये ज्ञानयोग और ज्ञान-प्राप्तिके पहले त्यागने योग्य कृत्योंको साढ़े नौ श्लोकोंसे कहते हैं—]
जब कर्मोंमें (प्रवृत्तिमें) दुःख देखनेसे घबड़ा उठे और कर्मफलसे विरक्त हो जाय तब योगी इन्द्रियोंको वशमें करके निरन्तर आत्माकार वृत्तिसे मनको मुझमें स्थिर करे ॥१८॥

धार्यमाणं मनो यर्हि भ्राम्यदाश्वनवस्थितम् ।
अतन्द्रितोऽनुरोधेन मार्गेणाऽऽत्मवशं नयेत् ॥१९॥
मनोगतिं न विसृजेज्जितप्राणो जितेन्द्रियः ।
सत्त्वसंपन्नया बुद्ध्या मन आत्मवशं नयेत् ॥२०॥
एष वै परमो योगो मनसः सङ्ग्रहः स्मृतः ।
हृदयज्ञत्वमन्विच्छन्दम्यस्येवाऽर्वतो मुहुः ॥२१॥
साङ्ख्येन सर्वभावानां प्रतिलोमानुलोमतः ।
भवाप्ययावनुध्यायेन्मनो यावत्प्रसीदति ॥२२॥

[पहले ही निश्चलरूपसे धारण करना असम्भव है, इसलिए कुछ-कुछ मनके स्वभावके अनुकूल चलकर उसे वशमें करना चाहिये—] मुझमें धारण किया जा रहा मन यदि [चञ्चल होनेके कारण] दूसरे विषयों-में चला जाय और अस्थिर होवे, तो आलस्य रहित होकर उसकी कुछ इच्छा पूरी करते हुए धीरे-धीरे उसे अपने वशमें कर ले ॥१९॥

[शङ्का—वह फिर भी पहलेके समान चञ्चल हो जावेगा ? समाधान—] मनकी गतिकी सर्वथा उपेक्षा नहीं करनी चाहिये, किन्तु प्राण और इन्द्रियोंको जीतकर सात्त्विक बुद्धि द्वारा उसे अपने वशमें करे ॥ २० ॥

[मनके निग्रहका श्रेष्ठ उपाय कहते हैं—] जैसे घोड़ेका चालक उद्धत घोड़ेकी गतिको अपने मनके अनुसार करनेके लिए पहले उस घोड़ेकी इच्छाके अनुसार आप भी चलता है फिर शनैः-शनैः उसको अपनी इच्छाके अनुकूल कर लेता है वैसे ही मनका भी निरोध करना चाहिये यह अनुसरण मार्गसे मनका संयम परम योग है ॥२१॥

[इस प्रकार कुछ-कुछ वशमें हुए मनको अत्यन्त निश्चल करने-का उपाय तीन श्लोकोंसे कहते हैं—] मनके निश्चल होनेतक तत्त्व-विवेकसे महत्से लेकर देहतक सब पदार्थोंका अनुलोम क्रम [प्रकृति

निर्विण्णस्य विरक्तस्य पुरुषस्योक्तवेदिनः ।
मनस्त्यजति दौरात्म्यं चिन्तितस्याऽनुचिन्तया ॥२३॥
यमादिभिर्योगपथैरान्वीक्षिकया च विद्यया ।
ममाऽर्चोपासनाभिर्वा नाऽन्यैर्योग्यं स्मरेन्मनः ॥२४॥
यदि कुर्यात्प्रमादेन योगी कर्म विगर्हितम् ।
योगेनैव दहेदंहो नाऽन्यत्तत्र कदाचन ॥२५॥
स्वे स्वेऽधिकारे या निष्ठा स गुणः परिकीर्तितः ।

आदिके क्रम] से उत्पत्ति और प्रतिलोम क्रम [पृथ्वी आदिके क्रम] से लयका चिन्तन करता रहे* ॥ २२ ॥

संसारसे खिन्न होकर विरक्त हुआ, गुरुके उपदेशका विचार करनेवाला और उसी उपदेशका बारम्बार चिन्तन करनेवाला पुरुष काम्य विषयोंमें आसक्ति त्याग देता है ॥ २३ ॥

यम आदि योगमार्गोंसे ''तत्त्वम्'' पदार्थके शोधनरूप ब्रह्मविद्यासे, अथवा मेरे अर्चन और ध्यानसे मन परमात्माका स्मरण करता है और उपायोंसे नहीं; अतः और उपाय न करे । ('अथवा' शब्दसे भक्तिको स्वतन्त्र साधन बतलाया है) ॥ २४ ॥

यदि प्रमादवश योगीसे पापकर्म बन जायँ, तो उस पापको वह ज्ञानाभ्यासरूप योगसे [यदि भक्त हो, तो नामकीर्त्तनादिसे] जला दे, किन्तु कृच्छ्र,चान्द्रायण आदि प्रायश्चित्त कदापि न करे ॥ २५ ॥

[शङ्का—नित्य तथा नैमित्तिक कर्म अन्तःकरणके शोधक होनेसे गुण हैं और हिंसादि कर्म अशुद्धिके हेतु होनेसे दोष हैं और उनकी निवृत्तिके लिये कृच्छ्र, चान्द्रायण आदि प्रायश्चित्तोंका विधान किया गया है, तो इनके बिना केवल योगसे कैसे पाप भस्म होंगे ? इसका समाधान डेढ़ श्लोकसे करते हैं—] अपने-अपने अधिकारकी निष्ठा रखना

---

* देखिये अध्याय ७ प्रकरण २ ।

कर्मणां जात्यशुद्धानाममनेन नियमः कृतः ।
गुणदोषविधानेन सङ्गानां त्याजनेच्छया ॥२६॥
जातश्रद्धो मत्कथासु निर्विण्णः सर्वकर्मसु ।
वेद दुःखात्मकान् कामान् परित्यागेऽप्यनीश्वरः॥२७॥
ततो भजेत मां प्रीतः श्रद्धालुर्दृढनिश्चयः ।
जुषमाणश्च तान्कामान्दुःखोदर्कांश्च गर्हयन् ॥२८॥

गुण है और स्वाभाविक प्रवृत्ति करानेवाले कर्म जन्मसे ही अनर्थके कारण हैं, इसलिये विषयोंमें आसक्ति छोड़नेके लिये वेदमें गुण-दोषोंका विधान किया गया है। [भाव यह है कि मनुष्यको मलिन करनेवाली प्रवृत्तिके सिवा अन्य वस्तु नहीं है और वह सहसा नहीं रोकी जा सकती है, इसलिये वेदोंमें निषिद्ध और विहित कर्मोंका प्रतिपादन किया है, किन्तु वेद वास्तवमें निवृत्तिपरक ही हैं† ।

इसलिये यह सिद्ध हुआ कि योगीको, स्वाभाविक प्रवृत्ति रुक जानेसे, किसी प्रायश्चित्तकी आवश्यकता नहीं है। यदि संयोगवश उससे पाप हो पड़ें, तो परम शोधक होनेसे ज्ञान और भक्ति पापोंका नाश कर देते हैं ॥ २६ ॥

[भक्तिके अधिकारीके लिये नौ श्लोकोंसे भक्तियोग कहते हैं—]
जिसको मेरी कथा सुननेमें श्रद्धा हो गयी है और सब सांसारिक कर्मोंमें विराग हो गया है एवं यह जानते हुए भी कि कामनाएँ दुःख-की कारण हैं, उनको त्यागनेमें असमर्थ हैं; ॥ २७ ॥

ऐसा श्रद्धालु और भक्तिसे सब कुछ हो जायगा, यों दृढ़ निश्चय करनेवाला पुरुष, दुःख देनेवाले विषयोंकी निन्दा करता हुआ और अपने निर्वाहमात्रके लिये उनका सेवन करता हुआ, मेरा भजन करे ॥ २८ ॥

---

† देखिये भा० ११।२१।२४,२५ ।

प्रोक्तेन भक्तियोगेन भजतो माऽसकृन्मुनेः ।
कामा हृदय्या नश्यन्ति सर्वे मयि हृदि स्थिते ॥२९॥
भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः ।
क्षीयन्ते चाऽस्य कर्माणि मयि दृष्टेऽखिलात्मनि ॥३०॥
तस्मान्मद्भक्तियुक्तस्य योगिनो वै मदात्मनः ।
न ज्ञानं न च वैराग्यं प्रायः श्रेयो भवेदिह ॥३१॥
यत्कर्मभिर्यत्तपसा ज्ञानवैराग्यतश्च यत् ।
योगेन दानधर्मेण श्रेयोभिरितरैरपि ॥३२॥

इस प्रकार पहले कहे गये भक्तियोगसे* मेरा नित्य भजन करनेवाले मुनिके हृदयमें मेरा निवास होनेपर उसके हृदयकी कामवासनाएँ नष्ट हो जाती हैं ॥२९॥

[इसीको श्रुतिसे दिखाते हैं—] मेरा साक्षात्कार होनेपर इस भक्तकी अहङ्काररूप हृदयकी ग्रन्थि टूट जाती है और सब असम्भावना आदि संशय छूट जाते हैं तदनन्तर उसके संसारके कारणभूत आगामी कर्म नष्ट हो जाते हैं ॥ ३० ॥

[इस प्रकार ज्ञान, भक्ति और कर्मयोगकी व्यवस्था कही, अब तीन श्लोकोंसे कहते हैं कि इनमें भक्तिको अन्य दोनोंकी आवश्यकता नहीं है, किन्तु ज्ञान और कर्मयोगमें भक्तिकी आवश्यकता है; अतः भक्तियोग ही श्रेष्ठ है—] इस कारण मेरी भक्तिसे युक्त और मुझमें चित्त लगानेवाले योगीको ज्ञान अथवा वैराग्य रूप कल्याणके साधनोंकी आवश्यकता नहीं है ॥ ३१ ॥

जो सत्त्वशुद्धि आदि यज्ञ, तप, ज्ञान, वैराग्य, योग, दान, धर्म या अन्य कल्याणके साधनोंसे मिलते हैं ॥३२॥

---

* देखिये छठे अध्यायका पहला प्रकरण ।

सर्वं मद्भक्तियोगेन मद्भक्तो लभतेऽञ्जसा ।
स्वर्गापवर्गं मद्धाम कथंचिद् यदि वाञ्छति ॥३३॥
न किञ्चित्साधवो धीरा भक्ता ह्येकान्तिनो मम ।
वाञ्छन्त्यपि मया दत्तं कैवल्यमपुनर्भवम् ॥३४॥
नैरपेक्ष्यं परं प्राहुर्निःश्रेयसमनल्पकम् ।
तस्मान्निराशिषो भक्तिर्निरपेक्षस्य मे भवेत् ॥३५॥
न मय्येकान्तभक्तानां गुणदोषोद्भवा गुणाः ।
साधूनां समचित्तानां बुद्धेः परमुपेयुषाम् ॥३६॥
एवमेतान्मयादिष्टाननुतिष्ठन्ति मे पथः ।
क्षेमं विन्दन्ति मत्स्थानं यद्ब्रह्म परमं विदुः ॥३७॥

मेरा भक्त उन सबको मेरी भक्तिसे अनायास प्राप्त करता है, यदि कदाचित् उसको स्वर्ग, मोक्ष अथवा वैकुण्ठकी इच्छा हो, तो उनको भी प्राप्त करता है ॥ ३३ ॥

लेकिन सदाचारवान्, धैर्यवान् और मेरे एकान्त भक्त मेरे द्वारा दिये गये आत्यन्तिक मोक्षको भी नहीं चाहते हैं ॥ ३४ ॥

[इसीका प्रतिपादन करते हैं—] कामना रहित पुरुषको मुझ निरपेक्ष अथवा पूर्णकामकी भक्ति प्राप्त होती है । इसलिये निरपेक्षता ही सबसे उत्कृष्ट कल्याणका साधन है, ऐसा वृद्ध पुरुष कहते हैं ॥ ३५ ॥

[ज्ञान और भक्तिसे सुसम्पन्न पुरुषोंसे विधि-निषेधरूप पुण्य-पाप नहीं बनते, इसका उपसंहार करते हैं—] बुद्धिसे परे ईश्वर-पदको प्राप्त हुए साधु और समचित्त मेरे एकान्त भक्तोंको पुण्य-पाप आदि गुण-दोष प्राप्त नहीं होते हैं ॥ ३६ ॥

इस प्रकार मेरे द्वारा कहे गये मेरी प्राप्तिके तीन मार्गोंका जो अवलम्बन करते हैं, वे काल, कर्म आदिके भयसे रहित मेरे लोकको प्राप्त होते हैं और परब्रह्मको जानते हैं ॥ ३७ ॥

आठवाँ प्रकरण

प्रकृति-पुरुषका विवेक तथा पूर्वजन्ममीमांसा

यद्यपि "नेह नानास्ति किञ्चन" इत्यादि श्रुतिके अनुसार केवल एक चेतन आत्मा ही है तथापि प्रत्यक्षरूपसे उपलभ्यमान इस दृश्य जगत्की क्या गति होगी ? इसलिये इसका विवेचन यहाँ करते हैं । श्रीमद्भागवतके अनुसार यह दृश्यमान जगत् अट्ठाइस तत्त्वोंके अन्तर्गत है । वे इस प्रकार हैं—पुरुष, प्रकृति, व्यक्त (महत्), अहङ्कार, आकाश, वायु, तेज, जल, पृथिवी, श्रोत्र, त्वचा, चक्षु, घ्राण, जिह्वा, वाणी, हाथ, उपस्थ, गुदा, पैर, मन, शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध, सत्त्व, रज और तम। इनमें से अन्तके २६ तत्त्वों-का संकोच करनेपर उसका अन्तर्भाव प्रकृतिमें हो जाता है । वास्तविक विचार करनेपर प्रकृति भी निस्तत्त्व है, क्योंकि यह पुरुषकी शक्ति-मात्र है । पुरुष अपनी शक्ति (माया) से पृथिवी आदिके क्रमसे सम्पूर्ण सृष्टि करता है । उसकी प्रक्रिया भागवत-स्तुतिसंग्रहमें देखनी चाहिये* ।

शङ्का—शक्ति भी कार्यक्षम होनेसे पृथक् तत्त्व है, यथा फोड़ा आदि विकारका उत्पादन करनेसे अग्नि पृथक् तत्त्व है ।

समाधान—ठीक है, तथापि मणि, मन्त्र, औषधिसे अग्निकी शक्ति रुक जाती है इस कारण शक्ति पृथक् तत्त्व नहीं है । इसी प्रकार पुरुषकी शक्ति भी निस्तत्त्व है । ऐसी दशामें प्रकृति जड़ है, दृश्य होनेसे, विकारी होनेसे और सत्ता, स्फूर्ति रहित होनेसे घटके समान; पुरुष चैतन्य है, व्यापक होनेसे, विकार रहित होनेसे, साक्षी होनेसे और सत्ता-स्फूर्तिवाला होनेसे आत्माके समान । इतनेपर भी इन दोनोंका भेद नहीं दिखायी देता है, क्योंकि ये एक दूसरेके आश्रयसे रहते हैं ।

* भागवत-स्तुतिसंग्रह पृ० १९०–१९९ तथा इस ग्रन्थका अध्याय ७ प्रकरण २ ।

श्रीभगवानुवाच—

मनः कर्ममयं नृणामिन्द्रियैः पञ्चभिर्युतम् ।
लोकाल्लोकं प्रयात्यन्य आत्मा तदनुवर्तते ॥३६॥
ध्यायन्मनोऽनुविषयान् दृष्टान्वाऽनुश्रुतानथ ।
उद्यत्सीदत्कर्मतन्त्रं स्मृतिस्तदनु शाम्यति ॥३७॥

इस कारण उद्धवको शंका हुई कि देह ही आत्मा है । श्रीभगवान्के मतके अनुसार इसका कारण आत्माका अज्ञान ही है और आत्म-साक्षात्कारसे उसकी निवृत्ति होती है। जिनको आत्माका ज्ञान नहीं है, वे ऊँच-नीच (विविध) देहको ग्रहण करते हैं और छोड़ते भी हैं। इस प्रकार प्रश्नका अवसर पाकर उद्धव पूछते हैं—व्यापक आत्माका एक देहसे दूसरे देहमें जाना, अकर्ताका कर्म करना और नित्य पदार्थका जन्म-मरण किस प्रकार हो सकते हैं ? ये सब लिङ्ग शरीरके अध्याससे होते हैं, ऐसा उत्तर देनेके लिये श्रीभगवान् बोले*—

पाँच ज्ञानेन्द्रियों, (पाँच कर्मेन्द्रियों तथा पाँच तन्मात्राओं) से युक्त जीवोंको मन (अर्थात् मनप्रधान कर्माधीन लिङ्गशरीर) एक देहसे दूसरी देहमें जाता है और आत्मा उससे पृथग् होता हुआ भी उसके साथ ऐक्यका अभिमान होनेसे उसका अनुसरण करता है। [भाव यह है कि जैसे घटको ले जानेपर घटाकाश भी जाता हुआ-सा प्रतीत होता है वैसे ही लिङ्गशरीरके जानेपर आत्मा भी जाता-सा प्रतीत होता है। वास्तवमें व्यापक होनेसे आत्मा न जाता है और न आता है] ॥३६॥

[शङ्का—मनका पहले शरीरसे वियोग और दूसरे शरीरसे संयोग किस प्रकार होता है ? समाधान—स्मृतिके संयोग और वियोगसे ही मनका संयोग और वियोग होता है—] कर्माधीन मन फलोन्मुख कर्मोंसे उपस्थित देखे गये अथवा सुने गये विषयोंका देहके अन्तकालके

---

* भा० ११।२२।३६ इत्यादि ।

विषयाभिनिवेशेन नाऽऽत्मानं यत्स्मरेत् पुनः ।
जन्तोर्वै कस्यचिद्धेतोर्मृत्युरत्यन्तविस्मृतिः ॥३८॥
जन्म त्वात्मतया पुंसः सर्वभावेन भूरिद ।
विषयस्वीकृतिं प्राहुर्यथा स्वप्नमनोरथः ॥३९॥
स्वप्नं मनोरथं चेत्थं प्राक्तनं न स्मरत्यसौ ।
तत्र पूर्वमिवाऽऽत्मानमपूर्वं चाऽनुपश्यति ॥४०॥
इन्द्रियायनसृष्ट्येदं त्रैविध्यं भाति वस्तुनि ।
बहिरन्तर्भिदाहेतुर्जनोऽसज्जनकृद्यथा ॥४१॥

समय ध्यान करने लगता है, उस समय ध्यान किये जाते विषयोंमें आविर्भूत होता है और पुराने विषयोंसे हट जाता है तदनन्तर उसकी स्मरणशक्ति नष्ट हो जाती है ॥ ३७ ॥

[फिर क्या होता है ?—] तब कर्मोंसे प्राप्त हुए [देवादि] शरीरमें "यही मैं हूँ" ऐसा अत्यन्त अभिनिवेश होनेपर मन पूर्व देहका स्मरण नहीं करता है। और नारकीय शरीरमें अभिनिवेश होनेसे भय और विशेष दुःखोंसे अथवा देवादिशरीर मिलनेसे अत्यन्त हर्षसे प्रथम देहका सर्वथा विस्मरण हो जाता है। [भाव यह है कि आत्माका देहके समान नाश नहीं होता है।] ॥ ३८ ॥

हे उदार ! स्वप्न और मनोराज्यके समान नवीन देहादिमें आत्मरूपसे अभिमान करना ही जीवका जन्म होना कहा जाता है। [भाव यह है कि न तो नवीन देहकी उत्पत्ति होनेपर आत्माका जन्म होता है और न उसमें अतिशय प्रीति होना ही जन्म है।] ॥ ३९ ॥

[दृष्टान्तका विवरण दो श्लोकोंसे करते हैं—] जैसे जीव स्वप्न अथवा मनोराज्यके समय अपने मुख्य शरीरका स्मरण न करके उस समय प्रतीत होनेवाले शरीरको अपूर्व देह-सा देखता है ॥४०॥

जैसे जीव स्वप्नमें कल्पित नाना प्रकारके असत् देहादिमें अभिमान

नित्यदा ह्यङ्ग भूतानि भवन्ति न भवन्ति च ।
कालेनाऽलक्ष्यवेगेन सूक्ष्मत्वात्तन्न दृश्यते ॥४२॥
यथाऽर्चिषां स्रोतसां च फलानां वा वनस्पतेः ।
तथैव सर्वभूतानां वयोऽवस्थादयः कृताः ॥४३॥
सोऽयं दीपोऽर्चिषां यद्वत्स्रोतसां तदिदं जलम् ।
सोऽयं पुमानिति नृणां मृषा गीर्धीर्मृषायुषाम् ॥४४॥

करता है [अथवा जैसे पिता स्वयं समदृष्टि होता हुआ भी अपने दुष्ट पुत्रके मित्र और वैरियोंमें भेददृष्टि रखता है] वैसे ही इन्द्रियोंके राजा मनका दूसरे देहमें अभेदाध्यास करनेसे जो जन्म होता है, उससे आत्मामें भी मनके अभिनिवेशसे तीन प्रकारका असत् जन्म समझा जाता है । [अर्थात् उत्तम, मध्यम, नीच योनि या देह, इन्द्रिय, अन्तःकरणरूप अथवा विश्व, तैजस, प्राज्ञरूप ये तीन प्रकारके जन्म हैं ।] ऐसा आत्मा बाह्य विषयों और आन्तर सुख आदिको देखता है ॥ ४१ ॥

हे उद्धव ! शरीरोंके जन्म-मरण क्षण-क्षणमें होते रहते हैं तथापि कालके अतिसूक्ष्म और नहीं प्रतीत होनेवाले वेगसे वे अविवेकियोंको प्रतीत नहीं होते हैं ॥ ४२ ॥

जैसे अग्नि (अथवा दीपक) की ज्वालाओंका परिणाम आदिसे, नदीका प्रवाह आदिसे और वृक्षों अथवा फलोंका रूप आदिसे क्षण-क्षणमें परिवर्तन होता रहता है वैसे ही सब जीवोंकी देहोंके आयु, अवस्था आदि काल द्वारा बदलते रहते हैं ॥ ४३ ॥

[प्रश्नः—प्रत्यभिज्ञा अर्थात् वह ज्ञान कि वही मैं हूँ कैसे होता है ? समाधान—सादृश्यसे होता है] जैसे दीपकी ज्योतिमें यही वह (पहलेवाली) ज्योति है और नदीके प्रवाहमें वही यह (पहलावाला) जल है, ऐसी (मिथ्या) प्रतीति होती है वैसे ही "यही वह पुरुष है" ऐसी अविवेकियोंकी बुद्धि और वाणी भी मिथ्या है ॥४४॥

मा स्वस्य कर्मबीजेन जायते सोऽप्ययं पुमान् ।
म्रियते वाऽमरो भ्रान्त्या यथाऽग्निर्दारुसंयुतः ॥४५॥
निषेकगर्भजन्मानि बाल्यकौमारयौवनम् ।
वयोमध्यं जरा मृत्युरित्यवस्थास्तनोर्नव ॥४६॥
एता मनोरथमयीर्ह्यन्यस्योच्चावचास्तनूः ।
गुणसङ्गादुपादत्ते क्वचित्कश्चिज्जहाति च ॥४७॥
आत्मनः पितृपुत्राभ्यामनुमेयौ भवाप्ययौ ।
न भवाप्ययवस्तूनामभिज्ञो द्वयलक्षणः ॥४८॥

[शङ्का—यह व्यवस्था ठीक नहीं है कि देहाध्यासवालेके जन्म-मरण होते हैं अन्यके नहीं, क्योंकि यह कहना कैसे ठीक है कि एक ही घट एक मनुष्यके मतमें है और दूसरेके मतमें नहीं है ? समाधान—वास्तवमें अज्ञानीके भी जन्म-मरण नहीं होते] जैसे—कल्पपर्यन्त रहनेवाला महाभूतरूप अग्नि काठके संयोग-वियोगसे उत्पत्ति और नाशवाला प्रतीत होता है वैसे ही यह देहाभिमानवाला जीव बीजभूत अपने कर्मोंसे वास्तवमें न जन्मता है और न मरता है, किन्तु देहके अध्याससे अजन्मा भी जन्म पाता-सा और अमर भी मरता-सा प्रतीत होता है ॥४५॥

गर्भमें प्रवेश, वहाँ बढ़ना, जन्म लेना, बाल्य, कौमार, यौवन, मध्यवयस्क, वृद्धावस्था और मृत्यु शरीरकी नौ अवस्थाएँ होती हैं ॥४६॥

[इसीका उपसंहार करते हैं कि देहके सम्बन्धसे ही जन्म-मरण होते हैं—] जीवको मनके विकारसे प्राप्त ये विविध देहकी अवस्थाएँ देहके अध्याससे प्राप्त होती हैं और कोई प्राणी ईश्वरके अनुग्रहसे उन अवस्थाओंका कभी त्याग कर देते हैं ॥४७॥

[यद्यपि मूर्छाके कारण देहके जन्म-मरण धर्म अपनेमें नहीं दिखाई देते हैं—] तथापि अपने पिताका देहपात और अपने पुत्रका

तरोर्बीजविपाकाभ्यां यो विद्वाञ्जन्मसंयमौ ।
तरोर्विलक्षणो द्रष्टा एवं द्रष्टा तनोः पृथक् ॥४९॥
प्रकृतेरेवमात्मानमविविच्याऽबुधः पुमान् ।
तत्त्वेन स्पर्शसंमूढः संसारं प्रतिपद्यते ॥५०॥
सत्त्वसङ्गादृषीन्देवान्रजसाऽसुरमानुषान् ।
तमसा भूततिर्यक्त्वं भ्रामितो याति कर्मभिः ॥५१॥
नृत्यतो गायतः पश्यन्यथैवाऽनुकरोति तान् ।
एवं बुद्धिगुणान् पश्यन्ननीहोऽप्यनुकार्यते ॥५२॥

जन्म देखकर यह अनुमान हो सकता है कि अपने देहके भी जन्म और मरण होते हैं । इस प्रकार दृश्य होनेके कारण इस उत्पत्ति और नाशका द्रष्टा (आत्मा) इन दोनों अवस्थाओंसे रहित है ॥४८॥

जैसे वृक्ष (यवादि) का जन्म उनके बीजसे और नाश उनके काटे जानेसे होता है, ऐसा जो जानता है, वह द्रष्टा वृक्षसे पृथक् है वैसे ही जीव भी शरीरके जन्म-मरणका द्रष्टा है और शरीरसे पृथक् है ॥४९॥

[पाँच श्लोकोंसे यह दिखाते हैं अज्ञानीको संसार प्राप्त होता है—] इस प्रकार प्रकृतिसे आत्माको पृथक् न देखनेवाला अज्ञानी पुरुष तत्त्वरूपसे विषयोंमें आसक्त होकर जन्म-मरणरूप संसारको पाता है ॥५०॥

जीव कर्मोंसे घुमाया जाकर सत्त्वगुणके संयोगसे ऋषियों अथवा देवताओंमें, रजोगुणके संयोगसे असुरों अथवा मनुष्योंमें और तमोगुणके संयोगसे पिशाच अथवा तिर्यक् योनिमें जन्म पाता है ॥ ५१ ॥

[शङ्का—अकर्त्ता आत्माका कर्मों द्वारा घुमाया जाना कैसे बन सकता है ? समाधान—] जैसे नाचने या गानेवाले मनुष्योंका अनुकरण उनको देखनेवाला करता है [अर्थात् उस नृत्य, गान आदिके स्वर, ताल आदि गति या करुण आदि रसका आस्वादन करता है] उसी

यथाऽम्भसा प्रचलता तरवोऽपि चला इव ।
चक्षुषा भ्राम्यमाणेन दृश्यते भ्रमतीव भूः ॥५३॥
यथा मनोरथधियो विषयानुभवो मृषा ।
स्वप्नदृष्टाश्च दाशार्ह तथा संसार आत्मनः ॥५४॥
अर्थे ह्यविद्यमानेऽपि संसृतिर्न निवर्त्तते ।
ध्यायतो विषयानस्य स्वप्नेऽनर्थागमो यथा ॥५५॥

प्रकार अकर्ता आत्मा, बुद्धिसे कराई गई देहकी चेष्टा आदिको देखता हुआ और उनका अपनेमें अध्यास करके तदनुसार अनुकरण करता है। [इस दृष्टान्तसे यह भी दिखा दिया कि दृश्य धर्मका द्रष्टामें स्फुरण होता है।] ॥५२॥

[इसमें दृष्टान्त देते हैं कि उपाधिके धर्म उपहितमें भासते हैं—] जैसे जलके हिलनेके कारण तटस्थ वृक्ष चलते हुएसे प्रतीत होते हैं, जैसे चक्कर काटकर घूमनेवाले पुरुषको पृथिवी घूमती हुई प्रतीत होती है [वैसे ही यहाँ भी समझो कि अन्तःकरणके धर्म आत्मामें भासते हैं अथवा आत्माके आनन्दादि गुण विषयोंमें भासते हैं] ॥५३॥

[दो दृष्टान्तोंसे भोगका मिथ्यात्व दिखलाते हैं—] हे दाशार्ह ! जैसे स्वप्नमें दिखायी देनेवाले या मनोराज्यमें उपलब्ध होनेवाले विषय मिथ्या हैं वैसे ही आत्माको प्राप्त हुआ विषयानुभवरूप संसार मिथ्या है ॥५४॥

[शङ्का—यदि विषय मिथ्या हैं, तो उनकी निवृत्ति करनेका यत्न वृथा है ? समाधान—] जैसे विषयोंकी चिन्ता करनेवाले स्वप्न-द्रष्टाके दुःख सच्चे न होकर भी जागे बिना (जागनेके पहले) दूर नहीं होते हैं वैसे ही अन्तःकरणके धर्म सुख, दुःख आदि आत्मामें नहीं होते हुए भी विषयोंका चिन्तन करनेसे पुरुषके जन्म-मरणके कारण होते हैं। इसलिए अज्ञानकी निवृत्तिके लिये प्रयत्न करना चाहिये ॥५५॥

तस्मादुद्धव मा भुङ्क्ष्व विषयानसदिन्द्रियैः ।
आत्माऽग्रहणनिर्भातं पश्य वैकल्पितं भ्रमम् ॥५६॥

हे उद्धव ! इस कारण तुम अपनी दुष्ट इन्द्रियोंसे विषयोंका सेवन न करो और ऐसा समझो कि आत्मतत्त्वके अज्ञानसे ही आत्मामें यह सुख-दुःखरूपी संसारभ्रम प्रतीत हुआ है ॥५६॥
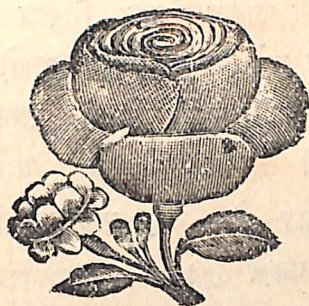
सातवाँ अध्याय

मनका संयम

******

पहला प्रकरण

भिक्षु-गीत

विषयोंका ध्यान करता हुआ कोई पुरुष संसारसागरके पार नहीं जा सकता, इस कारण मनका निरोध स्वयं करना चाहिये। दुष्ट पुरुषों द्वारा किये गये निन्दा आदि आक्षेपोंको सहना विद्वान् पुरुषोंके लिए भी कठिन है, ऐसा समझकर उसको सहन करनेका उपाय पूछते हैं। आगे कहे जानेवाले उपायोंसे यह सब सहन हो सकता है—यह कहनेके लिए भगवान् किसी ब्राह्मणके इतिहासको कहते हैं।

मालवामें एक ब्राह्मण रहता था। वह बड़ा कदर्य, कामी, लोभी और क्रोधी होनेपर भी बड़ा धनी था। वह अपने आपको, धर्मके कार्यको, पुत्र-स्त्री आदिको तथा देवता, अतिथि और भृत्योंको दुःख देनेके कारण उनके क्रोधका भाजन बन गया था। उसके कुछ धनको बान्धवोंने, कुछको चोरोंने छीन लिया और कुछ दैव और कालवश नष्ट हो गया। बड़े कठिन परिश्रमसे उपार्जित धनका नाश हो जानेसे वह बहुत संतप्त हुआ और नीच पुरुषोंसे तिरस्कार, अपमान, हास्य, निन्दा और ताड़नको प्राप्त हुआ; उसके शरीरपर थूका जाता और पेशाब की जाती थी। वह ब्राह्मण खिन्न होकर घरसे निकल गया और भिक्षाके लिये घूमता-फिरता हुआ इस प्रकरणके उपयोगी गीत गाया करता था।

[द्विज उवाच❀]

स चाऽऽहेदमहो कष्टं वृथाऽऽत्मा मेऽनुतापितः ।
न धर्माय न कामाय यस्याऽर्थायास ईदृशः ॥१४॥
प्रायेणाऽर्थाः कदर्याणां न सुखाय कदाचन ।
इह चाऽऽत्मोपतापाय मृतस्य नरकाय च ॥१५॥
यशो यशस्विनां शुद्धं श्लाघ्या ये गुणिनां गुणाः ।
लोभः स्वल्पोऽपि तान् हन्ति श्वित्रो रूपमिवेप्सितम् ॥१६॥
अर्थस्य साधने सिद्ध उत्कर्षे रक्षणे व्यये ।
नाशोपभोग आयासस्त्रासश्चिन्ता भ्रमो नृणाम् ॥१७॥

ब्राह्मणने कहा—

अहो! मैंने अपने शरीरको व्यर्थ दुःख दिया। मैंने धन कमानेमें इतना परिश्रम किया था, मेरा वह धन न धर्ममें लगा और न भोगके काम आया, व्यर्थ ही नष्ट हुआ ॥१४॥

प्रायः कृपणका धन कभी सुख देनेवाला नहीं होता। इस लोकमें जीवन-पर्यन्त दुःख देता है और मरणके अनन्तर [धन रहनेपर भी धर्म न करनेसे] नरकका कारण होता है ॥१५॥

जैसा छोटा-सा श्वेत कुष्ठका धब्बा मनुष्यके सुन्दर स्वरूपको बिगाड़ देता है, वैसे ही थोड़ा-सा भी लोभ यशस्वी पुरुषके निर्मल यशको और गुणवान्के प्रशंसनीय गुणोंको कलङ्कित कर देता है ॥ १६ ॥

द्रव्यके उपार्जनमें, प्राप्त होनेपर भी उसकी वृद्धि, रक्षा और व्ययमें तथा उसके नाश और उपभोगमें मनुष्योंको त्रास, चिन्ता और भ्रम होते हैं। (उनमें चिन्ता = शोकमात्र, आयास=शारीरिक क्लेश, त्रास = जिस किसीसे भय और भ्रम = अधर्ममें धर्मबुद्धि एवं उपकारीमें अपकारी बुद्धि है) ॥ १७ ॥

❀ भा० ११।२३।१४ इत्यादि।

स्तेयं हिंसाऽनृतं दम्भः कामः क्रोधः स्मयो मदः ।
भेदो वैरमविश्वासः संस्पर्धा व्यसनानि च ॥१८॥
एते पञ्चदशाऽनर्था ह्यर्थमूला मता नृणाम् ।
तस्मादनर्थमर्थाख्यं श्रेयोऽर्थी दूरतस्त्यजेत् ॥१९॥
भिद्यन्ते भ्रातरो दाराः पितरः सुहृदस्तथा ।
एकास्निग्धाः काकिणिना सद्यः सर्वेऽरयः कृताः ॥२०॥
अर्थेनाऽल्पीयसा ह्येते संरब्धा दीप्तमन्यवः ।
त्यजन्त्याशु स्पृधो घ्नन्ति सहसोत्सृज्य सौहृदम् ॥२१॥
लब्ध्वा जन्माऽमरप्रार्थ्यं मानुष्यं तद्द्विजाग्र्यताम् ।
तदनादृत्य ये स्वार्थं घ्नन्ति यान्त्यशुभां गतिम् ॥२२॥

चोरी, हिंसा, असत्य, दम्भ, काम, क्रोध, अभिमान, मद, भेद, वैर, अविश्वास, स्पर्धा, स्त्री, जुआ और मद्य—इन पन्द्रह अनर्थोंकी जड़ सर्वसम्मतिसे धन ही है, इस कारण कल्याणको चाहनेवाला पुरुष अर्थ-रूपी अनर्थको दूरसे त्याग दे ॥१८–१९॥

भ्राता, स्त्री, माता, पिता और मित्र जो पहले अभिन्नहृदय और अतिप्रेमी रहते हैं वे सब बीस कौड़ीमात्रके कारण तुरन्त ही विरोधी होकर शत्रु हो जाते हैं; ॥ २० ॥

थोड़े ही धनके निमित्त ये लोग क्षुब्ध और अत्यन्त क्रोधित होकर स्पर्धा (डाह) करते हैं, अतः सहसा सब प्रेमको भूलकर शीघ्र घरसे निकाल देते हैं और मार भी डालते हैं ॥२१॥

देवता भी जिसकी प्रार्थना करते हैं ऐसी मनुष्ययोनि, उसमें भी श्रेष्ठ ब्राह्मणशरीर पाकर भी उसका अनादर करके जो अपने स्वार्थको (मोक्षको) नहीं साधते हैं, वे नरकमें पड़ते हैं ॥ २२ ॥

स्वर्गापवर्गयोर्द्वारं प्राप्य लोकमिमं पुमान् ।
द्रविणे कोऽनुषज्जेत मर्त्योऽनर्थस्य धामनि ॥२३॥
देवर्षिपितृभूतानि ज्ञातीन् बन्धूंश्च भागिनः ।
असंविभज्य चाऽऽत्मानं यक्षवित्तः पतत्यधः ॥२४॥
व्यर्थयाऽर्थेहया वित्तं प्रमत्तस्य वयो बलम् ।
कुशला येन सिध्यन्ति जरठः किं नु साधये ॥२५॥
कस्मात्संक्लिश्यते विद्वान् व्यर्थयाऽर्थेहयाऽसकृत् ।
कस्यचिन्मायया नूनं लोकोऽयं सुविमोहितः ॥२६॥
किं धनैर्धनदैर्वा किं कामैर्वा कामदैरुत ।
मृत्युना ग्रस्यमानस्य कर्मभिर्वोत जन्मदैः ॥२७॥

स्वर्ग और मोक्षके द्वाररूपी इस मनुष्य-शरीरको पाकर कौन-सा मरणशील मनुष्य अनर्थके धाम धनमें आसक्ति करेगा ? ॥२३॥

जो पुरुष देवता, ऋषि, पितर, भूत, ज्ञाति, भाई-बन्धुओं, द्रव्यके भागी अन्य लोगोंकी और अपनी भी तृप्ति द्रव्यके विभागसे अर्थात् अन्नादि देकर नहीं करता है, जो केवल यक्षके समान धनकी रक्षा करनेवाला है, वह पुरुष नरकमें पड़ता है ॥२४॥

धन कमानेमें ही प्रमत्त हुए मेरा वह सब धन, अवस्था और बल जाता रहा जिन (धनादि) से धर्मादि सिद्ध होते हैं । अब वृद्धावस्थाको प्राप्त हुआ मैं कौनसा फल सिद्ध करूँ ? ॥२५॥

अहो ! इस प्रकार अनर्थको जाननेवाला भी पुरुष क्यों निरन्तर व्यर्थ धन प्राप्त करनेके व्यापारसे कष्ट पाता है ? निश्चय है कि सब लोग किसीकी मायासे अत्यन्त मोहित हो रहे हैं ॥२६॥

मृत्युके भक्ष्य बन रहे मनुष्यको धनसे या धन देनेवालोंसे, भोगसे या भोग देनेवालोंसे या बारम्बार जन्म देनेवाले कर्मोंसे क्या प्रयोजन है ? ॥२७॥

नूनं मे भगवांस्तुष्टः सर्वदेवमयो हरिः ।
येन नीतो दशामेतां निर्वेदश्चाऽऽत्मनः प्लवः ॥२८॥
सोऽहं कालावशेषेण शोषयिष्येऽङ्गमात्मनः ।
अप्रमत्तोऽखिलस्वार्थे यदि स्यात्सिद्ध आत्मनि ॥२९॥
तत्र मामनुमोदेरन् देवास्त्रिभुवनेश्वराः ।
मुहूर्तेन ब्रह्मलोकं खट्वाङ्गः समसाधयत् ॥३०॥

× × × ×

द्विज उवाच

नाऽयं जनो मे सुखदुःखहेतु-
र्न देवताऽऽत्मा ग्रहकर्मकालाः ।
मनः परं कारणमामनन्ति
संसारचक्रं परिवर्तयेद्यत् ॥४३॥

सचमुच मेरे ऊपर सर्व-देवमय भगवान् हरि प्रसन्न हुए हैं, जिनकी कृपासे मैं इस दरिद्र-दशाको प्राप्त हुआ हूँ, जिससे मुझे संसार-सागरको तरनेके लिये नौकारूप वैराग्य प्राप्त हुआ है ।।२८।।

ऐसा मैं यदि मेरी आयु कुछ शेष रही, तो अपनी आयुके शेष कालमें अपने मनमें सन्तुष्ट और धर्मादि साधनोंमें सावधान रहकर तपस्या द्वारा अपने शरीरको सुखा दूँगा ।। २९ ।।

तीनों लोकोंके देवता मेरी इस कामनाका अनुमोदन करेंगे [शङ्का—अब बुढ़ापेमें थोड़ेसे समयमें क्या होना है ? समाधान—] खट्वाङ्ग राजाने एक मुहूर्तमात्रमें ब्रह्मलोककी प्राप्ति कर ली थी ।।३०।।

× × × ×

[अब अठारह श्लोकोंसे दुर्जनों द्वारा दिये गये भौतिक, दैहिक तथा दैविक दुःखोंको धैर्यसे सहन करता हुआ कहता है—] मनुष्य, देवता, आत्मा, गृह, कर्म, काल आदि कोई भी मेरे सुख-

मनो गुणान् वै सृजते बलीय-
स्ततश्च कर्माणि विलक्षणानि ।
शुक्लानि कृष्णान्यथ लोहितानि
तेभ्यः सवर्णाः सृतयो भवन्ति ॥४४॥

अनीह आत्मा मनसा समीहता
हिरण्मयो मत्सख उद्विचष्टे ।
मनः स्वलिङ्गं परिगृह्य कामा-
ञ्जुषन्निबद्धो गुणसङ्गतोऽसौ ॥४५॥

दानं स्वधर्मो नियमो यमश्च
श्रुतं च कर्माणि च सद्व्रतानि ।

दुःखके कारण नहीं हैं, 'मनसा ह्येव पश्यति मनसा शृणोति' इत्यादि श्रुति मन ही केवल सुख दुःखका कारण है, ऐसा कहती है, क्योंकि मन ही संसारचक्रको घुमाता है ॥ ४३ ॥

यह बलवान् मन पहले विषयोंमें राग, द्वेष आदि वृत्तियोंको उत्पन्न करता है, तदुपरान्त उनसे परस्पर विलक्षण सात्त्विक, राजस, तामस कर्म उत्पन्न होते हैं, फिर उनसे तत्-तत कर्मोंके अनुसार योनियाँ प्राप्त होती हैं ॥ ४४ ॥

[शङ्का—तब तो मनको ही संसार प्राप्त होगा आत्माको नहीं होगा ? समाधान—] संकल्प-विकल्पात्मक मनके साथ नियन्ता रूपसे रहनेवाला जीवका सखा परमात्मा अहन्ता, ममतारूप अभिमानसे रहित और ज्ञानस्वरूप होनेसे केवल जीवके संसारका द्रष्टामात्र है और जीवात्मा तो अपनेमें संसार दिखानेवाले मनको ही अपना स्वरूप समझकर उसके सत्त्वादि गुणोंके सङ्गसे विषयोंका सेवन करता हुआ बन्धनमें पड़ता है । [भाव यह है कि अविद्याके अध्याससे आत्मा (जीव) को बन्ध है, अन्यथा नहीं ।] ॥४५॥

सर्वे मनोनिग्रहलक्षणान्ताः
परो हि योगो मनसः समाधिः ॥४६॥
समाहितं यस्य मनः प्रशान्तं
दानादिभिः किं वद तस्य कृत्यम् ।
असंयतं यस्य मनो विनश्य-
द्दानादिभिश्चेदपरं किमेभिः ॥४७॥
मनोवशेऽन्ये ह्यभवन्स्म देवा
मनश्च नाऽन्यस्य वशं समेति ।
भीष्मो हि देवः सहसः सहीया-
न्युञ्ज्याद्वशे तं स हि देवदेवः ॥४८॥

[दो श्लोकोंसे कहते हैं कि मनुष्य मनको काबूमें करनेसे कृतार्थ हो जाता है, क्योंकि—] दान, स्वधर्म, नियम, यम, एकादशी आदि व्रतोंका फल मनका निग्रह करना ही है; मनोनिग्रह ही परमयोग (ज्ञान) है* ॥४६॥

जिसका मन शान्त और वशीभूत है, उसको दान आदि कर्मोंसे क्या मतलब ? और दान आदिसे भी जिसका मन विषयोंसे उपरत नहीं हुआ, उसको भी दान आदिसे क्या फल मिल सकता है ? अर्थात् मुख्यफल न मिलनेसे दानादि निष्फल हैं ॥४७॥

[शङ्का—क्या अन्य इन्द्रियाँ वशमें न होंगी ? उत्तर—नहीं] अन्य देवता [इन्द्रियाँ और उनके देवता] मनके वशीभूत हैं, किन्तु मन किसी देवताके वशमें जल्दी नहीं होता । मन महाभयङ्कर (नाना प्रकारके सांसारिक दुःख देनेवाला है) और सब बलवानोंसे भी अधिक बलवान् है, अतः जो पुरुष इस भयङ्कर देवताको अपने वशमें कर लेता है, वह देवताओंका भी देवता है, अर्थात् सब इन्द्रियोंको वशमें करनेवाला हो जाता है ॥४८॥

---

* 'दण्डन्यासः परं दानम्',—भा० ११-१९-३७ ।

तं दुर्जयं शत्रुमसह्यवेग-
मरुन्तुदं तन्न विजित्य केचित् ।
कुर्वन्त्यसद्विग्रहमत्र मर्त्यै-
र्मित्राण्युदासीनरिपून् विमूढ़ाः ॥४९॥
देहं मनोमात्रमिमं गृहीत्वा
ममाऽहमित्यन्धधियो मनुष्याः ।
एषोऽहमन्योऽयमिति भ्रमेण
दुरन्तपारे तमसि भ्रमन्ति ॥५०॥
जनस्तु हेतुः सुखदुःखयोश्चे-
त्किमात्मनश्चाऽत्र हि भौमयोस्तत् ।
जिह्वां क्वचित्संदशति स्वदद्भि-
स्तद्वेदनायां कतमाय कुप्येत् ॥५१॥

जिसके रागादि वेग असह्य हैं ऐसे दुर्जय और मर्मभेदी मनो-रूप शत्रुको न जीत कर कितने ही मूर्ख पुरुष इस संसारमें अन्य पुरुषोंसे व्यर्थ वैर करते हैं और उनमें मित्र, उदासीन और शत्रुभाव करते हैं ॥ ४९ ॥

[अब कहते हैं कि वे इसी कारण इस प्रकार संसारमें भ्रमण करते हैं—] विवेकशून्य कितने ही पुरुष मन द्वारा कल्पित अपने देहको "यह मैं हूँ" पुत्रादि-देहको "यह मेरा है" यों मानकर "यह मैं हूँ" "यह दूसरा है" ऐसे भ्रमसे इस घोर अज्ञानसे पूर्ण संसारमें भटकते हैं ॥ ५० ॥

[यह कहकर कि मन ही दुःखका कारण है, अब छः श्लोकों-से यह कहते हैं कि—तैंतालीसवें श्लोकमें वर्णित मनुष्य आदि भी दुःखके कारण नहीं हैं—] यदि मनुष्य सुख, दुःखका कारण है, तो इस पक्षमें भी आत्माका क्या ? अर्थात् आत्मा न तो सुख-दुःखका कर्ता

दुःखस्य हेतुर्यदि देवताऽस्तु
किमात्मनस्तत्र विकारयोस्तत् ।
यदङ्गमङ्गेन निहन्यते क्वचित्
क्रुध्येत कस्मै पुरुषः स्वदेहे ॥५२॥
आत्मा यदि स्यात् सुखदुःखहेतुः
किमन्यतस्तत्र निजस्वभावः ।
नह्यात्मनोऽन्यद्यदि तन्मृषा स्यात्
क्रुध्येत कस्मान्न सुखं न दुःखम् ॥५३॥
ग्रहा निमित्तं सुखदुःखयोश्चेत्
किमात्मनोऽजस्य जनस्य ते वै ।

है और न कर्म है । (तब यहाँ ऐसा समझो कि) एक पार्थिव शरीरने दूसरे पार्थिव शरीरको पीडा पहुँचाई (इससे आत्माका क्या बिगड़ा) । यदि भोजन करते समय अपने दाँतसे जिह्वा कट जाय, तो किसके ऊपर कोप किया जाय ॥५१॥

यदि इन्द्रियोंके देवता दुःखके कारण हों, तो इस पक्षमें भी सुख-दुःख-का कर्ता या कर्म न होनेसे आत्माको क्या ? एक अङ्गके अधिष्ठातृ देवता [यथा हाथके देवता अग्नि] ने दूसरे अङ्गके अधिष्ठातृ देवता [यथा मुखके देवता इन्द्र] को थप्पड़ मारा इससे आत्माको क्या ? देखिये, यदि अपना अङ्ग अपने अङ्गसे पीटा जाय, तो किसपर क्रोध किया जाय ? ॥५२॥

यदि कहो कि आत्माका सुख-दुःखके आकारसे परिणाम होता है, इसलिये वही सुख-दुःखका कारण है, तो इस पक्षमें ये सुख-दुःख आत्माके स्वभाव हुए, आत्मासे अन्य कुछ भी नहीं है, क्योंकि "सर्वं खल्विदं ब्रह्म" ऐसी श्रुति है और यदि कुछ हो, तो वह भ्रान्तिमात्र है । इस कारण जब आत्मासे व्यतिरिक्त सुख-दुःख नहीं हैं, तो क्यों क्रोध किया जाय ? ॥५३॥

यदि सूर्यादिग्रह सुख, दुःखके कारण हैं, तो उनसे जन्मरहित

ग्रहैर्ग्रहस्यैव वदन्ति पीडां
क्रुध्येत कस्मै पुरुषस्ततोऽन्यः ॥५४॥
कर्माऽस्तु हेतुः सुखदुःखयोश्चेत्
किमात्मनस्तद्धि जडाजडत्वे ।
देहस्त्वचित्पुरुषोऽयं सुपर्णः
क्रुध्येत कस्मै नहि कर्ममूलम् ॥५५॥
कालस्तु हेतुः सुखदुःखयोश्चेत्
किमात्मनस्तत्र तदात्मकोऽसौ !
नाऽग्नेर्हि तापो न हिमस्य तत्स्यात्
क्रुद्ध्येत कस्मै न परस्य द्वन्द्वम् ॥५६॥

आत्माको क्या क्षति है ? ये तो शरीरको ही सुख, दुःख देते हैं । ज्योतिषी कहते हैं कि आकाशका एक ग्रह दूसरे ग्रहको पीड़ा पहुँचाता है और जो उन ग्रहोंकी गतिके समय जन्म लेता है, उसको उस लग्नके अभिमानसे पीड़ा होती है, किन्तु आत्मा तो देह, ग्रह सभीसे निराला है, ऐसी परिस्थितिमें किसके ऊपर क्रोध किया जाय ॥ ५४ ॥

यदि कर्म सुख-दुःखका कारण है तो उससे आत्माका क्या सम्बन्ध है ? ये सुख-दुःख तो तब होते हैं जब एक ही वस्तुमें जड़ता और चेतनता हो । देह जड़ है, इसलिये उसमें प्रवृत्ति नहीं है; अतः किसपर क्रोध किया जाय ? क्योंकि यह भी सिद्ध नहीं है कि सुख-दुःखका कारण कर्म है ॥५५॥

यदि काल सुख-दुःखका कारण है, तो भी आत्माका क्या संबन्ध ? काल तो ब्रह्मका अंश है अर्थात् ये दोनों एक हैं । तब जैसे अग्निके कण अग्निको नहीं जला सकते और हिमके कण हिमका नाश नहीं कर सकते (इसी प्रकार काल भी आत्माको सुख-दुःख नहीं दे

न केनचित् क्वाऽपि कथंचनाऽस्य
द्वन्द्वोपरागः परतः परस्य।
यथाऽहमः संसृतिरूपिणः स्या-
देवं प्रबुद्धो न बिभेति भूतैः ॥५७॥
एतां समास्थाय परात्मनिष्ठा-
मध्यासितां पूर्वतमैर्महर्षिभिः ।
अहं तरिष्यामि दुरन्तपारं
तमो मुकुन्दाङ्घ्रिनिषेवयैव ॥५८॥

सकता) इस कारण किसके ऊपर क्रोध किया जाय ? मायातीत आत्मामें सुख-दुःख आदि द्वन्द्व नहीं हैं ॥५६॥

[इस प्रकार सुख, दुःखके कारण मनुष्य, देवता आदिका निराकरण करके यह कहते हैं कि मनसे अन्य सुख, दुःखका कारण नहीं है—] किसी कर्ता, करण, देश, काल या प्रकृतिसे असङ्ग आत्माको सुख-दुःख नहीं होते हैं [प्रश्न—प्रत्यक्ष सुख-दुःखका अनुभव कैसे होता है? समाधान—] अहंकारके अध्याससे ही आत्मामें सुख-दुःख प्रतीत होते हैं, इसी कारण विवेकी पुरुष किसी भूत (प्राणी) से नहीं डरता है ॥५७॥

इस कारण पूर्व कालके महर्षियोंसे स्वीकार की हुई आत्म-निष्ठामें स्थित होकर भगवान् मुकुन्दके चरणकमलोंकी सेवा करके ही मैं अनन्त, अपार अन्धकाररूपी संसारको तर जाऊँगा ॥५८॥

दूसरा प्रकरण

सृष्टिका लय और ब्रह्म-चिन्तनविचार

सृष्टि और लयका विचार मनके संयमका उपाय है, जिसका श्री-भागवतके एकादश स्कन्धके चौबीसवें अध्यायमें तथा बारहवें स्कन्धके चौथे अध्यायमें वर्णन किया गया है। उसको भली भाँति जाननेके लिये अधोलिखित रीतिसे प्रदर्शन करते हैं—

सृष्टिक्रम
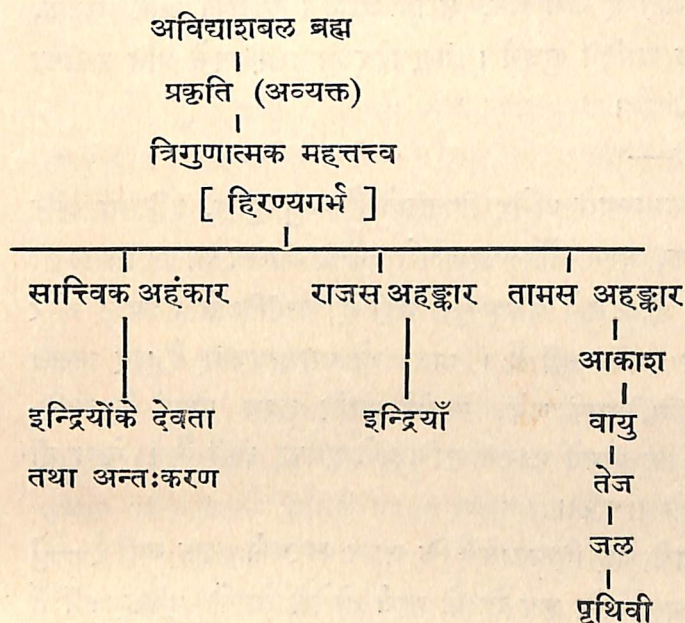
लयका क्रम ठीक इसके विपरीत है अर्थात् पृथिवीका लय जलमें, जलका तेजमें, तेजका वायुमें, वायुका आकाशमें, आकाशका तामस अहङ्कारमें, अहङ्कारका महत्तत्त्वमें, महत्तत्त्वका अव्यक्तमें और अव्यक्तका अविद्याशबल ब्रह्ममें होता है।

सृष्टि और लयका विचार करनेसे यह जाना जाता है कि सृष्टि-

श्रीशुकदेव उवाच*

बुद्धीन्द्रियार्थरूपेण ज्ञानं भाति तदाश्रयम् ।
दृश्यत्वाव्यतिरेकाभ्यामाद्यन्तवदवस्तु यत् ॥२२॥
दीपश्चक्षुश्च रूपं च ज्योतिषो न पृथग्भवेत् ।
एवं धीः खानि मात्राश्च न स्युरन्यतमादृतात् ॥२३॥

के आदि तथा अन्तमें ब्रह्म ही शेष रहता है । जो आदि और अन्तमें है, वही मध्यमें भी रहता है इस न्यायसे यह दृश्यमान जगत् ब्रह्म ही है अन्य कुछ नहीं है जैसे घट, शराब आदिमें मृत्तिका और कटक, किरीट, कुण्डल आदिमें सुवर्ण । श्रीशुकदेवजी परीक्षित्के प्रति इसीका प्रतिपादन करते हैं ।

शुकदेवजी बोले—

[प्रपञ्चका ब्रह्मसे अभेद दिखलाते हैं—] बुद्धि, इन्द्रियाँ और विषय यों ग्राहक, करण और ग्राह्यरूपसे उनका आश्रय ज्ञानरूप ब्रह्म ही प्रकाशित होता है, उससे पृथक् कुछ नहीं है, क्योंकि वे दृश्य हैं और अपने कारणसे पृथक् नहीं हैं । अतः जो आद्यन्तवान् है वह असत् है, जैसे कि मृत्तिकाके घड़े, सकोरे आदि दृश्य पदार्थ हैं आदि-अन्तवाले हैं और अपने कारण मृत्तिकासे पृथक् नहीं हैं । ऐसा ही यहाँ भी समझो ॥२२॥

[दृष्टान्तसे यह दिखलाते हैं कि दृश्य कारणसे पृथक् नहीं है—] जैसे दीपक, चक्षु और रूप तेजके कार्य होनेसे तेजसे पृथक् नहीं हैं वैसे ही बुद्धि, इन्द्रियाँ और विषय ब्रह्मके कार्य होनेसे उससे पृथक् नहीं है [शङ्का—तब यही क्यों नहीं कहा जा सकता है कि जब कार्य असत् है तो कारणको भी असत् होना चाहिये ? समाधान—] ब्रह्म कार्यसे पृथक् भी है । [भाव यह है कि जैसे रस्सीमें प्रतीत हुए

* भा० १२-४-२२ इत्यादि ।

बुद्धेर्जागरणं स्वप्नः सुषुप्तिरिति चोच्यते ।
मायामात्रमिदं राजन्नानात्वं प्रत्यगात्मनि ॥२४॥
यथा जलधरा व्योम्नि भवन्ति न भवन्ति च ।
ब्रह्मणीदं तथा विश्वमवयव्युदयाप्ययात् ॥२५॥
सत्यं ह्यवयवः प्रोक्तः सर्वावयविनामिह ।
विनाऽर्थेन प्रतीयेरन् पटस्येवाङ्ग तन्तवः ॥२६॥

सर्पसे रस्सी पृथक् है, किन्तु रस्सीके विना उसकी प्रतीति नहीं होती वैसे ही ब्रह्म प्रपञ्चसे पृथक् है और उसके बिना प्रपञ्चकी प्रतीति नहीं होती ।] ॥ २३ ॥

जब बुद्धि असत्य है तब विश्व, तैजस, प्राज्ञरूप बुद्धिकी अवस्थाएँ भी असत्य हैं, ऐसा कहते हैं—] हे राजन् ! विवेकी पुरुष कहते हैं कि जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति अवस्थाएँ बुद्धिकी हैं और आत्मामें जो विश्वादि नाना अवस्थाएँ हैं; वे मायामात्र हैं; अर्थात् अविद्यासे कल्पित हैं ॥२४॥

जैसे आकाशमें मेघ किसी समय होते हैं और किसी समय नहीं होते वैसे ही यह जगत् (सृष्टिकालमें) ब्रह्ममें उत्पन्न होता है और (प्रलयकालमें) ब्रह्ममें लीन हो जाता है। [यह दृष्टान्त उत्पत्ति और लयके विषयमें है । यहाँ ऐसा अनुमान होता है कि यह जगत् अवयववाला होनेके कारण जन्मवान् और नाशवान् है, घटके समान ।] ॥२५॥

[तेईसवें श्लोकमें यह कहा है कि कारणसे कार्य पृथक् नहीं होता है अब कहते हैं कि कारण सत्य होता है—] हे राजन् ! व्यवहारमें सब अवयववाले पदार्थोंका कारण ही सत्य कहा गया है । (देखिये श्रुति "वाचारम्भणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यम्") क्योंकि कारण कार्यसे पृथक् प्रतीत होता है । जैसे वस्त्रके कारणभूत तन्तु उस समय भी प्रतीत होते हैं जब कि वस्त्र नहीं बना रहता, अतः

यत्सामान्यविशेषाभ्यामुपलभ्येत स भ्रमः ।
अन्योन्यापाश्रयात्सर्वमाद्यन्तवदवस्तु यत् ॥२७॥
विकारः ख्यायमानोऽपि प्रत्यगात्मानमन्तरा ।
न निरूप्योऽस्त्यणुरपि स्याच्चेच्चित्सम आत्मवत् ॥२८॥
नहि सत्यस्य नानात्वमविद्वान् यदि मन्यते ।
नानात्वं छिद्रयोर्यद्वज्ज्योतिषोर्वातयोरिव ॥२९॥

तन्तु (व्यवहारदशामें) सत्य हैं, इसी प्रकार जगत्के न रहनेपर भी उसका कारण ब्रह्म सत्य है ॥२६॥

[पूर्वपक्ष—जब कार्यको असत् कहा तब उस असत् वस्तुका ब्रह्म कारण कैसे हो सकता है ? समाधान—वास्तवमें ब्रह्मको पूर्णरीतिसे कारणता नहीं है] क्योंकि जो कारण और कार्यरूपसे भिन्न-भिन्न पदार्थ देखनेमें आते हैं उनमें परस्पर एक दूसरेकी अपेक्षा रहती है (अर्थात् एकके निरूपणके बिना दूसरेका निरूपण नहीं हो सकता है) इस कारण आदि-अन्तवाला होनेसे कार्यको सत्य नहीं कह सकते, अतः ब्रह्ममें आरोपित कारण आदि धर्म भ्रम हैं । (अथवा सामान्य-विशेषरूपसे जिनकी उपलब्धि होती है उनको एक दूसरेकी अपेक्षा होने और स्वप्नके समान आदि-अन्तवाले होनेसे भ्रममात्र समझो । ऐसा ही गुण-गुणी, विशेषण-विशेष्य, व्याप्य-व्यापकके भेदको समझो ॥२७॥

[शङ्का—प्रपञ्च भी प्रकाशमान है, इस कारण वह भी आत्माके समान सत्य क्यों नहीं माना जाय ? समाधान—] यह प्रपञ्च प्रकाशमान होता हुआ भी आत्माके बिना अणुमात्र भी प्रकाशमान नहीं है; यदि यह कहो कि वह आत्माके बिना भी प्रकाशमान है तब प्रपञ्च भी आत्माके समान स्वयंप्रकाश होगा (अर्थात् दोनोंमें नाममात्रका भेद हुआ) ॥२८॥

[इसका कारण कहते हैं—] जो परमार्थ वस्तु है वह नानारूप

यथा हिरण्यं बहुधा समीयते
नृभिः क्रियाभिर्व्यवहारवर्त्मसु ।
एवं वचोभिर्भगवानधोक्षजो
व्याख्यायते लौकिकवैदिकैर्जनैः ॥३०॥
यथा घनोऽर्कप्रभवोऽर्कदर्शितो
ह्यर्कांशभूतस्य च चक्षुषस्तमः ।
एवं त्वहं ब्रह्मगुणस्तदीक्षितो
ब्रह्मांशकस्याऽऽत्मन आत्मबन्धनः ॥३१॥

नहीं हो सकती । यदि मूर्खतासे एक आत्मामें जीवरूपसे भेद मानो, तो उसको उपाधिसे किया हुआ समझो जिस प्रकार घटाकाश, करकाकाश, महाकाशका और सूर्य और उसके प्रतिबिम्बका एवं बाहरकी वायु और शरीरके भीतर पाँच प्राणोंका उपाधिसे भेद है, वास्तवमें भेद नहीं है उसी प्रकार नाना रूप उपाधिसे आत्मामें भी भेद समझो ॥२९॥

[अब दृष्टान्तसे यह दिखाते हैं कि व्यवहारका आलम्बन भी ब्रह्म ही है—] जैसे मनुष्य कटक, कुण्डल आदि रूपमें बनाये गये सोनेका ही कटक, कुण्डल आदि नामोंसे व्यवहार करते हैं वैसे ही (अहंकारयुक्त) मनुष्य लौकिक और वैदिक वचनोंके द्वारा अधोक्षज भगवान्को नाना प्रकारका कहते हैं ॥ ३० ॥

[शङ्का—अहंकार ब्रह्मके स्वरूपके आवरणसे कैसे भेदव्यवहारका कारण हो सकता है? वह अपने कारणभूत ब्रह्मका आवरण नहीं कर सकता। यदि आवरण करे तो उसका प्रकाश भी नहीं हो सकेगा ? समाधान—] जैसे सूर्यसे उत्पन्न हुआ और उसीसे प्रकाशित हुआ मेघ, सूर्यके अंशरूप चक्षुके सूर्यको देखनेमें प्रतिबन्धक होता है वैसे ही ब्रह्मका कार्य और ब्रह्मसे प्रकाशित हुआ अहङ्कार ब्रह्मके अंश जीवके ब्रह्मस्वरूपदर्शनमें प्रतिबन्धक होता है ॥३१॥

घनो यदाऽर्कप्रभवो विदीर्यते
चक्षुः स्वरूपं रविमीक्षते तदा ।
यदा ह्यहंकार उपाधिरात्मनो
जिज्ञासया नश्यति तर्ह्यनुस्मरेत् ॥३२॥
यदैवमेतेन विवेकहेतिना
मायामयाहंकरणात्मबन्धनम् ।
छित्त्वाऽच्युतात्मानुभवोऽवतिष्ठते
तमाहुरात्यन्तिकमङ्ग संप्लवम् ॥३३॥

जब सूर्यसे उत्पन्न हुआ मेघ दूर हो जाता है तब चक्षु अपने स्वरूपभूत सूर्यको देखता है इसी प्रकार विचार करनेपर जब आत्माका उपाधिरूप अहङ्कार नष्ट हो जाता है तब जीव मैं ही ब्रह्म हूँ यह जानता है ॥ ३२ ॥

हे राजन् ! जब जीव इस प्रकारके ज्ञानरूपी शस्त्रसे अपने अहङ्काररूप बन्धनको काटकर परिपूर्ण आत्माका अनुभव करता है तब हे राजन्, उसको आत्यन्तिक प्रलय (मोक्ष) कहते हैं ॥ ३३ ॥

तीसरा प्रकरण

पुरूरवाका इतिहास

यद्यपि सामान्य विषयोंमें यह दोष देखनेसे कि एक विषय दूसरेसे उत्कृष्ट है और ये विषय नाशवान् हैं, वैराग्य उत्पन्न हो जाता है तथापि स्त्रीरूपी विषय बड़ा प्रबल है। इस कारण भगवान् इलाके पुत्र पुरूरवाके इतिहाससे उद्धवजीको शिक्षा देते हैं कि मोक्षार्थी पुरुषको स्त्री और स्त्री-रत पुरुषोंकी संगति त्याग देनी चाहिये।

इलाका पुत्र पुरूरवा चक्रवर्ती राजा था। उसका मन उर्वशीके अति-मनोहर स्वरूपको देखनेसे उसपर अतिमोहित हो गया था। गन्धर्वों-की उपासनासे उसको उर्वशी प्राप्त हो गयी। उर्वशीपर मोहित होकर और उसके साथ क्षुद्रविषयोंका भोग करते हुए भी तृप्त न होकर उसे बहुत वर्षोंकी रात्रियाँ आती-जाती मालूम नहीं हुईं। कुछ वर्षोंके बाद उर्वशी उसको छोड़कर अपने लोकको चली गयी। राजा पुरूरवा उर्वशीके वियोगसे व्याकुल हुआ। पागलके समान उसके पीछे दौड़ा, किन्तु वह न लौटी। उर्वशीकी निष्ठुरताको देखकर राजाको वैराग्य हो गया और स्वयं ही उसने इस गाथाका गान किया।

[ऐल उवाच*]

अहो मे आत्मसंमोहो येनाऽऽत्मा योषितां कृतः।
क्रीडामृगश्चक्रवर्ती नरदेवशिखामणिः ॥९॥

ऐल बोला—

अहो मेरे मनके महान् व्यामोहको तो देखिये, जिसने श्रेष्ठ चक्र-वर्ती होनेपर भी मुझे स्त्रियोंका खिलौना बना दिया है ॥९॥

---

* भा० ११-२६-९ इत्यादि।

सपरिच्छदमात्मानं हित्वा तृणमिवेश्वरम् ।
यान्तीं स्त्रियं चाऽन्वगमं नग्न उन्मत्तवद्रुदन् ॥१०॥
कुतस्तस्याऽनुभावः स्यात्तेज ईशत्वमेव वा ।
योऽन्वगच्छं स्त्रियं यान्तीं खरवत्पादताडितः ॥११॥
किं विद्यया किं तपसा किं त्यागेन श्रुतेन वा ।
किं विविक्तेन मौनेन स्त्रीभिर्यस्य मनो हृतम् ॥१२॥
स्वार्थस्याऽकोविदं धिङ् मां मूर्खं पण्डितमानिनम् ।
योऽहमीश्वरतां प्राप्य स्त्रीभिर्गोखरवज्जितः ॥१३॥
सेवतो वर्षपूगान् मे उर्वश्या अधरासवम् ॥
न तृप्यत्यात्मभूः कामो वह्निराहुतिभिर्यथा ॥१४॥

राज्यादिसे युक्त मुझ चक्रवर्ती राजाको तृणके समान त्यागनेवाली स्त्रीके पीछे मैं उन्मत्तके समान नंगा और रोता दौड़ा ॥१०॥

[मेरा प्रभुत्वादि अभिमान भी व्यर्थ है ऐसा कहते हैं—] जैसे गदहा लात खाकर भी गदहीके पीछे दौड़ता है वैसे ही मैं छोड़कर जा रही स्त्रीके पीछे-पीछे गया, ऐसे मेरे प्रभाव, तेज और प्रभुत्व कहाँ रहे अर्थात् सब नष्ट हो गये ॥११॥

जिसका मन स्त्रियों द्वारा हर लिया गया है उसको विद्यासे, तपसे, संन्याससे, शास्त्र पढ़नेसे, पवित्र देशके (अथवा एकान्तदेशके) सेवनसे और मौनसे क्या लाभ ? [भाव यह है कि स्त्रीलम्पट पुरुषके सब साधन व्यर्थ हैं।] ॥१२॥

[अब संतप्त होकर दो श्लोकोंसे अपनी निन्दा करते हैं—] अपने कल्याणको न जाननेवाले और अपनेको विद्वान् समझनेवाले मुझ मूर्खको धिक्कार है, क्योंकि चक्रवर्ती राज्य पाकर भी मैं बैल और गदहेके समान स्त्रियोंका वशवर्ती हो गया हूँ ॥१३॥

जैसे घृतकी आहुतिओंके देनेसे अग्नि शान्त नहीं होती है बल्कि

पुंश्चल्याऽपहृतं चित्तं को न्वन्यो मोचितुं प्रभुः ।
आत्मारामेश्वरमृते भगवन्तमधोक्षजम् ॥१५॥
बोधितस्याऽपि देव्या मे सूक्तवाक्येन दुर्मतेः ।
मनोगतो महामोहो नाऽपयात्यजितात्मनः ॥१६॥
किमेतया नोऽपकृतं रज्ज्वा वा सर्पचेतसः ।
रज्जुस्वरूपाविदुषो योऽहं यदजितेन्द्रियः ॥१७॥
क्वाऽयं मलीमसः कायो दौर्गन्ध्याद्यात्मकोऽशुचिः ।
क्व गुणाः सौमनस्याद्या ह्यध्यासोऽविद्यया कृतः ॥१८॥

बढ़ती ही जाती है वैसे ही सहस्रों वर्ष उर्वशीके अधर-सुराका सेवन करते हुए मेरा काम (मनसिज) तृप्त नहीं हुआ ॥१४॥

[इस प्रकार छः श्लोकोंसे वैराग्य दिखलाया अब दश श्लोकोंसे विवेकयुक्त वचन कहते हैं—] असती स्त्री द्वारा अपहृत मनको आत्माराम, सर्वेश्वर, अधोक्षज, भगवान्‌के सिवा और कौन लौटानेको समर्थ है ? ॥१५॥

उर्वशीने तो मुझे पहले ही यथार्थ* वचनोंसे समझा दिया था, फिर भी मुझ मूर्ख और अजितेन्द्रियके मनका महामोह दूर नहीं होता ॥ १६ ॥

[पन्द्रहवें श्लोकमें जो उर्वशीको दोष दिया था—उसको अपना ही दोष मानते हैं—] रस्सीके स्वरूपको न जानकर उसमें सर्पबुद्धि करके दुःख पानेवाले मनुष्यक रस्सीने क्या अपकार किया ? इसी प्रकार इस (उर्वशी) ने हमारा क्या अपकार किया ? यह मेरा ही अपराध है, चूंकि मैं अजितेन्द्रिय हूँ ॥ १७ ॥

कहाँ यह अतिमलिन, अतिदुर्गन्धि-युक्त और अपवित्र स्त्रीका

---

* पुरूरवा और उर्वशीकी कथा—श्रीमद्भागवतके स्कन्ध ९ अ० १४ के ३६-३७-३८ श्लोकोंमें देखिये ।

पित्रोः किं स्वं नु भार्यायाः स्वामिनोऽग्नेः श्वगृध्रयोः ।
किमात्मनः किं सुहृदामिति यो नाऽवसीयते ॥१९॥
तस्मिन् कलेवरेऽमेध्ये तुच्छनिष्ठे विषज्जते ।
अहो सुभद्रं सुनसं सुस्मितं च मुखं स्त्रियाः ॥२०॥
त्वङ्मांसरुधिरस्नायुमेदोमज्जास्थिसंहतौ ।
विण्मूत्रपूये रमतां कृमीणां कियदन्तरम् ॥२१॥
अथाऽपि नोपसज्जेत स्त्रीषु स्त्रैणेषु चाऽर्थवित् ।
विषयेन्द्रियसंयोगान्मनः क्षुभ्यति नाऽन्यथा ॥२२॥

शरीर ? और कहाँ पुष्पोंके सुगन्धि, सुकुमारता आदि गुण ! निश्चय ही स्त्रीके शरीरमें उनका आरोप (अध्यास) अविद्याका किया हुआ है ॥१८॥

[शरीरमें ममत्व भी कल्पना-मात्र है—] यह निश्चय नहीं होता कि यह शरीर माता, पिता, भार्या, स्वामी, अग्नि, कुत्ता, और गृध्र—इनमेंसे किसका धन है ? क्या यह अपना धन है या अपने बान्धवोंका है ? ॥१९॥

अन्तमें तुच्छ (अर्थात् जिसमें कृमि पड़नेवाले हैं अथवा जो विष्ठा या भस्म होनेवाला है) और महा अपवित्र स्त्रीके शरीरमें मनुष्य ''अहो स्त्रीका मुख कैसा सुखकर है ? उसकी नासिका कैसी सरल और सुन्दर है ? और उसकी कैसी सुन्दर मुसकान है ? यों आसक्त होता है ॥२०॥

[गुणोंका स्त्रीमें आरोप करके रमण करनेवाले पुरुष कृमि-तुल्य हैं—] त्वचा, मांस, रुधिर, स्नायु, मेदा, मज्जा और अस्थिके समूह देहमें रमण करनेवाले प्राणियों और मल-मूत्र और पीवमें रमण करनेवाले कीड़ोंमें क्या अन्तर है ? अर्थात् कुछ अन्तर नहीं है ॥२१॥

अपने कल्याणकी इच्छा करनेवाले पुरुष स्त्रियोंकी और स्त्री-लम्पट पुरुषोंकी कभी संगति न करें, क्योंकि मन विषय और इन्द्रियोंके संयोगसे जैसा चलायमान होता है, वैसा अन्य किसी कारणसे नहीं होता है ॥२२॥

अदृष्टादश्रुताद्भावान्न भाव उपजायते ।
असंप्रयुञ्जतः प्राणाञ्शाम्यति स्तिमितं मनः ॥२३॥
तस्मात् सङ्गो न कर्तव्यः स्त्रीषु स्त्रैणेषु चेन्द्रियैः ।
विदुषां चाऽप्यविश्रब्धः षड्वर्गः किमु मादृशाम् ॥२४॥

श्रीभगवानुवाच

एवं प्रगायन्नरदेवदेवः
स उर्वशीलोकमथो विहाय ।
आत्मानमात्मन्यवगम्य मां वै
उपारमज्ज्ञानविधूतमोहः ॥२५॥
ततो दुःसङ्गमुत्सृज्य सत्सु सज्जेत बुद्धिमान् ॥
सन्त एतस्य छिन्दन्ति मनोव्यासङ्गमुक्तिभिः ॥२६॥

विषयोंके देखे अथवा सुने बिना मनमें वासनायें नहीं उठती हैं इस कारण इन्द्रियोंको विषयोंसे रोकनेवाले पुरुषका मन निश्चल होकर शान्त हो जाता है ॥२३॥

अतएव स्त्री और स्त्री-लम्पट पुरुषोंका कभी संग नहीं करना चाहिये। विद्वानोंको भी मन सहित पाँच ज्ञानेन्द्रियोंका ये मेरे अधीन हैं ऐसा विश्वास नहीं करना चाहिये, फिर मेरे सदृश पुरुषोंकी तो गिनती ही क्या है ? ॥२४॥

[भगवान् इस उपख्यानके सारको ग्यारह श्लोकोंसे अपने श्रीमुखसे कहते हैं—] इस प्रकार गान करनेवाला वह श्रेष्ठ चक्रवर्ती राजा पुरूरवा उर्वशी लोकको छोड़कर (उर्वशीमें आसक्ति छोड़कर), अपने मनमें मुझ परमात्माका वास जानकर और ज्ञानसे अज्ञानको छिन्न-भिन्न कर (देहमें आत्माध्यासके दूर होनेके कारण) संसारसे विरक्त हो गया अर्थात् जीवन्मुक्त हो गया ॥ २५ ॥

इसलिए बुद्धिमान् मनुष्य कुसंगका त्यागकर सत्पुरुषोंका संग

सन्तोऽनपेक्षा मच्चित्ताः प्रशान्ताः समदर्शिनः ।
निर्ममा निरहंकारा निर्द्वन्द्वा निष्परिग्रहाः ॥२७॥
तेषु नित्यं महाभाग महाभागेषु मत्कथाः ।
सम्भवन्ति हिता नृणां जुषतां प्रपुनन्त्यघम् ॥२८॥
ता ये शृण्वन्ति गायन्ति ह्यनुमोदन्ति चाऽऽदृताः ।
मत्पराः श्रद्दधानाश्च भक्तिं विन्दन्ति ते मयि ॥२९॥
भक्तिं लब्धवतः साधोः किमन्यदवशिष्यते ।
मय्यनन्तगुणे ब्रह्मण्यानन्दानुभवात्मनि ॥३०॥

करे । संत न्याययुक्त वचनोंसे उसके मनके व्यामोहका [विषयोंमें आसक्तिका] अन्त कर देते हैं ॥ २६ ॥

अब यह दिखलाते हैं कि तीर्थाटन, देवार्चन इत्यादिसे सत्संग श्रेष्ठ है ।

[पहले साधुओंके लक्षणोंको कहते हैं—] सन्त विषयाभिलाष-रहित, मुझमें चित्त लगानेवाले, अतिशान्त, समदर्शी, ममतारहित, निर्द्वन्द्व (क्षुधा, पिपासा, शीत, उष्ण आदि विकारोंसे रहित) और सब विषयोंको त्यागनेवाले होते हैं ॥ २७ ॥

[सात श्लोकोंसे यह कहते हैं कि केवल साधु पुरुषोंकी सन्निधिमें रहनेसे ही पुरुष तर जाता है और उनके उपदेशोंकी भी कोई आवश्यकता नहीं है—] हे महाभाग उद्धवजी, भाग्यवान् सन्त सदा मेरी कथा-वार्ता करते रहते हैं और जो पुरुष उनको आदरसे सुनते हैं, उनके पापोंका अन्त हो जाता है ॥ २८ ॥

जो पुरुष मुझमें चित्त लगाकर आदर और श्रद्धासे उन कथाओंको सुनते हैं, गाते हैं और उनका अनुमोदन करते हैं, उन्हें मेरी भक्ति प्राप्त होती है ॥ २९ ॥

अनन्त कल्याण-गुणोंसे सुसम्पन्न सच्चिदानन्दस्वरूप मुझ पर ब्रह्मकी

यथोपश्रयमाणस्य भगवन्तं विभावसुम् ।
शीतं भयं तमोऽप्येति साधून् संसेवतस्तथा ॥३१॥
निमज्ज्योन्मज्जतां घोरे भवाब्धौ परमायनम् ।
सन्तो ब्रह्मविदः शान्ता नौर्दृढेवाऽप्सु मज्जताम् ॥३२॥
अन्नं हि प्राणिनां प्राण आर्तानां शरणं त्वहम् ।
धर्मो वित्तं नृणां प्रेत्य सन्तोऽर्वाग् बिभ्यतोऽरणम् ॥३३॥
सन्तो दिशन्ति चक्षूंषि बहिरर्कः समुत्थितः ।
देवता बान्धवाः सन्तः सन्त आत्माऽहमेव च ॥३४॥

भक्ति जिन्हें प्राप्त हो गई है, ऐसे साधुओंको और कौन-सा फल मिलनेके लिये बाकी रह जाता है अर्थात् उन्हें सब कुछ मिल जाता है ॥३०॥

जैसे भगवान् अग्निदेवका सेवन करनेवाले मनुष्योंके सर्दी, अन्धकार और भय दूर हो जाते हैं; वैसे ही साधु पुरुषोंकी सेवा करनेवाले पुरुषोंका (जड़ कर्मोंका फ़ल) भावी संसारभय और उसका मूल अज्ञान नष्ट हो जाता है ॥३१॥

जैसे डूबते हुए मनुष्यको नावका ही सहारा है वैसे ही इस घोर संसार-सागरमें ऊँच-नीच विविध योनियोंमें जन्म पानेवाले मनुष्योंके शान्त ब्रह्मज्ञानी साधु ही परम आश्रय हैं ॥ ३२ ॥

जैसे अन्न ही प्राणियोंका जीवन है, जैसे मैं (हरि) दुःखियोंका दुःख-हरण करता हूँ अथवा जैसे धर्म ही परलोकका धन है वैसे ही संसारतापसे भयभीत प्राणियोंके साधु ही रक्षक हैं ॥ ३३ ॥

आकाशमें अच्छी तरह उदय हुआ सूर्यका अनुग्रह नेत्रोंमें केवल बाह्य-विषयोंकी उपलब्धिकी शक्ति देता है, किन्तु साधु सगुण-निर्गुण ज्ञानका अनुभव करानेवाले भीतरके नेत्र देते हैं; इस कारण साधु ही बान्धव और देवता हैं और आत्माके समान प्रीतिके योग्य हैं बहुत क्या

वैतसेनस्ततोऽप्येवमुर्वश्या लोकनिस्पृहः ।
मुक्तसङ्गो महीमेतामात्मारामश्चचार ह ॥३५॥

कहें सन्त मेरे रूप हैं । [भाव यह है कि साधु मेरी मूर्ति हैं और ईश्वर-दृष्टिसे उनकी पूजा करनी चाहिये ।] ॥३४॥

इस प्रकार वह पुरूरवा राजा उर्वशीके स्थानको देखनेकी इच्छा छोड़कर मुक्तसंग और आत्मस्वरूपमें मग्न होकर इस पृथिवीपर स्वच्छन्द विचरने लगा [अर्थात् जीवनमुक्त हो गया] ॥ ३५ ॥

आठवाँ अध्याय

अध्यात्मविद्याका प्रतिपादन

पहला प्रकरण

ब्रह्म और संसारका विचार

'सर्वं ह्येतद् ब्रह्म' (यह सब ब्रह्म है) 'अयमात्मा ब्रह्म' (यह आत्मा ब्रह्म है) इस श्रुतिके विचारसे यह सब विश्व परमात्मा ही है, क्योंकि ईश्वर ही सब कुछ होता है और सब कुछ करनेको समर्थ है। वही उत्पन्न करनेवाला, उत्पन्न होनेवाला, पालन करनेवाला है और वही पाला जाता है, वही संहार करनेवाला और संहार्य वस्तु है। इस कारण आत्मासे अन्य कोई पदार्थ नहीं है। जीवात्मामें जो अध्यात्मिकादिरूप त्रिविध प्रतीति होती है, वह मायासे कल्पित है। इसलिये प्रत्यक्ष आदि प्रमाणोंसे यह सिद्ध होता है कि यह संसार आदि-अन्तवाला (उत्पत्ति-नाशवान्) और आत्मासे व्यतिरिक्त होनेके कारण असत् है। ऐसा जानकर इस संसारमें निःसङ्ग बिचरे। संसार जो आदि-अन्तवाला कहा गया है, उसमें प्रत्यक्ष प्रमाण यह है—संसार घट आदिके समान आदि-अन्तवाला है। अनुमान यह है—'पृथिवी इत्यादि आदि-अन्तवाले हैं, दृश्य होनेसे, घटादिके समान'; श्रुति यह है—'उस आत्मासे आकाश उत्पन्न हुआ है' और विद्वानोंका अनुभव भी यही बतलाता है कि जो कुछ दृश्य पदार्थ है, उसको आदि-अन्तवाला समझो।

श्रीभगवानुवाच*

यावद्देहेन्द्रियप्राणैरात्मनः सन्निकर्षणम् ।
संसारः फलवांस्तावदपार्थोऽप्यविवेकिनः ॥१२॥
अर्थे ह्यविद्यमानेऽपि संसृतिर्न निवर्तते ।
ध्यायतो विषयानस्य स्वप्नेऽनर्थागमो यथा ॥१३॥
यथा ह्यप्रतिबुद्धस्य प्रस्वापो बह्वनर्थभृत् ।
स एव प्रतिबुद्धस्य न वै मोहाय कल्पते ॥१४॥

शङ्का—यदि आत्मज्ञान यह बतलाता है कि सब दृश्य असत् है तो वस्तुस्थिति यह हुई कि आत्मा स्वयंप्रकाश है और देहादि द्वैत जड़ है, उनमें न आत्माको संसार प्राप्त हो सकता है और न जड़को। इसलिये उद्धवजी पूछते हैं कि वह संसार-प्राप्ति किसको है? अविवेक ही संसारका अवलम्बन है, ऐसा भगवान् कहते हैं ।

जबतक आत्माका देह, इन्द्रियों और प्राणोंके साथ (तादात्म्याध्यास) सम्बन्ध है तबतक अविवेकी पुरुषको यह संसार मिथ्या होनेपर भी प्रतीत होता है ॥ १२ ॥

जैसे स्वप्नमें वस्तुतः शरीर आदिके न रहनेपर भी सिर कटना आदि अनर्थकी प्रतीति होती है वैसे ही देव, मनुष्य आदि आकारके आत्मामें विद्यमान न रहनेपर भी 'मैं स्थूल हूँ,' 'मैं कृश हूँ', 'ये मेरे सगे-सम्बन्धी हैं और ये शत्रु हैं' इस प्रकार विषयोंका ध्यान करनेवाले पुरुषका सुख, दुःख आदिरूप संसार निवृत्त नहीं होता ॥ १३ ॥

जैसे मनुष्य जबतक जागता नहीं तबतक उसे स्वप्नके अनेक अनर्थकारी दृश्य दिखाई देते हैं और जाग जानेपर वह स्वप्न उस मनुष्यको मोहित नहीं कर सकता है । वैसे ही अज्ञानीके लिये संसारके अनर्थकारी होनेपर भी ज्ञानीके लिये वह अनर्थकारी नहीं होता है ॥ १४ ॥

---

* भा० ११-२८-१२ इत्यादि ।

शोकहर्षभयक्रोधलोभमोहस्पृहादयः ।
अहङ्कारस्य दृश्यन्ते जन्म मृत्युश्च नाऽऽत्मनः ॥१५॥

देहेन्द्रियप्राणमनोभिमानो
जीवोऽन्तरात्मा गुणकर्ममूर्तिः ।
सूत्रं महानित्युरुधेव गीतः
संसार आधावति कालतन्त्रः ॥१६॥

अमूलमेतद्बहुरूपरूपितं
मनोवचःप्राणशरीरकर्म ।
ज्ञानासिनोपासनया शितेन
च्छित्त्वा मुनिर्गां विचरत्यतृष्णः ॥१७॥

शोक, हर्ष, भय, क्रोध, लोभ. मोह, इच्छा आदि तथा जन्म और मृत्यु—ये अहङ्कारके धर्म हैं, आत्माके धर्म नहीं हैं। [भाव यह है कि अहङ्कार ही संसारका अवलम्बन है और सुषुप्तिमें अहङ्कारके न होनेसे संसारकी प्रतीति नहीं होती है ।] ॥१५॥

[शङ्का—यदि संसार अहङ्कारका है, तो मुक्ति भी उसीकी होनी चाहिये, ऐसी अवस्थामें मुक्तिमें भी अहङ्कार शेष रहेगा, समाधान—] देह, इन्द्रिय, प्राण, मनपर अभिमान करनेवाला और उनके भीतर रहनेके कारण, गुण-कर्ममय मूर्तिवाला एवं सूक्ष्म उपाधियों द्वारा सूत्र, महान् आदि शब्दोंसे कहा गया आत्मा (जीव) कालस्वरूप ईश्वरके वंशमें होकर इतस्ततः भ्रमण करता रहता है, इसलिये उसीका मोक्ष होना उचित है । [भाव यह है कि ऐसी अवस्थाका विलय ही मुक्ति है, अतः यह पक्ष निर्दोष है ।] ॥१६॥

["बन्ध अहङ्कारका है" ऐसा प्रतिपादन करके अब कहते हैं कि ज्ञानसे उसकी निवृत्ति होनेपर मोक्ष होता है—] यद्यपि मन, वाणी, प्राण, शरीरसे सम्बद्ध यह अहङ्कार मूलरहित है तथापि अज्ञानसे

ज्ञानं विवेको निगमस्तपश्च
प्रत्यक्षमैतिह्यमथाऽनुमानम् ।
आद्यन्तयोरस्य यदेव केवलं
कालश्च हेतुश्च तदेव मध्ये ॥१८॥
यथा हिरण्यं स्वकृतं पुरस्तात्
पश्चाच्च सर्वस्य हिरण्मयस्य ।
तदेव मध्ये व्यवहार्यमाणं
नानाऽपदेशैरहमस्य तद्वत् ॥१९॥

नाना प्रकारके देवादि शरीरोंसे प्रकाशित होता है, मुनि गुरुकी उपासना-से तीक्ष्ण ज्ञानरूपी खड्गसे इसको काटकर, इस भूमण्डलमें तृष्णारहित होकर विचरता है ॥१७॥

[उसी ज्ञानका स्वरूप, साधन और फलसे निरूपण करते हैं—] ज्ञानका स्वरूप विवेक (अपरोक्षात्मक साक्षात्कार) है, उसके साधन वेद, उपनिषद् आदिका श्रवण, तप (स्वधर्म), स्वानुभव (प्रत्यक्ष), ज्ञानवानोंका उपदेश (ऐतिह्य) और तर्क हैं; जो जगत्का प्रकाशक और हेतु जगत्के आदि और अन्तमें रहता है, वही तत्त्व मध्यमें भी रहता है, केवल उस आत्माकी प्राप्ति ज्ञानका फल है । [भाव यह है कि जो ब्रह्म इस जगत्का उपादान और निमित्त कारण तथा प्रकाशक है यह जगत् तद्रूप ही है, उससे पृथक् नहीं है, इस प्रकारका निश्चय ही जिसका फल है और निगम (वेद) आदि साधनोंसे जो विवेक उत्पन्न होता है, वह ज्ञान है ।] ॥१८॥

[यहाँपर विविध भेदव्यवहारोंका आलम्बन होता हुआ भी संसार केवल कारणात्मक ही है यह बात दृष्टान्तपूर्वक कहते हैं—] जैसे कुण्डलादि आभूषण बननेसे पहले सुवर्ण और उन आभूषणोंको गलाकर अन्तमें भी सुवर्ण है और मध्यमें भी कटक, कुण्डल आदि

विज्ञानमेतत् त्रियवस्थमङ्ग
गुणत्रयं कारणकार्यकर्तृ ।
समन्वयेन व्यतिरेकतश्च
येनैव तुर्येण तदेव सत्यम् ॥२०॥
न यत्पुरस्तादुत यन्न पश्चा-
न्मध्ये च तन्न व्यपदेशमात्रम् ।
भूतं प्रसिद्धं च परेण यद्य-
त्तदेव तत् स्यादिति मे मनीषा ॥२१॥

विविध नामों द्वारा व्यवहृत हुआ भी वह सुवर्ण ही है, वैसे ही इस जगत्‌का कारणभूत आदि-अन्तरूप मैं मध्यमें भी विविध व्यवहारोंका आलम्बन हूँ, मुझसे संसार पृथक् नहीं है ॥१९॥

[यों कार्यकी कारणमात्रताका उपपादन कर कहते हैं कि प्रकाश्य भी प्रकाशकस्वरूप ही है—] हे उद्धव! जाग्रदादि तीन अवस्थावाला मन (विज्ञान) और उन अवस्थाओंके कारण सत्त्वादि तीन गुण तथा कारण (अध्यात्म), कार्य (अधिभूत) और कर्ता (अधिदैव) यों तीन गुणोंका कार्यभूत तीन प्रकारका जगत् जिस सामान्य ज्ञान (तुरीय) से अनुगत होकर प्रकाशित होता है, देखिये—श्रुति 'तमेव भान्तम्', 'चक्षु-षश्चक्षुः' इत्यादि (यह अन्वय है) और समाधिदशामें जगत्‌का बाध जिस ज्ञानकी सत्तासे अनुभवमें आता है (यह व्यतिरेक है), वही ज्ञान सत्य है ॥२०॥

[इस प्रकार अव्यभिचारी आत्माकी सत्यता कहकर व्यभिचारी जगत्‌की असत्यताका प्रतिपादन करते हैं—] जो कार्य (अधिभूत) न उत्पत्तिसे पहले था और न पीछे रहेगा, वह मध्यमें भी नहीं है, किन्तु कथनमात्र है, क्योंकि जो जो वस्तु कारणसे उत्पन्न होती है और प्रका-शित होती है वह कारणात्मक और प्रकाशात्मक ही है, उससे पृथक्

अविद्यमानोऽप्यवभासते यो
वैकारिको राजससर्ग एषः ।
ब्रह्म स्वयंज्योतिरतो विभाति
ब्रह्मेन्द्रियार्थात्मविकारचित्रम् ॥२२॥
एवं स्फुटं ब्रह्मविवेकहेतुभिः
परापवादेन विशारदेन ।
छित्त्वाऽऽत्मसंदेहमुपारमेत
स्वानन्दतुष्टोऽखिलकामुकेभ्यः ॥२३॥

नहीं है ऐसा मेरा निश्चय है (श्रुति—'वाचारम्भणं विकारो नामधेयम्', 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' इत्यादि) । भाव यह है कि कारण और प्रकाशकसे पृथक् कार्य और प्रकाश्यकी उपलब्धि नहीं होती है ॥२१॥

[इस प्रकार सामान्यरूपसे कार्य और प्रकाश्यका कारण और प्रकाशकसे अभेद कहकर प्रस्तुत विषयमें कारण और प्रकाशकका विचार करके प्रपञ्चका ब्रह्मसे अभेद कहते हैं—]

जो यह विकारोंका समूह है वह पहले नहीं था इस समय रजोगुण द्वारा प्रकट होता है (अर्थात् वह ब्रह्मका कार्य ही है) ब्रह्म तो स्वयंज्योति है (अर्थात् स्वयंसिद्ध है कार्य नहीं अर्थात् सबका कारण है और प्रकाशक है) इस कारण इन्द्रियाँ, तन्मात्राएँ, उनके देवता, जीव और पञ्चमहाभूत—यों विचित्र संसाररूपसे ब्रह्म ही भासता है ॥२२॥

[उपसंहार करते हैं—] इस प्रकार पूर्वोक्त वेद, सदाचार, प्रत्यक्ष, उपदेश और अनुमानरूप स्फुटरूपसे विवेकके साधनों तथा निपुण गुरु द्वारा देहमें आत्मभावका निराकरण करके आत्मविषयक संशयोंको काट डाले और स्वरूपभूत आनन्दसे संतुष्ट होकर सम्पूर्ण इन्द्रियोंके संगसे अलग हो जाय ॥२३॥

नाऽऽत्मा वपुः पार्थिवमिन्द्रियाणि
देवा ह्यसुर्वायुजलं हुताशः ।
मनोऽन्नमात्रं धिषणा च सत्त्व-
महंकृतिः खं क्षितिरर्थसाम्यम् ॥२४॥
समाहितैः कः करणैर्गुणात्मभि-
र्गुणो भवेन्मत्सुविविक्तधाम्नः ।
विक्षिप्यमाणैरुत किन्तु दूषणं
घनैरुपेतैर्विगतै रवेः किम् ॥२५॥

["परापवाद" अर्थात् देहमें आत्मभावका निराकरण करनेका ही विस्तारसे प्रतिपादन करते हैं—] शरीर आत्मा नहीं है, क्योंकि वह घटके समान पृथिवीका कार्य्य है; इसी प्रकार इन्द्रियाँ, उनके अधिष्ठातृ देवता तथा प्राणवायु, बाह्यवायु, बुद्धि, चित्त, अहङ्कार आत्मा नहीं है; क्योंकि शरीरके समान वे भी अन्नसे जीवित रहते हैं और वायु, जल, अग्नि, आकाश और पृथ्वी (पञ्चमहाभूत), शब्दादि एवं तीनों गुणोंकी साम्यावस्था (प्रकृति) भी जड़ होनेके कारण घटके समान आत्मा नहीं है ॥२४॥

[अब यह कहते हैं कि विवेकज्ञानसे युक्त मुक्त पुरुषको इन्द्रियोंके सम्बन्धसे गुणदोष नहीं होते हैं—] जिसको मेरे स्वरूपका भली भाँति ज्ञान हो गया, उसको त्रिगुणात्मक इन्द्रियोंके वशीभूत होनेसे कोई लाभ नहीं है और यदि वह विषयोंमें आकृष्ट हो अर्थात् विषयोंका ग्रहण करे, तो कोई दोष भी नहीं है। जैसे बादलकी घटाके आने अथवा जानेसे सूर्यका क्या ? अर्थात् सूर्यको कुछ हानि अथवा लाभ नहीं होता, ऐसा ही यहाँ भी समझो ॥ २५ ॥

यथा नभो वाय्वनलाम्बुभूगुणै-
र्गतागतैर्वर्तुगुणैर्न सज्जते ।
तथाऽक्षरं सत्त्वरजस्तमोमलै-
रहंमतेः संसृतिहेतुभिः परम् ॥२६॥
तथापि सङ्गः परिवर्जनीयो
गुणेषु मायारचितेषु तावत् ।
मद्भक्तियोगेन दृढेन याव-
द्रजो निरस्येत मनःकषायः ॥२७॥
यथाऽऽमयोऽसाधु चिकित्सितो नृणां
पुनःपुनः संतुदति प्ररोहन् ।
एवं मनोऽपक्वकषायकर्म
कुयोगिनं विध्यति सर्वसङ्गम् ॥२८॥

जैसे वायु, अग्नि, जल और पृथिवीके गुणोंके अथवा वसन्त आदि ऋतुओंके गुणोंके आने-जानेसे आकाश लिप्त नहीं होता है वैसे ही देहादिके अभिमानसे तथा सत्त्वादि गुणोंके दोषोंसे अविनाशी ब्रह्म लिप्त नहीं होता है ॥२६॥

[दो श्लोकोंसे कहते हैं कि जबतक पूर्ण ज्ञान न हो तबतक अपूर्ण ज्ञानी मुक्त पुरुषके समान यथेष्ट आचरण न करे—] जीवन्मुक्तका जबतक दृढ़भक्तिसे मनका मल तथा विषयोंमें राग दूर न हो तबतक उसे मायारचित (प्रकृतिके कार्यरूप) विषयोंसे सम्बन्ध नहीं करना चाहिये ॥२७॥

[पूर्वोक्त कथनका दृष्टान्त द्वारा उपपादन करते हैं—] जैसे रोगकी भली भाँति चिकित्सा न की जाय, तो वह पुनः पुनः उभड़कर देहको पीड़ा देता है वैसे ही जिसके राग, द्वेष आदि मल और उनके मूल कर्म भस्म नहीं हुए हैं और जिसका मन धन, पुत्र, स्त्री आदि विषयोंमें लगा हुआ है, उस कुयोगीका मन उसे भ्रष्ट कर देता है ॥२८॥

कुयोगिनो ये विहतान्तरायै-
र्मनुष्यभूतैस्त्रिदशोपसृष्टैः ।
ते प्राक्तनाभ्यासबलेन भूयो
युञ्जन्ति योगं न तु कर्मतन्त्रम् ॥२९॥
करोति कर्म क्रियते च जन्तुः
केनाऽप्यसौ चोदित आनिपातात् ।
न तत्र विद्वान्प्रकृतौ स्थितोऽपि
निवृत्ततृष्णः स्वसुखानुभूत्या ॥३०॥

[पूर्वपक्ष—यदि किसी प्रकार किञ्चित् भी विषयसंयोग हुआ तो मनुष्य योगमार्गसे भ्रष्ट हो जाता है, इसलिये विनाशी योगमार्गका अवलम्बन नहीं ही करना चाहिये, समाधान—] देवताओं द्वारा प्रेरित हुए स्त्री, पुत्र, बन्धु आदि रूपी विघ्नोंसे जो कुयोगी भ्रष्ट हो जाते हैं (श्रुति भी कहती है—'यस्मात्तदेषां न प्रियं यदेतन्मनुष्या विद्युः') वे पूर्व-जन्मके योगाभ्यासके बलसे दूसरे जन्ममें फिर योगका ही अभ्यास करते हैं, कर्म नहीं करते, इसलिये पूर्व अभ्यास व्यर्थ नहीं है । [देवताओंका योगमार्गमें विघ्न करनेका कारण यह है—लोगोंके योगी होनेसे उनकी पूजाका भङ्ग होता है, इसका पहले ही निरूपण किया गया है ।] ॥२९॥

[पूर्वपक्ष—विद्वान्से भी कर्म सर्वथा नहीं छूट सकते, ऐसी अवस्थामें उसको पुनः संसार प्राप्त होगा, समाधान—] जो विद्वान् नहीं है, वह किसीकी (अन्तर्यामी अथवा प्रारब्ध आदिकी) प्रेरणासे कर्म करता है और हर्ष, शोक आदि विकारोंको प्राप्त होता है, उससे उसे संसार प्राप्त होता है । किन्तु विद्वान् देहमें रहता हुआ एवं प्रारब्धवश मरणपर्यन्त देह धारणके लिये भोजनादि कर्म करता हुआ भी आत्मसुखका अनुभव होनेसे तृष्णाके नष्ट हो जानेके कारण (हर्ष, शोकादि) विकारोंको नहीं

तिष्ठन्तमासीनमुत व्रजन्तं
शयानमुक्षन्तमदन्तमन्नम् ।
स्वभावमन्यत्किमपीहमान-
मात्मानमात्मस्थमतिर्न वेद ॥३१॥
यदि स्म पश्यत्यसदिन्द्रियार्थं
नानानुमानेन विरुद्धमन्यत् ।
न मन्यते वस्तुतया मनीषी
स्वाप्नं यथोत्थाय तिरोदधानम् ॥३२॥

प्राप्त होता और अहङ्काररहित होनेके कारण उसे जन्म भी नहीं लेना पड़ता ॥ ३० ॥

[देहके कर्मोंसे ज्ञानीको विकारोंके प्राप्त होनेकी आशङ्का तो दूर रहे उसे देहका भी ज्ञान नहीं रहता, ऐसा कहते हैं—] जिसकी बुद्धि आत्मानुसन्धानमें लगी हुई है ऐसे विद्वान्‌को बैठे, चलते सोते, मूत्रका त्याग करते, भोजन करते अथवा स्वभावसे प्राप्त दर्शन, स्पर्श आदि अन्यान्य कर्म करते हुए देहका भी ज्ञान नहीं रहता है ॥ ३१ ॥

[शङ्का—इन्द्रियोंके रहते हुए दर्शन, स्पर्श आदि कैसे सर्वथा निवृत्त हो सकते हैं ? समाधान—] यदि किसी समय (समाधिभङ्ग-की अवस्थामें) योगी बहिर्मुख इन्द्रियोंके नाना प्रकारके शब्दादि विषयोंका दर्शन करता है, तो भी अनुमानसे (अर्थात् जो नाना वस्तुएँ दिखायी देती हैं, वे स्वप्नके दृश्यके समान मिथ्या हैं) बाधित आत्मासे अतिरिक्त पदार्थोंको वास्तविक नहीं समझता है । जैसे पुरुष स्वप्नसे जागकर केवल संस्काररूपसे वर्तमान अतएव अपने आप विलीन होते हुए स्वप्नमें दृष्ट विषयोंको वास्तविक नहीं समझता, ऐसा ही यहाँ भी समझना चाहिए ॥३२॥

पूर्वं गृहीतं गुणकर्मचित्र-
मज्ञानमात्मन्यविविक्तमङ्ग ।
निवर्तते तत्पुनरीक्षयैव
न गृह्यते नाऽपि विसृज्य आत्मा ॥३३॥
यथा हि भानोरुदयो नृचक्षुषां
तमो निहन्यान्न तु सद्विधत्ते ।
एवं समीक्षा निपुणा सती मे
हन्यात्तमिस्रं पुरुषस्य बुद्धेः ॥३४॥

[आत्मा विकृत नहीं होता यों कहा इसपर शङ्का होती है कि बद्धावस्थामें आत्मामें मलिनत्व है और मोक्षदशामें उसके त्यागसे शुद्धताका ग्रहण होता है, ऐसी दशामें यह कैसे कहा जाय कि आत्मामें विकार नहीं होता है ? धान कूटनेसे धानोंका रूप नष्ट हो जाता है और चावलोंका रूप प्राप्त होता है, ऐसी दशामें क्या यह कहा जा सकता है कि उनमें (धानोंमें) कोई विकार नहीं आया ? समाधान—] हे उद्धव ! बद्ध अवस्थामें सत्त्वादि गुण और उनके अनुरूप कर्मोंसे जो ये विचित्र देह, इन्द्रिय आदि रूप अज्ञानके कार्य आत्मामें अभिन्नरूपसे गृहीत हुए थे, उनकी ही आत्मज्ञानसे निवृत्ति होती है । आत्माका तो किसी अवस्थामें त्याग अथवा ग्रहण नहीं किया जाता है । [भाव यह है कि मोक्ष यदि कर्मका फल होता, तो आत्मामें विकार होता, मोक्ष केवल आरोपित अज्ञानकी निवृत्तिरूप है, अतः आत्मामें बन्ध तथा मोक्षका संपर्क न होनेके कारण विकार नहीं है ।] ॥३३॥

[इसी पूर्वोक्त कथनको दृष्टान्तसे स्पष्ट करते हैं—] जैसे सूर्यका उदय केवल लोगोंकी दृष्टिके आवरक अन्धकारका नाश करता है, वह नवीन घट, पट आदि दृश्योंको उत्पन्न नहीं करता वैसे ही मेरा यथार्थ साक्षात्कार मनुष्यकी बुद्धिके मोहको (अज्ञानको) ही दूर करता है ॥३४॥

एष स्वयंज्योतिरजोऽप्रमेयो
महानुभूतिः सकलानुभूतिः ।
एकोऽद्वितीयो वचसां विरामे
येनेषिता वागसवश्चरन्ति ॥३५॥
एतावानात्मसंमोहो यद्विकल्पस्तु केवले ।
आत्मन्नृते स्वमात्मानमवलम्बो न यस्य हि ॥३६॥
यन्नामाकृतिभिर्ग्राह्यं पञ्चवर्णमबाधितम् ।
व्यर्थेनाऽप्यर्थवादोऽयं द्वयं पण्डितमानिनाम् ॥३७॥

[आत्माकी निर्विकारताका विस्तारसे वर्णन करते हैं—] यह आत्मा स्वयंज्योति, जन्मादि विकारोंसे रहित, प्रमाणोंका अविषय, जिसके ज्ञान और ऐश्वर्यकी इयत्ता नहीं है, सबका साक्षी, एक (सजातीय आदि भेदरहित) अद्वितीय है और सब इन्द्रियोंकी, अगोचर होनेके कारण, निवृत्ति होनेपर भी जो स्वयंप्रकाश है और जिसकी प्रेरणासे इन्द्रियाँ और प्राण अपना अपना व्यापार करते हैं (श्रुति "यतो वाचो निवर्तन्ते" इत्यादि, "श्रोत्रस्य श्रोत्रम्" इत्यादि) ॥ ३५॥

[आत्माकी अद्वितीयताका प्रतिपादन करनेके लिये उसमें भेद-की अवास्तविकता कहते हैं—] भेदरहित आत्मामें भेद मानना यह सब मनका भ्रम ही है, क्योंकि आत्माके सिवा उस भेदका अन्य आधार नहीं है [जैसे सीपमें चाँदीके भ्रमका आधार सीपसे दूसरा नहीं है], क्योंकि 'नेह नानास्ति किञ्चन', 'इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते' ऐसी श्रुतियाँ हैं ॥ ३६ ॥

[अब इस पक्षका खण्डन करते हैं कि द्वैतप्रपञ्च प्रत्यक्ष प्रमाणसे प्रतीत होता है, अतः उसका बाध नहीं हो सकता, इसलिये वेदान्तवाक्य अर्थवाद हैं, क्योंकि वे मुख्यतः कर्मकाण्डका ही विधान करते हैं; अतः द्वैत सत्य है—] जो यह कहते हैं कि नामरूपसे

योगिनोऽपक्वयोगस्य युञ्जतः काय उत्थितैः ।
उपसर्गैर्विहन्येत तत्रायं विहितो विधिः ॥३८॥
योगधारणया कांश्चिदासनैर्धारणान्वितैः ।
तपोमन्त्रौषधैः कांश्चिदुपसर्गान् विनिर्दहेत् ॥३९॥

उपलब्ध होनेवाला पञ्चमहाभूतरूप द्वैतका बाध नहीं हो सकता है और वेदान्तवाक्य अर्थवाद हैं, वे अपनेको पण्डित माननेवाले हैं पर वास्तविक पाण्डित्यसे कोरे हैं, क्योंकि उक्त प्रतीति वास्तव नहीं है । [भाव यह है ''अहं ब्रह्मास्मि'' वेदान्तवाक्य है और ''स्वर्गकामो यजेत्'' कर्मकाण्डवाक्य है—इन दोनोंकी एकवाक्यता नहीं हो सकती है, जिससे कि वेदान्तोंमें अर्थवादत्व सिद्ध हो । और दूसरी बात यह भी है कि अकर्ता, अभोक्ता परमानन्दरूप आत्माका प्रतिपादन कर्मका अङ्ग नहीं हो सकता और द्वैत अबाधित भी नहीं है, नामरूपात्मक होने, दृश्य होने और पञ्चमहाभूतात्मक होनेसे स्वप्नके समान इत्यादि अनुमान तथा ''वाचारम्भणम्'' इत्यादि श्रुतिसे भी द्वैत प्रपञ्च बाधित है ।] ॥३७॥

[साङ्ग ज्ञानयोगका निरूपण कर अब ज्ञाननिष्ठ योगीके विघ्नोंको दूर करनेका उपाय तीन श्लोकोंसे कहते हैं—] ऐसे योगीको जिसका योगाभ्यास पूरा नहीं हुआ है, योगसाधन करते हुए ही रोगादि उत्पन्न होकर शरीरमें पीड़ा करने लगें, तो उसका प्रतीकार (उपाय) यह है ॥३८॥

[उसीको दर्शाते हैं—] सन्ताप और शीत आदि बाधाको चन्द्र, सूर्य आदिकी धारणासे, वातरोगोंको वायुकी धारणासे युक्त आसनों-से और पापग्रह, सर्प आदिसे उत्पन्न पीड़ाको मन्त्र और ओषधिसे दूर करे॥ ३९ ॥

कांश्चिन्ममाऽनुध्यानेन नामसंकीर्तनादिभिः ।
योगेश्वरानुवृत्त्या वा हन्यादशुभदाञ्छनैः ॥४०॥
केचिद्देहमिमं धीराः सुकल्पं वयसि स्थिरम् ।
विधाय विविधोपायैरथ युञ्जन्ति सिद्धये ॥४१॥
नहि तत्कुशलादृत्यं तदायासो ह्यपार्थकः ।
अन्तवत्त्वाच्छरीरस्य फलस्येव वनस्पतेः ॥४२॥
योगं निषेवतो नित्यं कायश्चेत्कल्पतामियात् ।
तच्छ्रद्दध्यान्न मतिमान्योगमुत्सृज्य मत्परः ॥४३॥

अशुभ काम, क्रोधादिका मेरे ध्यान और नामकीर्तनसे एवं दम्भ, अभिमानादिका योगेश्वरोंके अनुसरणसे धीरे-धीरे नाश करे ॥४०॥

[अब यह कहते हैं कि कुछ लोग देहकी सिद्धिके लिये यह सब करते हैं, पर वह ठीक नहीं है—] इन उपायोंसे या दूसरे उपायोंसे कोई इन्द्रियोंको जीतनेवाले पुरुष देहको बुढ़ापा और रोगसे रहित अर्थात् युवावस्थावाला बनाकर सिद्धियोंके लिये तत्-तत्धारणा-रूप योगको करते हैं, ज्ञाननिष्ठारूप योगको नहीं करते ॥४१॥

परन्तु उक्त मार्ग चतुर पुरुषों द्वारा आदरणीय नहीं है, क्योंकि शरीर विनाशी है, अतः शरीरकी सिद्धिके लिये आयास व्यर्थ ही है, क्योंकि वनस्पतिके समान आत्मा ही नित्य है और यह शरीर फलके समान नश्वर है; अतएव केवल आत्माके लाभके लिए ही यत्न करना चाहिये ॥४२॥

[यद्यपि कभी समाधिके अङ्गरूपसे प्राणायाम आदि योग करनेपर भी उनसे देहमें बुढ़ापा, रोग आदिका अभाव देखा जाता है, यह बात ठीक है तथापि समाधिका त्यागकर उन्हींमें लवलीन नहीं होना चाहिये, ऐसा कहते हैं—] नित्य प्राणायाम आदिसे

योगचर्यामिमां योगी विचरन्मद्व्यपाश्रयः ।
नाऽन्तरायैर्विहन्येत निःस्पृहः स्वसुखानुभूः ॥४४॥

यदि देह दृढ़ भी हो जाय, तो भी विवेकी पुरुष समाधियोग (मत्परता) को छोड़कर देहकी दृढ़तापर विश्वास न करे ॥४३॥

जो योगी मेरा आश्रय करके ऐसा योग करते विचरता है, उसको कभी विघ्न बाधा नहीं करते, क्योंकि मेरे आश्रयसे वह इच्छा-रहित और आनन्दसे परिपूर्ण हो जाता है ॥४४॥
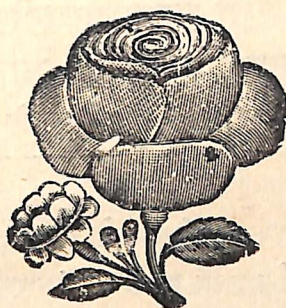
दूसरा प्रकरण

ब्रह्मविद्याका संग्रह

पूर्व प्रकरणमें* ज्ञानके साधन वेद, तप, प्रत्यक्ष, ऐतिह्य और अनुमान कहे हैं और अन्तमें योगको भी ज्ञानका साधन कहा है। असंयमी पुरुषके लिये योगमार्ग कठिन है, इसलिये भगवद्भक्तिको ज्ञानका मुख्य साधन समझते हुए उद्धवजीने सुखसे मोक्ष पानेका उपाय फिर पूछा। उसपर

श्रीभगवानुवाच†

हन्त ते कथयिष्यामि मम धर्मान् सुमङ्गलान्।
याञ्छ्रद्धया चरन् मर्त्यो मृत्युं जयति दुर्जयम् ॥८॥
कुर्यात् सर्वाणि कर्माणि मदर्थं शनकैः स्मरन्।
मय्यर्पितमनश्चित्तो मद्धर्मात्ममनोरतिः ॥९॥
देशान् पुण्यानाश्रयेत मद्भक्तैः साधुभिः श्रितान्।
देवासुरमनुष्येषु मद्भक्ताचरितानि च ॥१०॥

श्रीभगवान् बोले—

मैं तुमसे अपने कल्याणकारी धर्मोंको कहता हूँ जिनका श्रद्धासे आचरण करनेवाला पुरुष दुर्जय जन्म-मरणरूप संसारको जीत लेता है ॥८॥

[अब तेरह श्लोकोंसे उन्हीं भागवत धर्मोंको फिर कहते हैं जो तीसरे अध्यायके पहले प्रकरणमें कहे गये हैं—] मुझमें मन और चित्तको लगाता हुआ, मेरे धर्मोंमें मनसे प्रीति करता हुआ और मेरा स्मरण करता हुआ पुरुष सब कर्मोंको सावधानीसे मेरे आराधनके लिए करे ॥९॥

मेरे साधु भक्तोंसे सेवित पुण्य स्थानोंमें रहे एवं देवता, दैत्य और मनुष्योंमें जो-जो मेरे भक्त हो गये हैं, उनके आचरणके समान स्वयं भी आचरण करे ॥१०॥

---

* भा० ११।२८।१८ इत्यादि। † भा० ११-२९-८ इत्यादि।

पृथक्सत्रेण वा मह्यं पर्वयात्रामहोत्सवान् ।
कारयेद्गीतनृत्याद्यैर्महाराजविभूतिभिः ॥११॥
मामेव सर्वभूतेषु बहिरन्तरपावृतम् ।
ईक्षेताऽऽत्मनि चाऽऽत्मानं यथा खममलाशयः ॥१२॥
इति सर्वाणि भूतानि मद्भावेन महाद्युते ।
सभाजयन् मन्यमानो ज्ञानं केवलमाश्रितः ॥१३॥
ब्राह्मणे पुल्कसे स्तेने ब्रह्मण्येऽर्के स्फुलिङ्गके ।
अक्रूरे क्रूरके चैव समदृक्पण्डितो मतः ॥१४॥
नरेष्वभीक्ष्णं मद्भावं पुंसो भावयतोऽचिरात् ।
स्पर्धासूयातिरस्काराः साहंकारा वियन्ति हि ॥१५॥

अकेला या जनसमुदायके साथ मिलकर महाराजाओंके योग्य उपचार एवं गाना, नाचना आदिसे मेरी प्रसन्नताके लिए एकादशी आदि पर्वोंमें होनेवाले मेलोंमें योग्य महोत्सव करावे ॥११॥

निर्मल अन्तःकरणवाला पुरुष आकाशकी भाँति बाहर और भीतर पूर्ण (व्यापक) एवं आवरणरहित मुझको सम्पूर्ण प्राणियोंमें और अपनेमें विद्यमान देखे ॥१२॥

हे महामते ! इस प्रकार केवल ज्ञानदृष्टिका आश्रय करके जो पुरुष सम्पूर्ण प्राणियोंको मेरा रूप मानता हुआ उनकी पूजा करता है ॥१३॥

जो ब्राह्मण या चाण्डालमें, ब्राह्मणको वृत्ति देनेवालों अथवा ब्राह्मणका धन हरनेवालोंमें, सूर्य अथवा अग्निकी चिनगारीमें एवं शान्त अथवा क्रूर पुरुषोंमें समानदृष्टि रखता है, उसीको मैं पण्डित मानता हूँ ॥१४॥

सब मनुष्योंमें नित्य मेरी भावना करनेवाले पुरुषके इसी जन्ममें (समकक्षोंमें) स्पर्धा, (बड़ोंमें) असूया, (नीचोंमें) तिरस्कार और (अपनेमें) अहङ्कार दोष शीघ्र ही दूर हो जाते हैं ॥१५॥

विसृज्य स्मयमानान् स्वान् दृशं व्रीडां च दैहिकीम् ।
प्रणमेद्दण्डवद्भूमावाश्वचाण्डालगोखरम् ॥१६॥
यावत्सर्वेषु भूतेषु मद्भावो नोपजायते ।
तावदेवमुपासीत वाङ्मनःकायवृत्तिभिः ॥१७॥
सर्वं ब्रह्मात्मकं तस्य विद्ययाऽऽत्ममनीषया ।
परिपश्यन्नुपरमेत् सर्वतो मुक्तसंशयः ॥१८॥
अयं हि सर्वकल्पानां सध्रीचीनो मतो मम ।
मद्भावः सर्वभूतेषु मनोवाक्कायवृत्तिभिः ॥१९॥
नह्यङ्गोपक्रमे ध्वंसो मद्धर्मस्योद्धवाण्वपि ।
मया व्यवसितः सम्यङ् निर्गुणत्वादनाशिषः ॥२०॥

[इस कारण अन्तर्यामी दृष्टिसे सबको प्रणाम करे—] अपने ऊपर हँस रहे मित्रोंको, अपनी देहमें भले बुरेकी दृष्टिको (अर्थात् मैं उत्तम हूँ, वह नीच है ऐसी दृष्टिको) और उस दृष्टिसे प्राप्त हुई लज्जाको छोड़कर कुत्ता, चाण्डाल, बैल, गदहे तक सबको भूमिमें दण्डवत् प्रणाम करे ॥१६॥

जबतक यह भाव उत्पन्न न हो कि मैं इन सब प्राणियोंमें अन्तर्यामीरूपसे रहता हूँ तबतक वाणी, मन और शरीरके कर्मोंसे (वृत्तियोंसे) यों उपासना करता रहे ॥१७॥

यों आचरण करते हुए पुरुषकी दृष्टिमें सब ब्रह्ममय हो जाता है, तब सर्वत्र ईश्वरबुद्धि रखनेसे उत्पन्न आत्मसाक्षात्काररूप विद्यासे चारों ओर ब्रह्मको ही देखता है और सब संशयोंका त्यागकर सम्पूर्ण क्रियाओंसे उपरत हो जाता है ॥१८॥

सब उपायोंमें उत्तम उपाय यही है कि मन, वाणी और शरीरकी वृत्तियोंसे सब प्राणियोंमें मेरी भावना करे, ऐसा मेरा मत है ॥१९॥

[दो श्लोकोंसे भगवद्धर्मरूप उपायकी उत्तमताका प्रतिपादन

यो यो मयि परे धर्मः कल्प्यते निष्फलाय चेत् ।
तदायासो निरर्थः स्याद्भयादेरिव सत्तम ॥२१॥
एषा बुद्धिमतां बुद्धिर्मनीषा च मनीषिणाम् ।
यत्सत्यमनृतेनेह मर्त्येनाप्नोति माऽमृतम् ॥२२॥
एष तेऽभिहितः कृत्स्नो ब्रह्मवादस्य संग्रहः ।
समासव्यासविधिना देवानामपि दुर्गमः ॥२३॥

करते हैं—] हे उद्धव ! निर्गुण होनेके कारण मेरी उपासनारूप निष्काम धर्मका आरम्भ होनेपर वैगुण्य (विपरीतता) आदिसे तनिक भी नाश नहीं होता है, क्योंकि स्वयं मुझ सर्वज्ञने इस धर्मकी स्थापना की है किसी प्रकार मुनि आदिके मुखसे इसकी स्थापना नहीं करायी है, अतः यह धर्म सर्वश्रेष्ठ है ॥२०॥

हे सत्तम ! जब कि लौकिक व्यर्थ आयास–भयके कारण भागना, शोकके कारण रोना आदि क्लेश—भी मुझ परमात्मासे निष्कामभावसे समर्पित हों, तो वे धर्म ही होते हैं तब मेरे निमित्त किया गया धर्माचरण (भागवत धर्मोंका अनुष्ठान) निष्फल नहीं होता है, इसमें कहना ही क्या है ? ॥२१॥

बुद्धिमानोंका विवेक और चतुर पुरुषोंकी चतुराई यही है कि इस मरणशील असत्य देहसे इसी जन्ममें नाशरहित मुझ परमार्थ तत्त्वको प्राप्त कर लें ॥२२॥

देवताओंको भी दुर्लभ यह सम्पूर्ण वेदान्तसिद्धान्तका संग्रह मैंने तुमसे संक्षेप और विस्तारसे कहा है ॥२३॥

तीसरा प्रकरण

परब्रह्मका उपदेश

सब संसारकी आत्मा भगवान् श्रीहरिका जिसमें निरन्तर वर्णन हुआ है श्रीशुकदेवजी द्वारा कही गई श्रीमद्भागवतसंहिताके सुननेके अनन्तर राजा परीक्षित्का मृत्यु समय आ गया। भगवान्की भक्तिके प्रभावसे उनको आत्मज्ञान प्राप्त हो गया था तथापि जैसे लकड़ीके खूँटेके गाड़नेमें उसे ठोकते और हिलाते जाते हैं ताकि वह मजबूतीसे गड़ जाय, वैसे ही शुकदेवजी फिर भी परब्रह्मके उपदेशसे मृत्यु भयको दूर करनेके लिए यह कहने लगे।

श्रीशुक उवाच❀

त्वं तु राजन् मरिष्येति पशुबुद्धिमिमां जहि ।
न जातः प्रागभूतोऽद्य देहवत् त्वं न नङ्क्ष्यसि ॥२॥
न भविष्यसि भूत्वा त्वं पुत्रपौत्रादिरूपवान् ।
बीजाङ्कुरवद्देहादेर्व्यतिरिक्तो यथाऽनलः ॥३॥

श्रीशुकदेवजी बोले—

हे राजन्! 'मैं मरूँगा' ऐसी अविवेकवती बुद्धिको (अर्थात् देहमें आत्मबुद्धिको) त्याग दो। जैसे देह जन्मसे पहले नहीं था, पश्चात् उत्पन्न हुआ और फिर नाशको प्राप्त हो जायगा वैसे तुम (आत्मा) नहीं हो ॥२॥

[यह भी न समझो कि जैसे बीजसे अंकुर होता है और अंकुरसे फिर बीज होता है वैसे ही पुत्र, पौत्रादि रूपसे मैं ही उत्पन्न होता हूँ और उनके नष्ट होनेसे मैं कैसे नष्ट नहीं होऊँगा? यह कहते हैं—] पुत्र, पौत्र आदिके रूपमें होकर तुम (आत्मा) बीज–अंकुरके

❀ भा० १२-५-१ इत्यादि।

स्वप्ने यथा शिरश्छेदं पञ्चत्वाद्यात्मनः स्वयम् ।
यस्मात्पश्यति देहस्य तत आत्मा ह्यजोऽमरः ॥४॥
घटे भिन्ने यथाऽऽकाशः आकाशः स्याद्यथा पुरा ।
एवं देहे मृते जीवो ब्रह्म संपद्यते पुनः ॥५॥
मनः सृजति वै देहान् गुणान् कर्माणि चाऽऽत्मनः ।
तन्मनः सृजते माया ततो जीवस्य संसृतिः ॥६॥

समान नहीं होओगे, क्योंकि तुम देहसे अतिरिक्त हो देहसे देह ही उत्पन्न होती है, आत्मा नहीं । जैसे अग्नि काष्ठसे निराली है वैसे ही आत्मा देहसे भिन्न है । [यहाँ यह ध्यानमें रखना चाहिये कि "आत्मा वै पुत्रनामाऽसि" इस श्रुतिमें आत्माका अर्थ गौण आत्मा है❀ ।] ॥३॥

[अब दृष्टान्तसे यह दिखलाते हैं कि जन्म आदि देहके धर्म हैं—] जैसे स्वप्नमें अपना सिर कटना या अपना मरना स्वयं देखता है (वह मरण इत्यादि द्रष्टाका धर्म नहीं होता है) वैसे ही जाग्रत् अवस्थामें भी देहके मरण आदि देखता है (अर्थात् देहका ही मरण समझो) आत्मा तो अजन्मा और अमर है ॥४॥

[अब यह कहते हैं कि देहरूप उपाधिसे ही आत्माका जन्म और मरण आदि संसारभ्रम है और उस देहरूप उपाधिकी निवृत्ति होनेपर मुक्त हो जाता है—] जैसे घटाकाश घटकी उपाधिसे पहले उस रूपमें नहीं था (केवल महाकाश था) घटके फूट जानेके अनन्तर उसके भीतरका आकाश महाकाशरूप हो जाता है वैसे ही आत्मज्ञानसे देह-नाशके अनन्तर जीव ब्रह्मरूप हो जाता है ॥५॥

[ज्ञानसे लयकी भावना करानेके लिये माया द्वारा कृत आत्माका देह-

---

❀ देखिये पंचदशी १२-३२ इत्यादि ।

स्नेहाधिष्ठानवर्त्यग्निसंयोगो यावदीयते ।
ततो दीपस्य दीपत्वमेवं देहकृतो भवः ।
रजःसत्त्वतमोवृत्त्या जायतेऽथ विनश्यति ॥७॥
न तत्राऽऽत्मा स्वयंज्योतिर्यो व्यक्ताव्यक्तयोः परः ।
आकाश इव चाऽऽधारो ध्रुवोऽनन्तोपमस्ततः ॥८॥

रूप उपाधिके साथ सम्बन्धका प्रकार दिखलाते हैं—] मन ही आत्माके देह, गुण और कर्मकी रचना करता है और वही मन मायाको उत्पन्न करता है फिर उस माया आदि उपाधिके समुदायसे जीवको जन्म-मरणरूप संसार प्राप्त होता है, अपने आप नहीं होता है ।।६।।

[चूँकि जीवात्माको संसारकी प्राप्ति उपाधि द्वारा होती है, अतः उपाधिके नष्ट होनेपर उसकी मुक्ति हो जाती है। इसीको दृष्टान्त-पूर्वक डेढ़ श्लोकसे दिखाते हैं—] जबतक तेल, तेलका पात्र अर्थात् 'दीपक', बत्ती और अग्निका संयोग रहता है तबतक दीपमें दीप-ज्वाला-परिणामरूप दीपत्व रहता है, वैसे ही देहके अध्याससे ही यह संसार है । वह रज, सत्त्व और तमोगुणकी वृत्तियोंसे उत्पन्न होता है, स्थित रहता है और नाशको प्राप्त होता है । यहाँ तेलके पात्रको मन, तेलको कर्म, बत्तीको देह, अग्निके संयोगको चैतन्याध्यास और दीपकको संसार समझना चाहिये ।। ७ ।।

[दीपकके समान संसार ही उत्पन्न होता है और नाशको प्राप्त होता है आत्मा तो ज्योतिके समान न उत्पन्न होता है और न नष्ट होता है, यह कहते हैं—] ससांरमें स्थित भी आत्मा जो स्थूल सूक्ष्म देहसे परे, स्वयंज्योति, आकाशके समान देहादिका आधार, निर्विकार, अनन्त, उपमारहित और व्यापक है, वह न जन्मता है और न मरणको प्राप्त होता है ।।८।।

एवमात्मानमात्मस्थमात्मनैवाऽऽमृश प्रभो ।
बुद्ध्याऽनुमानगर्भिण्या वासुदेवानुचिन्तया ॥९॥
चोदितो विप्रवाक्येन न त्वां धक्ष्यति तक्षकः ।
मृत्यवो नोपधक्ष्यन्ति मृत्यूनां मृत्युमीश्वरम् ॥१०॥
अहं ब्रह्म परं धाम ब्रह्माऽहं परमं पदम् ।
एवं समीक्षन्नात्मानमात्मन्याधाय निष्कले ॥११॥
दशन्तं तक्षकं पादे लेलिहानं विषाननैः ।
न द्रक्ष्यसि शरीरं च विश्वं च पृथगात्मनः ॥१२॥

[इसलिये तुम ऐसा ध्यान करो, यह कहते हैं—] हे प्रभो ! भगवान् वासुदेवका निरन्तर चिन्तन करते हुए तुम अनुमानयुक्त बुद्धिसे आप ही अपने देहादिमें स्थित आत्माका विचार करो। [अनुमान ऐसा है कि बुद्धि आदि प्रवर्तक चेतनकी अपेक्षा रखते हैं, जड़ होनेसे, रथादिके समान ।] ॥९॥

ब्राह्मणके वाक्यसे प्रेरित तक्षक तुमको (आत्माको) नहीं जलावेगा, किन्तु तुम्हारी देहको ही जलावेगा, क्योंकि मृत्युके कारण कालादि मृत्युओंके भी मृत्युरूप (कालोंके भी काल) ईश्वरको नहीं जला सकते । [भाव यह है कि ईश्वरके साथ ऐक्य (अभेद) को प्राप्त हुए तुम्हें वे नहीं जला सकेंगे ।]॥१०॥

जो "मैं हूँ" वही परमपदरूप ब्रह्म है (इस भावनासे जीवकी शोकादिसे निवृत्ति होती है) जो परमपद ब्रह्म है, वही मैं हूँ (इस भावनासे ब्रह्मका परोक्षपना निवृत्त होता है) इस प्रकार समीक्षा (साक्षात्कार) करनेसे निरुपाधिक ब्रह्ममें आत्माकी स्थापना कर; ॥११॥

तुम पैरमें काटनेवाले जीभको लपलपाते हुए विषैले तक्षकको, अपने शरीरको और इस जगत्को आत्मासे भिन्न नहीं देखोगे ॥१२॥

नवाँ अध्याय

भक्तितत्त्वका निरूपण

शौनक-सूत-संवाद

शौनक आदि ऋषि नैमिषारण्य क्षेत्रमें सहस्रसंवत्सरमें पूर्ण होनेवाला यज्ञ कर रहे थे । उन्होंने एक दिन प्रातःकाल अग्निमें हवन करनेके पश्चात् सूतजीसे पूछा—"हे साधो ! अनेकानेक शास्त्रोंमें जो सारभूत वस्तु है और जिससे हमारा अन्तःकरण भली भाँति प्रसन्न हो ऐसे सारभूत तत्त्वको श्रद्धायुक्त हम लोगोंके संतोषके लिए आप कहिये ।" जिसके प्रश्नमात्रसे ही अन्तःकरण प्रसन्न हो जाता है, ऐसे इस प्रश्नको श्रीकृष्ण भगवान्का सम्बन्धी समझकर सूतजी बोले—

[सूत उवाच*]

स वै पुंसां परो धर्मो यतो भक्तिरधोक्षजे ।
अहैतुक्यप्रतिहता ययाऽऽत्मा सम्प्रसीदति ॥६॥

पुरुषोंका वही परम धर्म है, जिससे अधोक्षज भगवान्में निष्काम और निर्विघ्न भक्ति हो और जिससे अन्तःकरण प्रसन्न होता है । [धर्म दो प्रकारका है—प्रवृत्तिलक्षण अपर धर्म और निवृत्तिलक्षण पर धर्म । यहाँपर धर्मसे निष्काम कर्मरूप निवृत्तिलक्षण धर्म लिया गया है ।] ॥६॥

* भा० १-२-६ इत्यादि ।

वासुदेवे भगवति भक्तियोगः प्रयोजितः ।
जनयत्याशु वैराग्यं ज्ञानं यत्तदहैतुकम् ॥७॥
धर्मः स्वनुष्ठितः पुंसां विष्वक्सेनकथासु यः ।
नोत्पादयेद्यदि रतिं श्रम एव हि केवलम् ॥८॥
धर्मस्य ह्यापवर्ग्यस्य नार्थोऽर्थायोपकल्पते ।
नाऽर्थस्य धर्मैकान्तस्य कामो लाभाय हि स्मृतः ॥९॥

[शङ्का—"तमेवमात्मानं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति यज्ञेन दानेन तपसाऽनाशकेन" इत्यादि श्रुतियोंसे धर्म ज्ञानका अङ्ग—साधन—है यह प्रसिद्ध है, फिर यहाँ भक्तिको उसका साधन कैसे कहा ? समाधान—आपका कथन ठीक है, भक्तिके द्वारा ही धर्म आदि ज्ञानके अङ्ग—साधन—हैं, यह उक्त श्रुतिका तात्पर्य है] भगवान् वासुदेवमें की गई भक्ति शीघ्र ही वैराग्य और शुष्क तर्कोंसे प्राप्त न हो सकनेवाले उपनिषद्लभ्य आत्मज्ञानको उत्पन्न कर देती है ॥७॥

उत्तम प्रकारसे किया गया यज्ञ आदि धर्म यदि भगवान्की कथाओंमें मनुष्योंकी प्रीति उत्पन्न न करे, तो वह केवल परिश्रम ही है। [उनका स्वर्ग आदि फल तो है, फिर वे निष्फल कैसे हैं ? भाव यह है स्वर्ग आदि फलके भी नाशवान् होनेसे वे निष्फल-से ही हैं ॥ ८ ॥

[पूर्वोक्त दो श्लोकोंसे यह प्रतिपादन किया कि जिससे भक्ति द्वारा स्वर्ग आदिमें वैराग्यरूप ज्ञान हो, वह पर धर्म है; अब अग्रिम दो श्लोकोंसे इस मतका निराकरण करते हैं कि धर्मका फल अर्थ है, अर्थका फल विषय-भोग है एवं विषयभोगका फल इन्द्रियप्रीति है—] धन मोक्षजनक धर्मका साधन नहीं हो सकता। मुनियोंने यह भी कहा है कि जिस धनका मुख्य फल धर्म है, उसका फल विषयप्राप्ति नहीं हो सकती ॥ ९ ॥

कामस्य नेन्द्रियप्रीतिर्लाभो जीवेत यावता ।
जीवस्य तत्त्वजिज्ञासा नार्थो यश्चेह कर्मभिः ॥१०॥
वदन्ति तत्तत्त्वविदस्तत्त्वं यज्ज्ञानमद्वयम् ।
ब्रह्मेति परमात्मेति भगवानिति शब्द्यते ॥११॥
तच्छ्रद्दधाना मुनयो ज्ञानवैराग्ययुक्तया ।
पश्यन्त्यात्मनि चाऽऽत्मानं भक्त्या श्रुतगृहीतया ॥१२॥
अतः पुम्भिर्द्विजश्रेष्ठा वर्णाश्रमविभागशः ।
स्वनुष्ठितस्य धर्मस्य संसिद्धिर्हरितोषणम् ॥१३॥

विषयभोगका फल इन्द्रियोंकी प्रीति नहीं है, किन्तु शरीरके स्थित रहनेमें उसका तात्पर्य है अर्थात् उतना ही विषयभोग करे जितनेसे जीवन बना रहे और जीवनका फल कर्मानुष्ठान द्वारा स्वर्गादिकी प्राप्ति नहीं है, किन्तु तत्त्वजिज्ञासा ही जीवनका फल है ॥१०॥

[पूर्वपक्ष—धर्मजिज्ञासा ही तत्त्वजिज्ञासा है, समाधान—] तत्त्ववेत्ता तो उसीको तत्त्वज्ञान कहते हैं जो द्वैतरहित ज्ञान है ('अद्वय' शब्दसे क्षणिक विज्ञानवादका खण्डन किया है), उसीको उपनिषद्वेत्ता 'ब्रह्म' शब्दसे कहते हैं, उसीको हिरण्यगर्भकी उपासना करनेवाले 'परमात्मा' कहते हैं और भक्त उसीको 'भगवान्' कहते हैं ॥११॥

[यह प्रतिपादन करते हैं कि वह तत्त्वज्ञान साधनयुक्त भक्तिसे प्राप्त होता है—] श्रद्धालु मुनिगण वेदान्तके श्रवणसे प्राप्त हुए परोक्ष-ज्ञान और वैराग्यसे युक्त भक्तिसे इस परमात्म-तत्त्वको अपनी ही आत्मामें देखते हैं ॥१२॥

[अब धर्मका फल भक्ति है न कि अर्थ, काम आदि ऐसा उपपादन करके इस मतका उपसंहार करते हैं—] हे श्रेष्ठ ब्राह्मणो ! इस कारण मनुष्यों द्वारा अपने अपने वर्ण और आश्रमके अनुसार उत्तम प्रकारसे किये गये धर्मका फल श्रीहरिकी प्रसन्नता ही है ॥१३॥

तस्मादेकेन मनसा भगवान् सात्वतां पतिः ।
श्रोतव्यः कीर्तितव्यश्च ध्येयः पूज्यश्च नित्यदा ॥१४॥
यदनुध्यासिना युक्ताः कर्म ग्रन्थिनिबन्धनम् ।
छिन्दन्ति कोविदास्तस्य को न कुर्यात्कथारतिम् ॥१५॥
शुश्रूषोः श्रद्दधानस्य वासुदेवकथारुचिः ।
स्यान्महत्सेवया विप्राः पुण्यतीर्थनिषेवणात् ॥१६॥
शृण्वतां स्वकथां कृष्णः पुण्यश्रवणकीर्त्तनः ।
हृद्यन्तःस्थो ह्यभद्राणि विधुनोति सुहृत्सताम् ॥१७॥

[भक्तिहीन धर्म श्रममात्र है, अतः भक्तिप्रधान ही धर्मका अनुष्ठान करना उचित है—] इस कारण एकाग्र मनसे भगवान्‌का नित्य श्रवण, मनन, कीर्तन, ध्यान और पूजन करना चाहिये ॥१४॥

[पहले यह प्रतिपादन किया कि भक्तिरहित धर्म परिश्रममात्र है, अब कहते हैं भक्ति मुक्तिको देनेवाली है—] जिन भगवान्‌के ध्यानरूप खड्गसे युक्त होकर विवेकी पुरुष अहङ्काररूप ग्रन्थिके उत्पादक कर्मोंके टुकड़े-टुकड़े कर डालते हैं, उनकी कथाओंमें कौन पुरुष प्रेम नहीं करेगा ? ॥१५॥

[प्रश्न—"यह तो ठीक है कि हरिकथा कर्मोंकी जड़ काट देती है, किन्तु उसमें रुचि किस प्रकार हो ? उत्तर—] हे ब्राह्मणो ! पुण्य तीर्थोंका सेवन करनेसे पापरहित हुए मनुष्योंको महान् पुरुषोंकी सेवा करनेका अवसर प्राप्त होता है, उससे भागवत धर्ममें श्रद्धा होती है, उससे श्रवण करनेकी इच्छा होती है और उससे लोगोंकी भगवान्‌की कथा सुननेमें रुचि होती है; ॥१६॥

तदनन्तर जिनका श्रवण और कीर्तन पुण्यमय है, भक्तोंके हितकारी वे श्रीकृष्ण अपनी कथा सुननेवालोंके हृदयमें स्थित होकर उनकी कामादि वासनाओंका नाश कर देते हैं ॥१७॥

नष्टप्रायेष्वभद्रेषु नित्यं भागवतसेवया ।
भगवत्युत्तमश्लोके भक्तिर्भवति नैष्ठिकी ॥१८॥
तदा रजस्तमोभावाः कामलोभादयश्च ये ।
चेत एतैरनाविद्धं स्थितं सत्त्वे प्रसीदति ॥१९॥
एवं प्रसन्नमनसो भगवद्भक्तियोगतः ।
भगवत्तत्त्वविज्ञानं मुक्तसङ्गस्य जायते ॥२०॥
भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः ।
क्षीयन्ते चाऽस्य कर्माणि दृष्ट एवाऽऽत्मनीश्वरे ॥२१॥
अतो वै कवयो नित्यं भक्तिं परमया मुदा ।
वासुदेवे भगवति कुर्वन्त्यात्मप्रसादनीम् ॥२२॥

फिर नित्य भागवत शास्त्रोंका सेवन करनेसे पापोंके नष्ट हो जानेपर भक्तोंकी निश्चल भक्ति उत्तम कीर्त्तिवाले भगवान्‌में हो जाती है ।। १८ ।।

भक्तिका प्रादुर्भाव होनेपर रज, तम और उनसे उत्पन्न होनेवाले काम, लोभ आदि विकारोंसे रहित चित्त सत्त्वगुणमें अथवा सत्त्वमूर्ति भगवान्‌में स्थिर होकर शान्तिको प्राप्त होता है ।। १९ ।।

इस प्रकार भक्तियोगसे प्रसन्नचित्त हो जानेपर सब विषयोंसे सम्बन्ध-रहित पुरुषको आत्मसाक्षात्कारका अनुभव हो जाता है ।।२०।।

[ज्ञानका फल कहते हैं—] ईश्वरका साक्षात्कार होते ही हृदयकी चित्-जड़ग्रन्थि अर्थात् अहङ्कार नष्ट हो जाता है, सम्पूर्ण संशय दूर हो जाते हैं और फलोन्मुख न हुए अर्थात् सञ्चित कर्म क्षीण हो जाते हैं❀ ।।२१।।

[सदाचारको दिखलाते हुए उपसंहार करते हैं—] इसी कारण त्रिकालदर्शी पुरुष नित्य बड़े प्रेमके साथ मनको शुद्ध करनेवाली भगवान् वासुदेवकी भक्ति करते हैं ।।२२।।

❀ यथा श्रुतिः—मुण्डक २।२।८ ।

दसवाँ अध्याय

शोक और मोहके नाशके उपाय

पहला प्रकरण

युधिष्ठिर-नारद-संवाद

महाभारतके युद्धमें पाण्डवोंने धृतराष्ट्रके सौ पुत्रोंका वध किया। इसके बाद धृतराष्ट्र पाण्डवोंके घरमें रहने लगा। एक समय विदुरजीने धृतराष्ट्रसे कहा—''अहो ! जीवके जीनेकी आशा बड़ी बलवती होती है। जिससे आप पाण्डवोंके दिये हुए अन्नको कुत्तेकी भाँति खाते हो, ऐसे जीवित रहनेसे क्या फल ? देह छोड़नेकी इच्छा न करते हुए भी आपका शरीर वृद्धावस्थासे जीर्ण होनेपर वस्त्रके समान शीर्ण हो गया है। जो पुरुष मरनेके पहले अपने विचारसे या दूसरेके उपदेशसे इस लोकमें वैराग्ययुक्त या आत्मज्ञानी होकर हृदयमें श्रीहरिका ध्यान रखता हुआ घरसे चला जाय अर्थात् संन्यास धारण कर ले, वही पुरुषोंमें श्रेष्ठ है।'

यह सुनकर धृतराष्ट्रको वैराग्य हो गया। स्नेहपाशोंको तोड़कर वह अपनी धर्मपत्नी गान्धारी तथा विदुरके साथ गुप्त रीतिसे घरसे निकल कर चला गया। पाण्डुपुत्र युधिष्ठिर अपने चाचाके जानेका हाल सुनकर शोकसे व्याकुल हो विलाप करने लगे। इस प्रकार कुछ समय तक युधिष्ठिरजीके शोक करनेपर नारदजी वहाँ आ गये। उनको

अथाऽऽबभाषे भगवान्नारदो मुनिसत्तमः ।
मा कञ्चन शुचो राजन् यदीश्वरवशं जगत्※ ॥४१॥
लोकाः सपाला यस्येमे वहन्ति बलिमीशितुः ।
स संयुनक्ति भूतानि स एव वियुनक्ति च ॥४२॥
यथा गावो नसि प्रोतास्तन्त्यां बद्धाः स्वदामभिः ।
वाक्तन्त्यां नामभिर्बद्धा वहन्ति बलिमीशितुः ॥४३॥
यथा क्रीडोपस्कराणां संयोगविगमाविह ।
इच्छया क्रीडितुः स्यातां तथैवेशेच्छया नृणाम् ॥४४॥

देखकर युधिष्ठिरने प्रत्युत्थान आदि क्रियाओंसे उनका सत्कार कर कहा—"हे भगवन् ! मैं नहीं जानता मेरे पितृव्य धृतराष्ट्र और विदुर कहाँ चले गये ?"

युधिष्ठिरको शोक और मोहसे व्याकुल देखकर नारदजी बोले—

हे राजन्, तुम धृतराष्ट्र आदि किसी सम्बन्धीके लिए शोक मत करो, क्योंकि यह जगत् ईश्वरके वशमें है ॥४१॥

लोकपालों सहित सम्पूर्ण लोक जिस परमेश्वरकी आज्ञाका सादर पालन करते हैं, वही सब प्राणियोंके संयोग और वियोगका कर्ता है ॥४२॥

जैसे नथे हुए और अपनी अपनी पृथक् पृथक् रस्सियोंसे बड़े मोटे रस्सेमें बँधे हुए बैल अपने स्वामीकी आज्ञाका पालन करते हैं वैसे ही कर्तव्य और अकर्तव्यका विधान करनेवाली वेदवाणीरूप बड़े रस्सेमें ब्राह्मणादि वर्ण, ब्रह्मचर्य आदि आश्रमोंसे बँधे हुए सब मनुष्य अपने-अपने अधिकारके अनुसार कार्य करते हुए परमेश्वरकी आज्ञाका पालन करते हैं ॥४३॥

प्रवृत्तिमें परतन्त्रता कहकर संयोग और वियोगमें भी परतन्त्रता दिख-

---

※ देखिये भा० १।१३।४१ ।

यन्मन्यसे ध्रुवं लोकमध्रुवं वा न चोभयम् ।
सर्वथा हि न शोच्यास्ते स्नेहादन्यत्र मोहजात् ॥४५॥
तस्माज्जह्यङ्ग वैक्लव्यमज्ञानकृतमात्मनः ।
कथं त्वनाथाः कृपणा वर्तेरंस्ते नु मां विना ॥४६॥
कालकर्मगुणाधीनो देहोऽयं पाञ्चभौतिकः ।
कथमन्यांस्तु गोपायेत् सर्पग्रस्तो यथा परम् ॥४७॥

लाते हैं—जैसे खेल खेलनेवालेकी इच्छाके अनुसार खेलकी सामग्रीके (यथा शतरञ्जकी गुट्टियोंके) संयोग-वियोग होते हैं, वैसे ही ईश्वरकी इच्छासे मनुष्योंके संयोग–वियोग होते हैं ॥४४॥

[पिछले श्लोकमें यह प्रतिपादन किया कि ईश्वरके अधीन होनेके कारण जीवको शोक नहीं करना चाहिये, अब यह कहते हैं कि लोकतत्त्वका विचार करनेपर भी शोक निर्विषय है—] यदि तुम मनुष्योंको जीव-रूपसे नित्य या देहरूपसे अनित्य मानते हो, अथवा ब्रह्मरूप और अनिर्वचनीयरूप होनेके कारण नित्य और अनित्य इन दोनों प्रकारोंसे भिन्न मानते हो, अथवा जीवके चेतन और देहके जड़ होनेसे नित्य और अनित्य दोनों मानते हो, तो भी इन चारों पक्षोंमें अज्ञानसे उत्पन्न हुए स्नेहके सिवा धृतराष्ट्र आदिके लिए शोक करनेका कोई कारण नहीं है, अर्थात् शोकमें स्नेह ही कारण है, और वह अज्ञानजन्य होनेके कारण हेय है ॥४५॥

हे राजन् ! इसलिये अनाथ बेचारे धृतराष्ट्र आदि मेरे बिना कैसे जीवन-निर्वाह करते होंगे ? ऐसी अज्ञानसे उत्पन्न हुई मनकी व्याकुलता छोड़ दो ॥४६॥

तुम अपने शरीरको उनकी रक्षा करनेवाला मत समझो, क्योंकि यह पाँच भूतोंसे बना हुआ शरीर काल, कर्म और सत्त्वादि गुणोंके

अहस्तानि सहस्तानामपदानि चतुष्पदाम् ।
फल्गूनि तत्र महतां जीवो जीवस्य जीवनम् ॥४८॥
तदिदं भगवान् राजन्नेक आत्माऽऽत्मनां स्वदृक् ।
अन्तरोऽनन्तरो भाति पश्य तं माययोरुधा ॥४९॥
सोऽयमद्य महाराज भगवान् भूतभावनः ।
कालरूपोऽवतीर्णोऽस्यामभवाय सुरद्विषाम् ॥५०॥

अधीन है। अतएव जैसे सर्पसे डसा गया पुरुष दूसरेकी रक्षा नहीं कर सकता वैसे ही यह शरीर भी दूसरोंकी रक्षा कैसे कर सकता है ॥४७॥

[अब यह कहते हैं कि सबकी जीविका ईश्वर ही चलाता है—] हस्तरहित पशु आदि हाथवालोंके, पाँव-रहित तृणादि चार पाँवों-वालोंके और हाथ-पाँव-रहित जीवोंमें भी क्षुद्र जीव बड़े जीवोंके भक्ष्य होते हैं। इसी प्रकार सभी जीव जीवोंकी जीविका हैं। भाव यह है कि सभी मृत्युके ग्रास हैं ॥४८॥

[अब मोहकी निवृत्तिके लिये द्वैतकी असत्यताका प्रतिपादन करते हैं—] हे राजन् ! यह सम्पूर्ण जगत् स्वप्रकाश भगवान्का ही स्वरूप है, उससे अतिरिक्त नहीं है, और एक ही वह सम्पूर्ण जीवोंका आत्मा है, इस कारण सजातीय भेदरहित है तथा वही भगवान् सब जीवोंके भीतर भोक्तारूपसे और बाहर भोग्यरूपसे प्रकाशित होता है, इस कारण विजातीय भेदरहित है। उसी एकको मायासे नाना रूपवाला समझो ॥ ४९ ॥

हे महाराज ! सम्पूर्ण प्राणियोंका पालक और दुष्टोंके लिये कालरूप वही भगवान् श्रीकृष्ण दुष्ट राक्षसोंका नाश करनेके लिये इस समय पृथ्वीपर अवतीर्ण हुआ है ॥५०॥

निष्पादितं देवकृत्यमवशेषं प्रतीक्षते ।
तावद्यूयमवेक्षध्वं भवेद्यावदिहेश्वरः ॥५१॥

[नारदजी युधिष्ठिरको रहस्य समझाते हैं भगवान् श्रीकृष्ण यहाँ हैं यह समझकर इस लोकमें आदरबुद्धि मत करो ।] भगवान्‌ने देवताओंका कार्य बहुत कुछ कर लिया है और अब थोड़ा-सा कार्य शेष है, अतः जबतक भगवान् इस भूलोकमें हैं, तबतक यहाँ रहनेका विचार करो [भाव यह है कि अवशिष्ट कार्य पूर्ण कर भगवान् अपने लोकको चले जावेंगे तब आप लोग चले जाओ ॥५१॥

दूसरा प्रकरण

(२) *श्रीबलरामजीका रुक्मिणीके लिये उपदेश*

भीष्मक विदर्भ देशका राजा था। उसकी कन्या रुक्मिणीने अपने घर आये हुए मनुष्योंसे भगवान् श्रीकृष्णके सौन्दर्य, बल, वैभव आदि और अन्यान्य उच्च गुण सुनकर उनको अपने योग्य पति माना। रुक्मीने अपनी बहिन रुक्मिणीको शिशुपालके लिये उपयुक्त समझा। रुक्मिणीने श्रीकृष्णको बुलानेके लिये पत्रके साथ एक ब्राह्मण उनके पास भेजा। भगवान् श्रीकृष्ण वहाँ आकर शिशुपालके पक्षके जरासन्धादि राजाओंकी सेनाको अपने बलसे नष्ट-भ्रष्ट करके रुक्मिणीको हर ले गये। उसका भाई रुक्मी सेनाके साथ भगवान्‌के पीछे दौड़ा। भगवान्‌ने उसकी सेनाका नाश करके उसको पकड़ लिया और कपड़ेसे बाँधकर उसके मोंछ और सिरके बालोंको काट काटकर उसे कुरूप कर दिया। अपने भाईकी दुर्दशाको देखती हुई रुक्मिणीको शोकाकुल देखकर बलरामजीने मृतप्राय रुक्मीको बन्धनसे मुक्त कर दिया और रुक्मिणीको समझानेके लिये ये वचन कहे—

तवेयं विषमा बुद्धिः सर्वभूतेषु दुर्हृदाम्।
यन्मन्यसे सदाऽभद्रं सुहृदां भद्रमज्ञवत्॥४२॥
आत्ममोहो नृणामेष कल्प्यते देवमायया।
सुहृद्दुर्हृदुदासीन इति देहात्ममानिनाम्॥४३॥

अनजान मनुष्यके समान तेरी बुद्धिमें यह विषमता है कि तू प्राणियोंके शत्रुओं (दुःख देनेवालों) का अमङ्गल चाहती है और उनमें से अपने भाईका कल्याण चाहती है॥४२॥

देहको आत्मा माननेवाले मनुष्योंकी बुद्धिमें शत्रु, मित्र और

॥ भा० १०।५४।४२ इत्यादि।

एक एव परो ह्यात्मा सर्वेषामपि देहिनाम् ।
नानेव गृह्यते मूढैर्यथा ज्योतिर्यथा नभः ॥४४॥
देह आद्यन्तवानेष द्रव्यप्राणगुणात्मकः ।
आत्मन्यविद्यया क्लृप्तः संसारयति देहिनम् ॥४५॥
नाऽऽत्मनोऽन्येन संयोगो वियोगश्चाऽसतः सति ।
तद्धेतुत्वात्तत्प्रसिद्धेर्दृग्रूपाभ्यां यथा रवेः ॥४६॥

उदासीन इस प्रकारका मोह इस विषमताका कारण है और वह ईश्वर-की मायासे कल्पित है ॥४३॥

[परमार्थ वस्तुका प्रतिपादन करते हैं—] सब प्राणियोंका आत्मा एक ही है और वह देहसे भिन्न है । जैसे मूर्ख पुरुषोंसे जल-पात्रोंके भेदसे प्रतिबिम्बित चन्द्रमें भेदव्यवहार होता है और घट, मठ आदिके भेदसे आकाश भिन्नरूपसे व्यवहृत होता है वैसे ही वे आत्माको नाना प्रकारका (शत्रु, मित्रादि रूप) मानते हैं ॥४४॥

[प्रश्न—यह क्यों नहीं प्रतीत होता कि चन्द्रमाके समान आत्मा एक है ? समाधान—] उत्पत्तिनाशशील अधिभूत, अध्यात्म और अधिदैव रूप देह अज्ञानसे आत्मामें कल्पित है और यही देहके स्वामी (जीव) को संसारमें डालता है । [भाव यह है देहरूप उपाधिसे शुद्ध आत्माकी प्रतीति नहीं होती है ।] ॥४५॥

हे पतिव्रते ! देहादिसे आत्माका संयोग न होनेसे वियोग भी नहीं है, क्योंकि देह आदिकी आत्मासे अतिरिक्तरूपसे सत्ता ही नहीं है । जैसे चक्षु और रूपका जनक और प्रकाशक सूर्य है वैसे ही देह आदिकी उत्पत्ति और प्रकाशका कारण आत्मा है । [भाव यह है कि देह और इन्द्रिय आपसमें प्रकाश्य और प्रकाशक हैं तथापि इन दोनोंका प्रकाशन आत्मचैतन्यके अधीन है ।] ॥४६॥

जन्मादयस्तु देहस्य विक्रिया नाऽऽत्मनः क्वचित् ।
कलानामिव नैवेन्दोर्मृतिर्ह्यस्य कुहूरिव ॥४७॥
यथा शयान आत्मानं विषयान्फलमेव च ।
अनुभुङ्क्तेऽप्यसत्यर्थे तथाऽऽप्नोत्यबुधो भवम् ॥४८॥
तस्मादज्ञानजं शोकमात्मशोषविमोहनम् ।
तत्त्वज्ञानेन निर्हृत्य स्वस्था भव शुचिस्मिते ॥४९॥

चन्द्रमाकी कलाओंका क्षय होता है, किन्तु जल-गोलक-रूप चन्द्रमा ज्योंका त्यों रहता है (जैसे कलाओंकी क्षयरूपी अमावास्या चन्द्रमाका क्षय कही जाती है अर्थात् जैसे कलाओंकी क्षीणता और वृद्धिसे चन्द्रमामें क्षय-वृद्धिका व्यवहार होता है वैसे ही जन्म आदि विकार देहके होते हैं आत्माके जन्म और क्षय आदि विकार कभी नहीं होते, किन्तु देहके जन्म और नाशसे आत्माके जन्म और नाशका व्यवहार किया जाता है ॥४७॥

[शङ्का—आत्माका देहादिके साथ सम्बन्ध न होनेपर भोक्ता और भोग्यवस्तुकी प्रतीति किस प्रकार होगी ? समाधान—] देह आदिके साथ सम्बन्ध न होनेपर भी जैसे सोया हुआ पुरुष अपना (अर्थात् देहधारी भोक्ताका), शब्दादि विषयोंका (भोग्योंका) और उनके फलका (तृप्ति आदिका) अनुभव करता है, वैसे ही अज्ञानी पुरुष संसारका अनुभव करता है ॥४८॥

हे प्रसन्नमुखवाली ! शोकादिका मूल केवल अज्ञानको–जो अन्तःकरणको सुखानेवाला तथा मोह उत्पन्न करनेवाला है—तत्त्वज्ञान से दूर करके स्वस्थचित्त होओ* ॥४९॥

---

* अर्जुनके शोक-मोहको दूर करनेके लिये भगवद्गीतामें भी तत्त्वज्ञानका उपदेश दिया गया है ।

ग्यारहवाँ अध्याय

बन्धन और उसकी निवृत्ति

पहला प्रकरण

मैत्रेय-विदुर-संवाद

विदुरजीने गंगाद्वारमें रहनेवाले बड़े ज्ञानी मैत्रेय ऋषिके पास जाकर पूछा—यदि सब शरीरधारियोंमें एक ही भगवान् विराजमान हैं, तो क्यों जीव आनन्दादिसे भ्रष्ट हो जाते हैं? और क्यों कर्मोंके द्वारा क्लेश पाते हैं ? यदि कारणके बिना ही ऐसा होता है, तो क्यों ईश्वरको दुःख आदिका सम्बन्ध नहीं होता ? ऐसा पूछनेपर—

मैत्रेय उवाच❀

सेयं भगवतो माया यन्नयेन विरुध्यते ।
ईश्वरस्य विमुक्तस्य कार्पण्यमुतबन्धनम् ॥१॥

मैत्रेय मुनि बोले—

ईश्वरमें दीनता कैसे और नित्य मुक्तका बन्धन कैसे ? इत्यादि तर्कसे जो विरुद्ध भाव प्रतीत होता है वह अचिन्त्य शक्ति ईश्वरकी माया है अर्थात् यद्यपि जीव वास्तवमें मुक्त है, तर्कसे उसमें दीनता और बन्धन सर्वथा विरुद्ध हैं तथापि ईश्वरकी मायासे उसमें दैन्य और बन्धन प्रतीत होते हैं ॥१॥

❀ भा० ३-७-९ इत्यादि ।

यदर्थेन विनाऽमुष्य पुंस आत्मविपर्ययः ।
प्रतीयत उपद्रष्टुः स्वशिरश्छेदनादिकः ॥१०॥
यथा जले चन्द्रमसः कम्पादिस्तत्कृतो गुणः ।
दृश्यतेऽसन्नपि द्रष्टुरात्मनोऽनात्मनो गुणः ॥११॥
स वै निवृत्तिधर्मेण वासुदेवानुकम्पया ।
भगवद्भक्तियोगेन तिरोधत्ते शनैरिह ॥१२॥
यदेन्द्रियोपरामोऽथ द्रष्ट्रात्मनि परे हरौ ।
विलीयन्ते तदा क्लेशाः संसुप्तस्येव कृत्स्नशः ॥१३॥

जैसे सिर कटनेके विना भी स्वप्न देखनेवाले पुरुषको 'मेरा सिर कट गया' इत्यादि विरुद्ध ज्ञान केवल भ्रममात्र ही है वैसे ही जीवको भी अन्तःकरणगत, देहगत और इन्द्रियगत सुख-दुःख आदि धर्म अपनेमें प्रतीत होते हैं, यह भ्रम ही है ॥१०॥

जैसे जलमें प्रतिबिम्बित चन्द्रमामें ही जलरूप उपाधिसे कंप आदि धर्म दिखाई देते हैं, आकाशमें स्थित बिम्बभूत चन्द्रमामें कम्प आदि धर्म नहीं हैं; वैसे ही देह, इन्द्रिय आदिके सुख-दुःख आदि धर्म आत्मामें न होनेपर भी देहाभिमानी जीवमें दिखाई देते हैं। परमात्मामें उनका कोई सम्बन्ध नहीं है ॥११॥

[अब दो श्लोकोंसे इस अनर्थकी निवृत्तिका उपाय कहते हैं—]
इस लोकके सम्पूर्ण संगोंका त्याग करनेसे हुई भगवान् वासुदेवकी कृपासे प्राप्त भक्तिसे आत्मामें अनात्मबुद्धि धीरे-धीरे नष्ट हो जाती है ॥ १२ ॥

जब मनुष्यकी इन्द्रियाँ अन्तर्यामी श्रीहरिमें लीन हो जाती हैं तब जैसे सोये हुए पुरुषके सब क्लेश दूर हो जाते हैं वैसे ही जीवके सब क्लेश नष्ट हो जाते हैं ॥१३॥

अशेषसंक्लेशशमं विधत्ते
गुणानुवादश्रवणं मुरारेः ।
कुतः पुनस्तच्चरणारविन्द-
परागसेवारतिरात्मलब्धा ॥१४॥

[भक्तियोगसे क्लेशोंकी निवृत्ति दिखाते हैं—] भगवान् मुरारिके गुणोंका श्रवण और कीर्तन सम्पूर्ण क्लेशोंका नाश करता है फिर मनमें प्राप्त हुई भगवान्‌के चरणकमलोंके परागकी सेवा करनेकी प्रीति सम्पूर्ण क्लेशोंका नाश करती है, इसमें कहना ही क्या है ? ॥१४॥
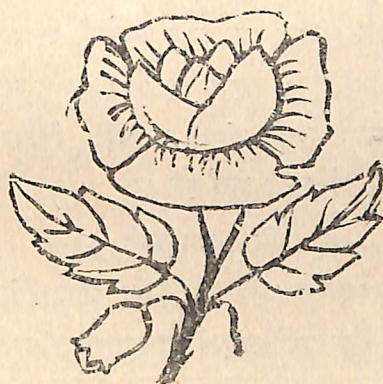
बारहवाँ अध्याय

कपिलजी द्वारा वर्णित सांख्यशास्त्र

अपने पिता कर्दम ऋषिके संन्यास लेनेके अनन्तर भगवान् कपिल बिन्दुसरोवरके तटपर रहते थे। एक समय उनकी माता देवहूतिने पूछा—हे देव ! तुम मेरे मोहको, जिससे इस देहमें "मैं" और "मेरा" अभिमान होता है, दूर करनेमें समर्थ हो, अतः इस अज्ञान-को दूर करो। मोक्षमें पुरुषोंकी रुचि उत्पन्न करानेवाली अपनी माताकी अभिलाषा सुनकर कपिलजीने भक्तितत्त्व तथा अष्टाङ्गयोगका प्रतिपादन किया, जिनका शुद्ध आचरण करनेसे जीव इसी देहमें अपनी आत्माको प्राप्त कर लेता है। इसीको अब प्रकट करते हैं। भक्ति-तत्त्वका निरूपण भागवत-स्तुति-संग्रह ग्रन्थमें किया गया है और अष्टाङ्गयोग गुरुमुखसे सीखना चाहिये।

[कपिल उवाच*]

वासुदेवे भगवति भक्तियोगः प्रयोजितः।
जनयत्याशु वैराग्यं ज्ञानं यद्ब्रह्मदर्शनम् ॥२३॥

[कपिलजी बोले—]

[भजनसे ज्ञान और वैराग्य स्वतः प्राप्त होते हैं—] निरन्तर भक्ति करनेपर भगवान् वासुदेव सब विषयोंमें वैराग्य और ब्रह्मसाक्षा-त्कार करा देनेवाला ज्ञान शीघ्र उत्पन्न कर देते हैं ॥२३॥

---

* भा० ३-३२-२३ इत्यादि।

यदाऽस्य चित्तमर्थेषु समेष्विन्द्रियवृत्तिभिः ।
न विगृह्णाति वैषम्यं प्रियमप्रियमित्युत ॥२४॥
स तदैवाऽऽत्मनाऽऽत्मानं निःसङ्गं समदर्शनम् ।
हेयोपादेयरहितमारूढं पदमीक्षते ॥२५॥
ज्ञानमात्रं परब्रह्म परमात्मेश्वरः पुमान् ।
दृश्यादिभिः पृथग्भावैर्भगवानेक ईयते ॥२६॥
एतावानेव योगेन समग्रेणेह योगिनः ।
युज्यतेऽभिमतो ह्यर्थो यदसङ्गस्तु कृत्स्नशः ॥२७॥

[इसीका प्रतिपादन दो श्लोकोंमें कहते हैं—] जब इस भक्तका चित्त भगवद्गुणोंमें प्रेम होनेसे निश्चल और भगवदाकार होकर इन्द्रियोंकी वृत्ति द्वारा शब्द, स्पर्श आदि सम्पूर्ण विषयोंमें यह प्रिय है और यह अप्रिय है, यों विषमदृष्टिका ग्रहण नहीं करता है; ॥२४॥

उसी समय वह भक्त अपने विशुद्ध चित्तसे निस्सङ्ग, स्वप्रकाश, त्याग या ग्रहण करनेके अयोग्य आत्मपदमें आरूढ़ हो जाता है अर्थात् यह निश्चय कर लेता है कि मैं ही परमानन्दस्वरूप हूँ ॥२५॥

ज्ञानमात्र एक ही पदार्थ है; वही द्रष्टा, दृश्य, करण आदि नाना-रूपसे सभी पदार्थोंमें प्रतीत होता है और वही उपनिषदोंमें 'परब्रह्म', योगशास्त्रमें 'सबका नियन्ता परमात्मा', सांख्यशास्त्रमें 'पुरुष' और भक्तिशास्त्रमें 'भगवान्' कहा जाता है ॥२६॥

[शङ्का—आत्मा ज्ञानस्वरूप होनेसे नित्यप्राप्त है, ऐसी परि-स्थितिमें अनेक प्रकारके योगके साधनोंसे किसका लाभ होता है ? समाधान—] सम्पूर्ण योगसाधनोंसे योगियोंको यही इष्ट फल प्राप्त होता है कि सम्पूर्ण विषयोंमें वैराग्य हो जाय अर्थात् प्रपञ्चसे वैराग्य होना ही योगका फल है ॥२७॥

ज्ञानमेकं पराचीनैरिन्द्रियैर्ब्रह्म निर्गुणम् ।
अवभात्यर्थरूपेण भ्रान्त्या शब्दादिधर्मिणा ॥२८॥
यथा महानहंरूपस्त्रिवृत्पञ्चविधः स्वराट् ।
एकादशविधस्तस्य वपुरण्डं जगद्यतः ॥२९॥
एतद्वै श्रद्धया भक्त्या योगाभ्यासेन नित्यशः ।
समाहितात्मा निःसङ्गो विरक्त्या परिपश्यति ॥३०॥

[शङ्का—प्रत्यक्षादि प्रमाणोंसे प्रतीत होनेवाले प्रपञ्चका किस प्रकार निराकरण हो सकता है ? समाधान—] बहिर्मुख इन्द्रियों द्वारा भ्रान्तिवश एक ज्ञानस्वरूप निर्गुण ब्रह्म ही शब्दादि धर्मवाले घट-पटादिरूपसे प्रतीत होता है; पृथक् घट, पट आदि पदार्थ हैं ही नहीं । 'घट, पट' यह प्रतीति केवल भ्रम है । उसमें भेददर्शनपूर्वक 'अहं, मम' ऐसी आसक्ति ही बन्धन है । इस कारण मनुष्यको इस भ्रान्तिको दूर करनेका प्रयत्न करना चाहिये ॥२८॥

[अट्ठाईसवें श्लोकमें जो (अर्थरूप) अर्थात् घट, पटादिरूप कहा उसीको उदाहरणसे दिखलाते हैं—] जैसे एक महत्तत्त्व ही अहङ्काररूप है और सत्त्व, रज, तम भेदसे तीन प्रकारका हुआ वह महाभूतरूपसे पाँच प्रकारका और इन्द्रियादिरूपसे ग्यारह प्रकारका समष्टि ब्रह्माण्डका शरीर है और उसीसे यह व्यष्टि जगत् होता है अर्थात् यों जैसे महदादिरूपसे ब्रह्म ही प्रतीत होता है, वैसे ही एक ज्ञान अनेक पदार्थोंके रूपसे भासता है ॥२९॥

मुनि श्रद्धा, भक्ति, वैराग्य और नित्य योगाभ्याससे अन्तःकरणको एकाग्र करके और आसक्तिका त्याग करके सब दृश्यको ब्रह्मरूप देखते हैं ॥३०॥

इत्येतत् कथितं गुर्वि ज्ञानं तद् ब्रह्मदर्शनम् ।
येनाऽनुबुध्यते तत्त्वं प्रकृतेः पुरुषस्य च ॥३१॥
ज्ञानयोगश्च मन्निष्ठो नैर्गुण्यो भक्तिलक्षणः ।
द्वयोरप्येक एवाऽर्थो भगवच्छब्दलक्षणः ॥३२॥
यथेन्द्रियैः पृथग्द्वारैरर्थो बहुगुणाश्रयः ।
एको नानेयते तद्वद्भगवाञ्छास्त्रवर्त्मभिः ॥३३॥
क्रियया क्रतुभिर्दानैस्तपःस्वाध्यायमर्शनैः ।
आत्मेन्द्रियजयेनाऽपि संन्यासेन च कर्मणाम् ॥३४॥

हे पूज्ये ! जिससे प्रकृति और पुरुषका यथार्थ स्वरूप जाना जाता है, वही ब्रह्म-साक्षात्कार करानेवाला ज्ञान मैंने तुमसे कहा ।।३१।।

निर्गुणविषयक ज्ञानयोग तथा मत्परायण भक्तियोगका भगवत्प्राप्तिरूप एक ही प्रयोजन है (यथा—'ते प्राप्नुवन्ति मामेव सर्वभूतहिते रताः ।' गी० १२-४) ।।३२।।

[जब ज्ञानयोगका फल आत्मलाभ है और भक्तियोगसे केवल भजनीय ईश्वरप्राप्ति होती है तब यह कैसे कहा कि इन दोनोंका एक ही प्रयोजन है ? इस शङ्काका दृष्टान्तसे समाधान करते हैं—] जैसे रूप, रस आदि बहुत गुणोंका आश्रय एक ही मिश्री आदि पदार्थ भिन्न भिन्न इन्द्रियोंसे नाना प्रकारका (जैसे चक्षुसे श्वेत, रसनासे मीठा, घ्राणसे सुगन्धित और स्पर्शसे शीतल) प्रतीत होता है वैसे ही भगवान् शास्त्रोंके भिन्न-भिन्न मार्गोंसे नाना प्रकारके प्रतीत होते हैं अर्थात् ज्ञानमार्गसे निर्गुण, भक्तिमार्गसे सगुण प्रतीत होते हैं ।।३३।।

[अब तीन श्लोकोंसे शास्त्रोंके मार्गोंको बतलाते हैं—] पूर्त (कूप, तालाब आदि बनाना) यज्ञ, दान, कृच्छ्रादि तप, वेदाध्ययन, वेदान्त-विचार, मन और इन्द्रियोंका जीतना, निषिद्ध कर्म न करनारूप सब कर्मोंका संन्यास अथवा निष्काम कर्म; ।।३४।।

योगेन विविधाङ्गेन भक्तियोगेन चैव हि ।
धर्मेणोभयचिह्नेन यः प्रवृत्तिनिवृत्तिमान् ॥३५॥
आत्मतत्त्वावबोधेन वैराग्येण दृढेन च ।
ईयते भगवानेभिः सगुणो निर्गुणः स्वदृक् ॥३६॥

विविध प्रकारका योग—अष्टाङ्गयोग, भक्तियोग, प्रवृत्ति और निवृत्तिरूप (सकाम, निष्काम) दो प्रकारका धर्म, ॥३५॥

आत्मज्ञान और स्थिर वैराग्य—इन साधनोंसे सगुण अथवा निर्गुण स्वप्रकाश भगवान् अपने अधिकारके अनुसार प्राप्त होते हैं ॥३६॥

तेरहवाँ अध्याय

तत्त्वज्ञानका उपदेश

ध्रुव और मनुका संवाद

उत्तानपादके पुत्र ध्रुवके भ्राता उत्तमको किसी यक्षने हिमालय पर्वतपर मार दिया था। भाईका वध सुनकर क्रोध, असहनशीलता और शोकसे भरे हुए ध्रुवने यक्षोंकी अलकापुरीपर चढ़ाई कर दी। यक्षोंके साथ उसका घोर युद्ध हुआ। उसने अगणित यक्ष मार डाले फिर भी उसका क्रोध शान्त न हुआ। तदनन्तर उसने धनुषपर नारायणास्त्रका सन्धान किया।

अपने पौत्र ध्रुव द्वारा यक्षोंका संहार देखकर उसके दादा मनुको दया आ गयी, वे ऋषियों सहित वहाँ जाकर ध्रुवजीसे कहने लगे—

मनुरुवाच❀

अलं वत्साऽतिरोषेण तमोद्वारेण पाप्मना।
येन पुण्यजनानेतानवधीस्त्वमनागसः ॥७॥

बेटा! जिस पापजनक अतएव नरकमें ले जानेवाले क्रोधसे तुमने इन निरपराध पुण्यजनों (यक्षों) को मारा है, अब उसको शान्त करो ॥७॥

❀ भा० ४-११-७ इत्यादि।

नाऽस्मत्कुलोचितं तात कर्मैतत्सद्भिर्गर्हितम् ।
वधो यदुपदेवानामारब्धस्तेऽकृतैनसाम् ॥८॥
नन्वेकस्याऽपराधेन प्रसङ्गाद् बहवो हताः ।
भ्रातुर्वधाभितप्तेन त्वयाऽङ्ग भ्रातृवत्सल ॥९॥
नाऽयं मार्गो हि साधूनां हृषीकेशानुवर्तिनाम् ।
यदात्मानं पराग्गृह्य पशुवद्भूतवैशसम् ॥१०॥
सर्वभूतात्मभावेन भूतावासं हरिं भवान् ।
आराध्याऽऽप दुराराध्यं विष्णोस्तत्परमं पदम् ॥११॥
स त्वं हरेरनुध्यातस्तत्पुंसामपि संमतः ।
कथं त्ववद्यं कृतवाननुशिक्षन्सतां व्रतम् ॥१२॥

हे तात ! जो तुमने निरपराध इन उपदेवताओंका वध आरम्भ किया है, यह सत्पुरुषों द्वारा निन्दित कर्म हमारे कुलके योग्य नहीं है ॥८॥

हे भ्रातृप्रिय ! तुमने भाईके वधसे दुःखित होकर एक व्यक्तिके अपराधके कारण अनेकों यक्षोंका वध किया है ॥९॥

[अपराध होनेपर भी ऐसा करना तुम्हारे लिये उचित नहीं है—] जैसे पशु इस देहको आत्मा मानकर परस्पर एक दूसरेका वध करते हैं वैसे ही देहको आत्मा मानकर प्राणीमात्रकी हिंसा करना हृषीकेश भगवान्के अनुयायियोंको शोभा नहीं देता ॥१०॥

सब भूतोंके आधार, दुराराध्य, (जिनकी आराधना करना कठिन है) श्रीहरिकी आत्मभावसे आराधना करके तुमने विष्णु-भगवान्का वह सर्वोत्तम स्थान पाया है ॥११॥

बाल्यावस्थामें भी अपने उत्तम आचरणसे तुम भगवान्के स्नेह-भाजन हुए हो और भगवद्भक्तोंमें साधुताके कारण ही तुम्हारा बड़ा सम्मान है; देवर्षि नारदजीसे सज्जनोंके व्रतकी शिक्षा पाकर भी तुमने यह निन्दित कर्म कैसे किया ? ॥१२॥

तितिक्षया करुणया मैत्र्या चाऽखिलजन्तुषु ।
समत्वेन च सर्वात्मा भगवान् संप्रसीदति ॥१३॥
संप्रसन्ने भगवति पुरुषः प्राकृतैर्गुणैः ।
विमुक्तो जीवनिर्मुक्तो ब्रह्मनिर्वाणमृच्छति ॥१४॥
भूतैः पञ्चभिरारब्धैर्योषित्पुरुष एव हि ।
तयोर्व्यवायात्संभूतिर्योषित्पुरुषयोरिह ॥१५॥
एवं प्रवर्तते सर्गः स्थितिः संयम एव च ।
गुणव्यतिकराद्राजन्मायया परमात्मनः ॥१६॥

[अब साधुओंकी चर्याको ही कहते हैं—] अपनेसे बड़ोंके प्रति सहनशील होने, अपनेसे न्यून पुरुषोंपर दया करने, समान पुरुषोंके साथ मित्रता और सम्पूर्ण प्राणियोंको एक समान देखनेसे सर्वात्मा भगवान् प्रसन्न होते हैं ॥१३॥

[अब यह कहते हैं कि भगवान्‌के प्रसन्न होनेसे पुरुष कृतार्थ हो जाता है—] भगवान्‌के प्रसन्न होनेपर प्राणीमात्र सत्त्व, रज, तम आदि प्रकृतिके गुणोंसे और उनके कार्य लिंगशरीरसे मुक्त हो जाता है तथा सुखस्वरूप ब्रह्मपदको प्राप्त होता है ॥१४॥

[यहांतक तो यह उपदेश किया कि यद्यपि गन्धर्व तुम्हारे भाईके हत्यारे हैं तथापि उनका वध करना उचित नहीं है, अब यह कहते हैं कि वास्तवमें आत्माका न कोई भाई-बन्धु है, न प्राणियोंका परस्पर वध्य-घातक भाव ही है और न कोई किसीका हत्यारा ही है—] यह प्रसिद्ध है कि शरीरादिरूपसे परिणत हुए पञ्चमहाभूतोंसे ही स्त्री और पुरुष व्यवहार होता है और उनके संयोगसे दूसरे स्त्री-पुरुष उत्पन्न होते हैं ॥१५॥

हे राजन् ! इस प्रकार अर्थात् माता पिताके आकारमें परिणत हुए पञ्चमहाभूतोंसे प्राणियोंकी सृष्टिका क्रम चलता है, पालन करनेवाले

निमित्तमात्रं तत्राऽऽसीन्निर्गुणः पुरुषर्षभः ।
व्यक्ताव्यक्तमिदं विश्वं यत्र भ्रमति लोहवत् ॥१७॥
स खल्विदं भगवान् कालशक्त्या
गुणप्रवाहेण विभक्तवीर्यः ।
करोत्यकर्तैव निहन्त्यहन्ता
चेष्टा विभूम्नः खलु दुर्विभाव्या ॥१८॥

जीवोंके आकारमें परिणत हुए पञ्चमहाभूतोंसे प्राणियोंकी रक्षा होती है, और उन्हीं पञ्चभूतोंसे रचे हुए प्राणियों द्वारा संहार होता है । इस प्रकार ये तीनों कार्य परमात्माकी मायासे सत्त्वादि गुणोंके न्यूनाधिक होनेसे होते हैं, अपने आप नहीं होते* ॥१६॥

[शङ्का—जड़ देह और सत्त्व आदि गुण सृष्टि, स्थिति और संहारके कारण कैसे हो सकते हैं ? समाधान—] निर्गुण परमात्मा सृष्टि आदिमें निमित्तमात्र है, जिसके निमित्त होनेपर जैसे चुम्बकके समीपमें अचेतन लोहेका टुकड़ा चलने फिरने लगता है वैसे ही यह कार्य-करणात्मक अथवा स्थूल-सूक्ष्म जगत् जड़ होता हुआ भी चेतन-सा हो जाता है ॥१७॥

[शङ्का —यदि ईश्वर निमित्त कारण है, तो उसके सबके प्रति तुल्य होनेसे, जन्मादि एक ही साथ हो जायँगे ? समाधान—] सृष्टि आदिकी निमित्तभूत भगवान्की कालनामक शक्तिसे क्रमशः उत्पन्न हुआ जो गुणोंमें कम्पन उससे भगवान्की रज आदि शक्ति विभक्त हो जाती है । अतएव वास्तवमें अकर्ता होकर भी भगवान् सृष्टि करते हैं और संहार न करनेवाले होकर भी संहार करते हैं । [शङ्का—काल ही सब गुणोंमें एक साथ क्षोभ कर दे, जिससे कि सृष्टि आदि सब एक

---

* देखिये—'प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः । अहङ्कारविमूढात्मा कर्ताऽहमिति मन्यते ॥' गीता ३-२७ ॥

सोऽनन्तोऽन्तकरः कालोऽनादिरादिकृदव्ययः ।
जनं जनेन जनयन्मारयन्मृत्युनाऽन्तकम् ॥१९॥
न वै स्वपक्षोऽस्य विपक्ष एव वा
परस्य मृत्योर्विशतः समं प्रजाः ।
तं धावमानमनुधावन्त्यनीशा
यथा रजांस्यनिलं भूतसंघाः ॥२०॥

साथ हो जायँ । समाधान—] महामहिमशाली परमेश्वरकी कालशक्ति अचिन्त्य है अर्थात् उसके विषयमें ऐसा ही क्यों होता है, यह नहीं कह सकते । (श्रुति—पराऽस्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते स्वाभाविकी ज्ञान-बलक्रिया च) ॥१८॥

[पूर्वपक्ष—यह लोकमें प्रसिद्ध है कि माता-पिता पुत्रको उत्पन्न करते हैं, राजा उसका पालन करता है और चोर आदि नाश करते हैं। अतः ईश्वर इनका कर्ता नहीं है, समाधान—] स्वयं जन्मरहित, अवि-नाशी और अक्षीणशक्ति परमेश्वर पिता आदिके द्वारा पुत्र आदिको उत्पन्न करता हुआ सृष्टिकर्ता और राजा आदिके द्वारा चोरादिका वध करता हुआ अन्तकर्ता (संहारक) है । [अभिप्राय यह है कि पिता आदिकी उत्पत्ति दूसरोंसे होती है अतएव वे पुत्र आदिकी उत्पत्तिमें स्वतन्त्र कारण नहीं है, किन्तु उनका नियन्ता ईश्वर ही स्वतन्त्ररूपसे सबका कारण है ॥१९॥

समानरूपसे सब प्रजाओंमें प्रवेश कर रहे और उनमें आसक्ति-रहित कालरूप परमेश्वरका न कोई आत्मीय है और न कोई शत्रु ही । जैसे वायुके चलनेपर धूलि-कण उसके पीछे-पीछे उड़ते हैं ऐसी अवस्थामें किन्हीं किन्हीं धूलि-कणोंका अन्धकार, प्रकाश, जल, अग्नि आदिमें प्रवेश होनेपर वायुमें कोई विषमता नहीं होती वैसे ही समान-रूपसे निरन्तर दौड़ रहे भगवान्के पीछे-पीछे कर्माधीन प्राणी जन्म

आयुषोऽपचयं जन्तोस्तथैवोपचयं विभुः ।
उभाभ्यां रहितः स्वस्थो दुःस्थस्य विदधात्यसौ ॥२१॥
केचित् कर्म वदन्त्येनं स्वभावमपरे नृप ।
एके कालं परे दैवं पुंसः काममुताऽपरे ॥२२॥
अव्यक्तस्याऽप्रमेयस्य नानाशक्त्युदयस्य च ।
न वै चिकीर्षितं तात को वेदाऽथ स्वसंभवम् ॥२३॥
न चैते पुत्रक भ्रातुर्हन्तारो धनदानुगाः ।
विसर्गादानयोस्तात पुंसो दैवं हि कारणम् ॥२४॥

आदिमें प्रवृत्त होते हैं ऐसी अवस्थामें ईश्वरमें वैषम्यका अवसर कैसे आ सकता है ? ॥२०॥

वह व्यापक आयुकी वृद्धि और ह्रास—इन दोनोंसे रहित परमात्मा स्वयं अपने स्वरूपमें स्थित होकर कर्मके अधीन जीवोंकी देवतायोनिमें आयुकी वृद्धि प्राप्त करता है और पिपीलिका, मच्छड़ आदि योनियोंमें आयुका ह्रास करता है ॥२१॥

हे राजन् ! इसी ईश्वरको कोई (मीमांसक) कर्म कहते हैं, दूसरें (चार्वाकादि) स्वभाव कहते हैं, कोई (व्यावहारिक) काल कहते हैं, कोई (ज्योतिषी) दैव कहते हैं और कोई (वात्स्यायनादि) काम कहते हैं ॥२२॥

हे तात ! उस अव्यक्त, अप्रमेय, नाना शक्तियोंके उद्गम स्थान परमेश्वरके मनमें क्या करनेकी इच्छा है, इसे भी कोई नहीं जानता फिर अपनी उत्पत्तिके हेतु साक्षात् भगवान्को तो कौन जान सकता है ? अर्थात् कोई नहीं जान सकता ॥२३॥

[अब ईश्वरवादका प्रकृतमें उपयोग कहते हैं—] अरे बेटा ! वास्तवमें ये कुबेरके अनुचर तुम्हारे भाईके मारनेवाले नहीं है और

स एव विश्वं सृजति स एवाऽवति हन्ति च ।
अथाऽपि ह्यनहंकारान्नाऽज्यते गुणकर्मभिः ॥२५॥
एष भूतानि भूतात्मा भूतेशो भूतभावनः ।
स्वशक्त्या मायया युक्तः सृजत्यत्ति च पाति च ॥२६॥
तमेव मृत्युममृतं तात दैवं
सर्वात्मनोपेहि जगत्परायणम् ।
यस्मै बलिं विश्वसृजो हरन्ति
गावो यथा वै नसि दामयन्त्रिताः ॥२७॥

तुम भी इनके नाशक नहीं हो, क्योंकि मनुष्यके जन्म और मृत्युका कारण केवल ईश्वर ही है ॥२४॥

यद्यपि ईश्वर ही जगत्की उत्पत्ति, पालन और संहार करता है तथापि अहङ्कारसे रहित होनेके कारण (अर्थात् मैं इसे करता हूँ इसके फलको भोगूँगा ऐसा अहङ्कार न होनेसे) वह रज आदि गुणोंसे और पुण्यपापादि कर्मोंसे लिप्त नहीं होता है ॥२५॥

[अहङ्कार न होनेमें कारण दिखाते हैं—] भगवान् सब प्राणियोंके नियन्ता, सबके पालक और सबके आत्मा होनेके कारण भेद-भावरहित है । वह अपनी मायाशक्तिसे युक्त होकर सब चराचर जगत्को उत्पन्न करता है, पालन करता है और संहार करता है ॥२६॥

हे तात ! तुम एकाग्रचित्त होकर अपनेसे विमुख अभक्तोंको मृत्यु और भक्तोंको जन्ममरणसे छुटकारा देनेवाले (मुक्ति देनेवाले) जगत्के आश्रय भगवान्के चरणोंकी शरण लो, जैसे नथे हुए बैल अपने स्वामीके कार्यको करते हैं वैसे ही ब्रह्मा आदि देवता भी नाम-रूप रज्जुसे बद्ध होकर उस ईश्वरसे नियत किये गये सृष्टि आदि कर्मोंको करते हैं ॥२७॥

यः पञ्चवर्षो जननीं त्वं विहाय
मातुः सपत्न्या वचसा भिन्नमर्मा ।
वनं गतस्तपसा प्रत्यगक्ष-
माराध्य लेभे मूर्ध्नि पदं त्रिलोक्याः ॥२८॥

तमेनमङ्गाऽऽत्मनि मुक्तविग्रहे
व्यपाश्रितं निर्गुणमेकमक्षरम् ।
आत्मानमन्विच्छ विमुक्त आत्मदृग्
यस्मिन्निदं भेदमसत्प्रतीयते ॥२९॥

त्वं प्रत्यगात्मनि तदा भगवत्यनन्त
आनन्दमात्र उपपन्नसमस्तशक्तौ ।
भक्तिं विधाय परमां शनकैरविद्या-
ग्रन्थिं विभेत्स्यसि ममाऽहमिति प्ररूढम् ॥३०॥

[अब कहते हैं कि तुम भगवान्‌की आराधना सरलतासे कर सकते हो—] पाँच वर्षकी अवस्थामें अपनी सौतेली माँके वचनोंसे मर्माहत हुए तुम अपनी माताको छोड़कर बनमें गये और तपस्यासे अधोक्षज (दिव्यचक्षु) भगवान्‌की आराधना करके तीनों लोकोंके ऊपर तुमने स्थान पाया ॥२८॥

हे ध्रुव ! तुम अन्तर्दृष्टि करो और भेद-भावरहित अपने मनमें रहनेवाले निर्गुण, एक, अविनाशी, विमुक्त उस परमात्माको ढूँढो, जिस परमात्मामें यह शत्रु, मित्रादि भेदसे युक्त संसार मिथ्या प्रतीत होता है ॥२९॥

तुम इसी समय अपने भीतर स्थित आत्मा, अनन्त, आनन्द-स्वरूप सर्वशक्तिसम्पन्न भगवान्‌की उत्तम भक्ति करके 'मैं और मेरा' रूप अज्ञानजन्य अति दृढ़ बन्धनको धीरे धीरे काट डालोगे ॥३०॥

संयच्छ रोषं भद्रं ते प्रतीपं श्रेयसां परम् ।
श्रुतेन भूयसा राजन्नगदेन यथाऽऽमयम् ॥३१॥
येनोपसृष्टात्पुरुषाल्लोक उद्विजते भृशम् ।
न बुधस्तद्वशं गच्छेदिच्छन्नभयमात्मनः ॥३२॥

हे राजन् ! जैसे औषधिसे रोगकी शान्ति करते हैं, वैसे ही तुम कल्याणमार्गके अत्यन्त बाधक क्रोधको शास्त्रके बलसे शान्त करो, तुम्हारा कल्याण होगा ॥३१॥

चूँकि क्रोधपूर्ण पुरुषसे अन्य पुरुषको अत्यन्त भय होता है, अतः अपना अभय चाहनेवाला विद्वान् पुरुष क्रोधके वशमें कभी न हो ॥३२॥

चौदहवाँ अध्याय

आत्मतत्त्वका निरूपण

****

पहला प्रकरण

राजा पृथुका उपाख्यान

राजा पृथुने मनुके ब्रह्मावर्त नामक क्षेत्रमें सौ अश्वमेघ यज्ञ करनेके लिये दीक्षा ली। इन्द्रको जब यह खबर लगी, तो वह पृथुके यज्ञमहोत्सवको न सह सका। निन्यानबे यज्ञ तो पृथुने निर्विघ्न किये, किन्तु अन्तिम अश्वमेध यज्ञके घोड़ेको इन्द्र ईर्ष्यावश छिपकर हर ले गया। उसे इन्द्रका कार्य जानकर उसका वध करनेके लिये पृथु होम करनेके लिए उद्यत हुआ। ब्रह्माजीने यह कहकर इसका निषेध किया कि यह यज्ञनामक इन्द्र ही साक्षात् भगवान्‌का अवतार है। ब्रह्माजी-के आशिर्वादसे उसके एक यज्ञके कम होनेपर भी यज्ञोंकी पूर्त्ति हो गयी। पूर्णाहुतिके समय भगवान् यज्ञपति सन्तुष्ट होकर प्रकट हुए और उन्होंने राजासे कहा—

श्रीभगवानुवाच❀

एष तेऽकारषीद्भङ्गं हयमेधशतस्य ह।
क्षमापयत आत्मानममुष्य क्षन्तुमर्हसि ॥२॥

इस इन्द्रने तुम्हारे अश्वमेधके अन्तिम (सौवें) यज्ञमें विघ्न डाला, उसे पूरा नहीं होने दिया; इससे वह लज्जित होकर अपने

❀ भा० ४।२०।२ इत्यादि।

सुधियः साधवो लोके नरदेव नरोत्तमाः ।
नाऽभिद्रुह्यन्ति भूतेभ्यो यर्हि नाऽऽत्मा कलेवरम् ॥३॥
पुरुषा यदि मुह्यन्ति त्वादृशा देवमायया ।
श्रम एव परं जातो दीर्घया वृद्धसेवया ॥४॥
अतः कायमिमं विद्वानविद्याकामकर्मभिः ।
आरब्ध इति नैवाऽस्मिन्प्रतिबुद्धोऽनुषज्जते ॥५॥
असंसक्तः शरीरेऽस्मिन्नमुनोत्पादिते गृहे ।
अपत्ये द्रविणे वापि कः कुर्यान्ममतां बुधः ॥६॥

स्वरूपभूत तुमसे क्षमा चाहता है, इसे तुम क्षमा करो । अर्थात् तुम दोनों मेरे अवतार हो, तुममें और इसमें कोई अन्तर नहीं है । अपने स्वरूपभूतका द्रोह करना ठीक नहीं है, अतः इसे तुम क्षमा कर दो ॥ २ ॥

राजन् ! विवेकशील सज्जन लोग प्राणियोंका द्रोह नहीं करते, क्योंकि शरीर तो आत्मा है नहीं और आत्माके साथ आत्माका विरोध ही कैसे हो सकता है ? ॥ ३ ॥

तुम्हारे ऐसे विचारशील लोग भी यदि देवमायासे मोहित हो (प्राणियोंके द्रोह आदिमें प्रवृत्त हो) जायँ, तो दीर्घ-कालतक की गयी बड़े-बूढ़ोंकी सेवासे कुछ फ़ल न हुआ, केवल परिश्रम ही हाथ लगा ॥ ४ ॥

इस शरीरकी उत्पत्ति अज्ञान, काम, कर्मसे होती है [अर्थात् पहले अपने स्वरूपका अज्ञान होता है, तदनन्तर विषयोंपर अभिलाष होता है और तदुपरान्त कर्म करता है, इस प्रकार शरीर अज्ञान, काम और कर्मसे उत्पन्न है] यह जाननेवाला अतः विवेकी पुरुष इस देह-में आसक्त नहीं होता अर्थात् शरीरमें आत्मबुद्धि नहीं करता ॥५॥

जो विवेकी पुरुष आत्मज्ञानी होनेसे शरीरमें आसक्ति नहीं

एकः शुद्धः स्वयंज्योतिर्निर्गुणोऽसौ गुणाश्रयः ।
सर्वगोऽनावृतः साक्षी निरात्मात्मात्मनः परः ॥७॥
य एवं सन्तमात्मानमात्मस्थं वेद पूरुषः ।
नाऽज्यते प्रकृतिस्थोऽपि तद्गुणैः स मयि स्थितः ॥८॥
यः स्वधर्मेण मां नित्यं निराशीः श्रद्धयाऽन्वितः ।
भजते शनकैस्तस्य मनो राजन् प्रसीदति ॥९॥

रखता है वह शरीरसे रचे गये घर, सन्तान और धन आदिमें क्यों ममता करेगा ? ॥ ६ ॥

[अब दो श्लोकोंसे ज्ञानक्रमका विवरण करते हुए देहमें आसक्तिका अभाव दिखलाते हैं—] आत्मा एक, शुद्धस्वरूप, स्वयंप्रकाश, निर्गुण, गुणका आधार, सर्वव्यापक, अविद्या आदि आवरणोंसे रहित, साक्षी (द्रष्टा) और अन्य आत्मासे रहित है, इस कारण देहसे भिन्न है । [देह तो बाल, युवा आदि भेदोंसे अनेक, मलिन, जड़, सगुण, अपने कारणभूत गुणोंके आश्रयसे रहनेवाला, परिच्छिन्न, गृहादिसे अथवा वस्त्रादिसे आवृत, दृश्य और आत्माका आयतन है। यों नौ प्रकारसे आत्मामें देहसे विलक्षणता है।] ॥७॥

जो पुरुष इस प्रकार वर्णित आत्माको अपने शरीरमें स्थित जानता है, वह मुझ परमेश्वरमें ही स्थित है । इसलिये प्रकृतिके कार्य्यभूत देहादिमें वर्तमान रहता हुआ भी देहके सुख, दुःख, पापादि विकारोंसे लिप्त नहीं होता है ॥ ८ ॥

[अब चार श्लोकोंसे यह कहते हैं कि ऐसी अवस्था किसकी हो सकती है—] हे राजन्, जो पुरुष निष्काम और श्रद्धायुक्त होकर अपने वर्णाश्रम धर्मके अनुसार मेरी नित्य उपासना करता है, उसका मन धीरे-धीरे शुद्ध (प्रसन्न) हो जाता है ॥ ९ ॥

परित्यक्तगुणः सम्यग्दर्शनो विशदाशयः ।
शान्तिं मे समवस्थानं ब्रह्मकैवल्यमश्नुते ॥१०॥
उदासीनमिवाऽध्यक्षं द्रव्यज्ञानक्रियात्मनाम् ।
कूटस्थमिममात्मानं यो वेदाऽऽप्नोति शोभनम् ॥११॥
भिन्नस्य लिङ्गस्य गुणप्रवाहो
द्रव्यक्रियाकारकचेतनात्मनः ।
दृष्टासु संपत्सु विपत्सु सूरयो
न विक्रियन्ते मयि बद्धसौहृदाः ॥१२॥
समः समानोत्तममध्यमाधमः
सुखे च दुःखे च जितेन्द्रियाशयः ।
मयोपक्लृप्ताखिललोकसंयुतो
विधत्स्व वीराऽखिललोकरक्षणम् ॥१३॥

जब मनुष्यका मन शुद्ध (प्रसन्न) हो जाता है तब वह विषयोंसे विरक्त हो आत्मसाक्षात्कार कर शान्तिको प्राप्त होता है अर्थात् मेरी उदासीनतासे स्थितिरूप कैवल्य सुखका अनुभव करता है ॥ १० ॥

[सम्यग् दर्शनका वर्णन करते हैं—] जो पुरुष देह, ज्ञानेन्द्रिय, कर्मेन्द्रिय और मनके द्रष्टा आत्माको उदासीन-सा (साक्षीमात्र) और निर्विकार जानता है, वह शुद्ध ब्रह्मस्वरूपको प्राप्त करता है ॥११॥

[अब यह कहते हैं कि संसारी पुरुष किस प्रकार कूटस्थ कहा जाता है—] पाँच सूक्ष्मभूत, इन्द्रियाँ तथा उनके देवता और चिदाभासयुक्त अन्तःकरण, इनके सङ्घातरूप अतएव आत्मासे भिन्न लिङ्ग-देहके ही जन्म, मरण, सुख-दुःखादि विकार होते हैं आत्माके नहीं होते हैं, ऐसा जानकर मुझमें दृढ़ प्रेम करनेवाले पुरुष सम्पत्ति अथवा विपत्तिमें हर्ष-शोक नहीं करते ॥ १२ ॥

हे वीर ! तुम भी सुख और दुःखको एक समान मानकर,

श्रेयः प्रजापालनमेव राज्ञो
यत्सांपराये सुकृतात् षष्ठमंशम् ।
हर्ताऽन्यथा हृतपुण्यः प्रजाना-
मरक्षिता करहारोऽघमत्ति ॥१४॥

उत्तम, मध्यम और अधम प्राणियोंपर समदृष्टि रखकर, इन्द्रिय और मनको जीतकर और मुझ ईश्वरसे ही रचित मन्त्री आदि सम्पूर्ण सहकारियोंसे युक्त होकर सम्पूर्ण लोकोंकी रक्षा करो ॥ १३ ॥

[शङ्का—रक्षा करनेमें दण्ड भी देना पड़ता है, इसलिये मैं तप अथवा पुण्य कर्म क्यों न करूँ ? समाधान—] राजाओंका तो प्रजापालन करना ही श्रेयस्कर कर्म है, क्योंकि उनका पालन करनेवाले राजाको परलोकमें प्रजाओंके पुण्यका छठा भाग मिलता है और उनकी रक्षा न करके केवल कर लेनेपर प्रजा राजाके पुण्यको हर लेती है और उसको प्रजाके पापका फल भोगना पड़ता है ॥ १४ ॥
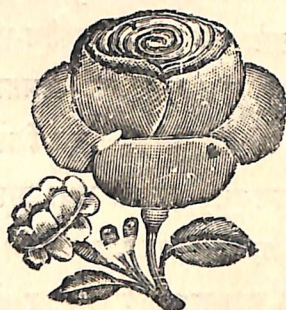
दूसरा प्रकरण

ईश्वरवादका प्रतिपादन

वेनका पुत्र पृथु इस भूमण्डलका आदि राजा था। एक समय उसने महायज्ञ करनेका सङ्कल्प किया। उस सत्रमें स्वर्गवासी देव, गन्धर्व और ब्रह्मर्षियोंका समाज इकट्ठा हुआ। कोई लोग (मीमांसक) यह प्रतिपादन करने लगे कि यद्यपि यज्ञ आदि कर्म अवश्य कर्तव्य हैं, उनका हम अनुमोदन करते हैं तथापि यज्ञपति कोई भगवान् नहीं है जिसके कि वे अर्पण किये जायँ। यह सुन-कर सब सभासदोंके अनुग्रहके लिये—

अस्ति यज्ञपतिर्नाम केषांचिदर्हसत्तमाः ।
इहाऽमुत्र च लक्ष्यन्ते ज्योत्स्नावत्यः क्वचिद् भुवः ॥२७॥
मनोरुत्तानपादस्य ध्रुवस्याऽपि महीपतेः ।
प्रियव्रतस्य राजर्षेरङ्गस्याऽस्मत्पितुः पितुः ॥२८॥

पृथु बोले*—

हे सभासदो ! दुराग्रहियोंको छोड़कर अन्य लोगोंका यह मत है कि यज्ञपति भगवान् हैं, क्योंकि इस लोक और अन्य लोकोंमें सुखजनक भोगके स्थान और शरीर देखनेमें आते हैं। [भाव यह है कि कोई पुरुष सुखी और कोई दुःखी दिखायी देते हैं। यह विचि-त्रता तभी बन सकती है जब कि कर्मोंके अनुसार फल देनेवाला ईश्वर हो।] ॥ २७ ॥

[तीन श्लोकोंसे यह प्रतिपादन करते हैं कि विद्वानोंके अनुभवसे भी यही बात सिद्ध होती है—] महाराज मनु, उत्तानपाद, ध्रुव, राजर्षि प्रियव्रत, हमारे पितामह अङ्ग, ब्रह्मा, शिव, प्रह्लाद, बलि और

---

* भा० ४-२१-२७ इत्यादि।

ईदृशानामथाऽन्येषामजस्य च भवस्य च ।
प्रह्लादस्य बलेश्चाऽपि कृत्यमस्ति गदाभृता ॥२९॥
दौहित्रादीनृते मृत्योः शोच्यान् धर्मविमोहितान् ।
वर्गस्वर्गापवर्गाणां प्रायेणैकात्म्यहेतुना ॥३०॥
यत्पादसेवाऽभिरुचिस्तपस्विना-
मशेषजन्मोपचितं मलं धियः ।
सद्यः क्षिणोत्यन्वहमेधती सती
यथा पदाङ्गुष्ठविनिःसृता सरित् ॥३१॥

ऐसे अन्यान्य महापुरुषोंका मत है कि कर्म-फलदाता ईश्वर अवश्य है और प्रायः धर्म, अर्थ, काम, स्वर्ग और मोक्ष केवल गदाधर भगवान्की कृपासे होते हैं; इसके विपक्षमें वेन आदिके मतावलम्बी धर्म्ममें विमूढ़ और शोचनीय हैं । [भाव यह है कि कर्म जड़ है वह फल नहीं दे सकता । अन्य देवताओंमें परतन्त्रता है, क्योंकि श्रुतिमें सबके अन्तर्यामी भगवान् ही कहे गये हैं । दूसरी बात यह भी है कि कहीं-कहीं एक समान कर्म करनेपर भी भिन्न-भिन्न प्रकारके फल मिलते हैं और कहीं-कहीं मिलते भी नहीं हैं, इस कारण स्वतन्त्र रूपसे कर्म-फलदाता 'कर्तुमकर्तुमन्यथाकर्तुं समर्थ' ईश्वर है ।]॥२८॥२९॥३०॥

[अब तीन श्लोकोंसे यह प्रतिपादन करते हैं कि अन्य देवता भी जीवरूप हैं और मोक्षरूप फल देनेवाले भगवान् ही हैं—] भगवान्के चरणके अँगूठेसे निकली हुई गङ्गाजी जिस प्रकार उत्तरोत्तर विस्तृत होकर मनुष्योंके पापोंको समूल नष्ट कर देती है उसी भाँति प्रतिदिन बढ़ता हुआ जिनकी चरणसेवामें हुआ सात्त्विक प्रेम संसार तापसे सन्तप्त मनुष्योंके अनेक जन्मोंमें सञ्चित पापोंको तत्काल नष्ट कर देता है ॥ ३१ ॥

विनिर्धुताशेषमनोमलः पुमा-
नसङ्गविज्ञानविशेषवीर्यवान् ।
यदङ्घ्रिमूले कृतकेतनः पुन-
र्न संसृतिं क्लेशवहां प्रपद्यते ॥३२॥
तमेव यूयं भजताऽऽत्मवृत्तिभि-
र्मनोवचःकायगुणैः स्वकर्मभिः ।
अमायिनः कामदुघाङ्घ्रिपङ्कजं
यथाधिकारावसितार्थसिद्धयः ॥३३॥
असाविहाऽनेकगुणोऽगुणोऽध्वरः
पृथग्विधद्रव्यगुणक्रियोक्तिभिः ।
सम्पद्यतेऽर्थाशयलिङ्गनामभि-
र्विशुद्धविज्ञानघनः स्वरूपतः ॥३४॥

[उन्हीं भगवान्‌का भजन करो] जिनके चरणका आश्रय लेनेसे मनके सम्पूर्ण मल नष्ट हो जाते हैं और वैराग्यकी सामर्थ्यसे प्राप्त हुआ भगवत्साक्षात्काररूप बल प्राप्त हो जाता है, फिर क्लेश देनेवाला संसार प्राप्त नहीं होता है ॥ ३२ ॥

जिनका चरण-कमल सबको अभीष्ट फल देनेवाला है, उन भगवान्‌की ही तुम 'यह निश्चय रखकर कि अपने अधिकारके अनुसार फल प्राप्त होगा' निष्कपट भावसे (जैसे ब्राह्मणकी वृत्ति शिक्षा देना, दान देना और लेना इत्यादि है) मन, वाणी और शरीर द्वारा ध्यान, स्तुति और पूजासे आराधना करते रहो ॥ ३३ ॥

[अब दो श्लोकोंसे यह प्रतिपादन करते हैं कि 'ब्रह्मार्पणं ब्रह्म-हविः' इस न्यायसे यज्ञके अङ्ग और फलमें भगवद्-दृष्टिसे कर्म करना चाहिये, 'ये भगवान्‌से भिन्न हैं' इस दृष्टिसे नहीं—] वह भगवान् विशुद्ध ज्ञानस्वरूप और निर्गुण होते हुए भी इस कर्ममार्गमें भाँति-

प्रधानकालाशयधर्मसंग्रहे
शरीर एष प्रतिपद्य चेतनाम् ।
क्रियाफलत्वेन विभुर्विभाव्यते
यथाऽनलो दारुषु तद्गुणात्मकः ॥३५॥

भाँतिके यज्ञ-द्रव्य (व्रीहि आदि), गुण (शुक्लादि), क्रिया (कूटना इत्यादि) और मन्त्रादि (प्रयाज, अनुयाज आदि) यागाङ्गोंसे की गयी पूर्णता, सङ्कल्प, पदोंकी अर्थबोधक शक्ति, ज्योतिष्टोम-वाजपेय आदि अनेक विशेषणोंसे युक्त यज्ञरूप बनते हैं (यथा श्रुतिः—'यज्ञो वै विष्णुः') ॥ ३४ ॥

[याग और उसके अङ्गोंको भगवद्रूप कहकर यज्ञका फल भी भगवद्रूप है, ऐसा कहते हैं—] वह व्यापक भगवान् परमानन्दस्वरूप होनेपर भी प्रधान (अव्यक्त) उसके क्षोभक काल, वासना और अदृष्टसे उत्पन्न होनेवाले शरीरमें चेतनाशक्तिको प्राप्त होकर जैसे अग्नि काष्ठके आकारके अनुसार लम्बी तिरछी या गोल प्रतीत होती है वैसे ही यज्ञ आदिके फलरूपसे नाना आकारके प्रतीत होते हैं ॥३५॥

तीसरा प्रकरण

सनत्कुमारजी द्वारा प्रतिपादित मोक्षके उपाय

एक समय राजा पृथुकी सभामें सूर्य्यके समान तेजस्वी सनत्कुमार आदि चार मुनियोंने प्रवेश किया। राजा सब सभासदों सहित उनके अभ्युत्थानके लिये खड़ा हुआ। उसने आसन और अर्घसे उन मुनियोंकी पूजा की और प्रश्न किया कि विषयोंको ही पुरुषार्थ समझनेवाले प्राणी दुःख ही बोते हैं अतएव कृपया आप यह बतलाइये कि पाप आदि अदृष्टोंसे इस संसारसागरमें गिरे हुए हम लोगोंके कल्याणका क्या कोई उपाय है ? इस संसारमें त्रिविध तापसे सन्तप्त हुए लोगोंका अनायास ही कल्याण किस उपायसे होगा ? उनके इस प्रश्नपर सनत्कुमार आदि प्रीतिसे बोले—

सनत्कुमार उवाच❀

साधु पृष्टं महाराज सर्वभूतहितात्मना ।
भवता विदुषा चाऽपि साधूनां मतिरीदृशी ॥१८॥
सङ्गमः खलु साधूनामुभयेषां च सम्मतः ।
यत्सम्भाषणसम्प्रश्नः सर्वेषां वितनोति शम् ॥१९॥

हे महाराज ! जानते हुए भी सम्पूर्ण प्राणियोंके हितैषी आपने बड़ा उत्तम प्रश्न किया है, क्योंकि सज्जनोंकी बुद्धि ऐसी ही (परहित करनेवाली) होती है ॥ १८ ॥

सज्जनोंका समागम वक्ता और श्रोता दोनोंको ही माननीय होता है, क्योंकि उनके सम्भाषणसे युक्त प्रश्न सबका कल्याणकारक होता है ॥ १९ ॥

❀ भा० ४-२२-१८ इत्यादि।

अस्त्येव राजन् भवतो मधुद्विषः
पादारविन्दस्य गुणानुवादने ।
रतिर्दुरापा विधुनोति नैष्ठिकी
कामं कषायं मलमन्तरात्मनः ॥२०॥
शास्त्रेष्वियानेव सुनिश्चितो नृणां
क्षेमस्य सम्यग्विमृशेषु हेतुः ।
असङ्ग आत्मव्यतिरिक्त आत्मनि
दृढा रतिर्ब्रह्मणि निर्गुणे च या ॥२१॥
सा श्रद्धया भगवद्धर्मचर्यया
जिज्ञासयाऽध्यात्मिकयोगनिष्ठया ।

हे राजन् ! प्रश्न द्वारा विष्णु भगवान्के चरणकमलके पराक्रमको सुननेमें तुम्हारी निश्चल प्रीति है, जो हरिविमुखोंको दुर्लभ है और वह प्रीति कपड़ेमें गेरू आदिके धब्बेके समान और उपायोंसे न जानेवाले मनके कामादि मलका नाश करती है ॥ २० ॥

[चित्तशुद्धिसे ही बाह्य विषयोंमें वैराग्य होता है और आत्मामें प्रीति होती है, इन दोनोंसे बढ़कर साधन कोई नहीं है, शास्त्रोंमें वे ही मोक्षके हेतु कहे गये हैं, ऐसा कहते हैं—] भली-भाँति विचारित शास्त्रोंमें आत्मासे अतिरिक्त सम्पूर्ण प्रपञ्चमें वैराग्य होना और निर्गुण ब्रह्मस्वरूप आत्मामें दृढ़ प्रेम होना ही मनुष्योंके मोक्षरूप कल्याणके निश्चित साधन कहे गये हैं ॥ २१ ॥

[शङ्का—ये दोनों अति दुर्लभ हैं, ऐसी शङ्का करके चार श्लोकोंसे उत्तम अधिकारीको श्रवणमात्रसे और मध्यम अधिकारीको चित्तशुद्धिके अनुसार साधनोंके तारतम्यसे बढ़ती हुई भक्तिसे बाह्य विषयोंमें वैराग्य और ब्रह्ममें प्रीति होती है, ऐसा कहते हैं—]

शास्त्र और गुरुके वचनोंमें श्रद्धा रखनेसे भगवान्को प्रसन्न

योगेश्वरोपासनया च नित्यं
पुण्यश्रवःकथया पुण्यया च ॥२२॥
अर्थेन्द्रियारामसगोष्ठ्यतृष्णया
तत्संमतानामपरिग्रहेण ।
विविक्तरुच्या परितोष आत्मन्
विना हरेर्गुणपीयूषपानात् ॥२३॥
अहिंसया पारमहंस्यचर्यया
स्मृत्या मुकुन्दचरिताग्र्यसीधुना ।
यमैरकामैर्नियमैश्चाऽप्यनिन्दया
निरीहया द्वन्द्वतितिक्षया च ॥२४॥
हरेर्मुहुस्तत्परकर्णपूर-
गुणाभिधानेन विजृम्भमाणया ।
भक्त्या ह्यसङ्गः सदसत्यनात्मनि
स्यान्निर्गुणे ब्रह्मणि चाऽञ्जसा रतिः ॥२५॥

करनेवाले धर्मोंके आचरणसे, भक्तिके लक्षण जाननेकी इच्छासे, यम, नियम आदिमें निष्ठा रखनेसे, भगवद्भक्तोंकी सेवा करनेसे, नित्य पुराणोंमें वर्णित पवित्रकीर्ति श्रीहरिकी पुण्य कथा सुननेसे, धन और इन्द्रियोंके विषयोंमें आसक्त सांसारिक लोगोंका सङ्ग त्यागनेसे, ऐसे ही पुरुषोंको प्रिय लगनेवाले अर्थ और काममें आसक्ति न करनेसे, भगवान्‌के गुणामृतपानके न मिलनेपर यदि आत्मामें ही सन्तोष हो, तो एकान्त स्थानमें प्रीति करनेसे किन्तु यदि हरि-कथामृत पीनेको मिले, तो एकान्तमें आत्मरुचि और आत्मामें सन्तोष न करनेसे, दूसरेको पीड़ा न पहुँचानेसे, परमहंस धर्मका आचरण करनेसे अर्थात् अनायास प्राप्त वस्तुसे निर्वाह करनेसे, अपने हितका ध्यान रखनेसे, मुकुन्द भगवान्‌के श्रेष्ठ अमृतरूपी चरित्रका स्मरण करनेसे, अर्थात् उनके

यदा रतिर्ब्रह्मणि नैष्ठिकी पुमा-
नाचार्यवान् ज्ञानविरागरंहसा ।
दहत्यवीर्यं हृदयं जीवकोशं
पञ्चात्मकं योनिमिवोत्थितोऽग्निः ॥२६॥
दग्धाशयो मुक्तसमस्ततद्गुणो
नैवाऽऽत्मनो बहिरन्तर्विचष्टे ।
परात्मनोर्यद्व्यवधानं पुरस्तात्
स्वप्ने यथा पुरुषस्तद्विनाशे ॥२७॥

चरित्रके स्मरणसे होनेवाले सुखसे, कामना-रहित यम-नियमोंका सेवन करनेसे, दूसरे पन्थ अथवा देवताकी निन्दा न करनेसे, शरीरके निर्वाहके लिये योगक्षेम न करनेसे, शीतोष्णादि द्वन्द्व सहनेसे, भक्तों-के कर्णोंके आभूषणरूप भगवान्के गुणोंका उच्चारण करनेसे और इन साधनोंसे बढ़ी हुई भगवद्भक्तिसे कार्यकारणभूत अनात्म प्रपञ्चमें आसक्ति नहीं होती और निर्गुण ब्रह्मरूप आत्मामें अनायास दृढ़ प्रेम प्राप्त हो जाता है ॥२२॥२३॥२४॥२५॥

[प्रश्न—आत्मामें प्रीति और उससे अतिरिक्त पदार्थोंमें असङ्ग बुद्धिके अनन्तर क्या होता है ? उत्तर—] जब ब्रह्ममें नैष्ठिकी प्रीति प्राप्त होती है, तब गुरुमें भक्ति रखनेवाला पुरुष ज्ञान-वैराग्यके वेगसे वासनाशून्य हुए महाभूतरूप अथवा अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश पञ्चक्लेशरूप लिङ्ग शरीरको भस्म कर देता है जैसे कि अग्नि उस काष्ठको (अरणिको) भस्म कर देती है, जिससे वह उत्पन्न होती है ॥२६॥

[अब कहते हैं कि फिर इससे क्या होता है—] जैसे कोई पुरुष स्वप्नमें अपनेको राजा या बड़ी सेनावाला देखता है और जागने-पर नहीं देखता है, वैसे ही जिस पुरुषके अन्तःकरणरूप उपाधिके

आत्मानमिन्द्रियार्थं च परं यदुभयोरपि ।
सत्याशय उपाधौ वै पुमान् पश्यति नाऽन्यदा ॥२८॥
निमित्ते सति सर्वत्र जलादावपि पूरुषः ।
आत्मनश्च परस्याऽपि भिदां पश्यति नाऽन्यदा ॥२९॥
इन्द्रियैर्विषयाकृष्टैराक्षिप्तं ध्यायतां मनः ।
चेतनां हरते बुद्धेः स्तम्बस्तोयमिव ह्रदात् ॥३०॥

भस्म होनेपर कर्तृत्वादि धर्मोंका नाश हो गया है वह पुरुष अपनेसे बाहरके घटादि पदार्थ और भीतरके सुख दुःख आदिको नहीं देखता है, क्योंकि अन्तःकरणके नष्ट होनेपर परमात्मा और जीवका व्यवधान अर्थात् भेद दूर हो गया ॥२७॥

[अब अन्वय और व्यतिरेक न्यायसे यह दिखाते हैं कि द्रष्टा और दृश्यके भेदकी प्रतीतिका कारण अन्तःकरण है—] मनुष्य अन्तःकरणरूप उपाधिके रहनेपर आत्मा अर्थात् द्रष्टा, इन्द्रियोंके विषय और इन दोनोंके कारण अहङ्कारको जाग्रत् तथा स्वप्न अवस्थामें देखता है, अन्य कालमें—समाधि और सुषुप्तिमें—अन्तःकरणके लीन होनेपर नहीं देखता है ॥२८॥

[दृष्टान्तसे यह प्रतिपादन करते हैं कि एक ही आत्मामें जो दृश्यादि भेद दिखलायी देते हैं, वे उपाधिकृत हैं—] जैसे जल अथवा दर्पणके विद्यमान होनेपर ही मनुष्य उनमें बिम्बरूप अपना और प्रतिबिम्बरूप दूसरेका भेद देखता है और समयमें (उपाधिके अभावमें) नहीं देखता ऐसा ही यहाँ भी समझो ॥२९॥

[उपर्युक्त चार श्लोकोंसे यह दिखलाया कि आत्मासे अतिरिक्त किसीमें अनासक्ति और आत्मामें रति होनेसे मोक्ष होता है, अब चार श्लोकोंसे यह दिखलाते हैं कि अनात्मामें रति होनेसे जन्म-मरणरूप संसारमें पड़ा रहना पड़ता है—] जैसे सरोवरके तटपर

भ्रश्यत्यनुस्मृतिश्चित्तं ज्ञानभ्रंशः स्मृतिक्षये ।
तद्रोधं कवयः प्राहुरात्मापह्नवमात्मनः ॥३१॥
नाऽतः परतरो लोके पुंसः स्वार्थव्यतिक्रमः ।
यदध्यन्यस्य प्रेयस्त्वमात्मनः स्वव्यतिक्रमात् ॥३२॥
अर्थेन्द्रियार्थाभिध्यानं सर्वार्थापह्नवो नृणाम् ।
भ्रंशितो ज्ञानविज्ञानाद्येनाऽऽविशति मुख्यताम् ॥३३॥

कुशा या मूंज आदिका झुण्ड अपनी जड़ोंसे उस सरोवरके जलको किसीके बिना जाने खींच लेते हैं वैसे ही सुने हुए या अनुभूत विषयोंसे 'ये गुणमय हैं' ऐसा ध्यान करनेवाले पुरुषोंकी इन्द्रियाँ आकृष्ट होती हैं और उनसे मन आकृष्ट होता है; वह आकृष्ट मन बुद्धि-की विचारशक्ति (चेतना) को खींच लेता है ॥३०॥

चेतनाका नाश होनेपर स्मृति (पूर्वापरविचारशक्ति) नष्ट हो जाती है और स्मृतिका नाश होते ही स्वरूप (ज्ञान) का नाश हो जाता है। त्रिकालदर्शी पुरुष इस ज्ञानके नाशको अपनेसे ही अपना नाश कहते हैं ॥३१॥

आत्माके सम्बन्धसे ही स्त्री, पुत्र, गृह आदि प्रियतम कहे गये हैं (श्रुति भी कहती है—"आत्मनस्तु कामाय सर्वं प्रियं भवति") उस आत्माका स्वयं अपलाप करनेसे जो स्वार्थनाश होता है, उससे बढ़कर और स्वार्थनाश नहीं है ॥३२॥

[यह अपना ही नाश करना इस प्रकार है—] धनादि और इन्द्रियोंके विषयोंका ध्यान करना ही मनुष्यके सम्पूर्ण पुरुषार्थोंका नाश कहा गया है, क्योंकि अर्थ, काम आदिके ध्यानसे शास्त्रीय ज्ञान और आत्मसाक्षात्कारसे भ्रष्ट हुआ पुरुष वृक्ष आदि योनियोंमें जन्म लेता है ॥३३॥

❀ देखिये "ध्यायतो विषयान् पुंसः इत्यादि" गीता २-६२ इत्यादि ।

न कुर्यात् कर्हिचित् सङ्गं तमस्तीव्रं तितीरिषुः ।
धर्मार्थकाममोक्षाणां यदत्यन्तविघातकम् ॥३४॥
तत्राऽपि मोक्ष एवाऽर्थ आत्यन्तिकतयेष्यते ।
त्रैवर्ग्योऽर्थो यतो नित्यं कृतान्तभयसंयुतः ॥३५॥
परेऽवरे च ये भावा गुणव्यतिकरादनु ।
न तेषां विद्यते क्षेममीशविध्वंसिताशिषाम् ॥३६॥
तत्त्वं नरेन्द्र जगतामथ तस्थुषां च
देहेन्द्रियासुधिषणात्मभिरावृतानाम् ।
यः क्षेत्रवित्तपतया हृदि विश्वगाविः
प्रत्यक् चकास्ति भगवांस्तमवेहि सोऽस्मि ॥३७॥

संसारके मूलकारण अज्ञानरूप समुद्रको तैरनेकी इच्छा करनेवाला पुरुष धर्म, अर्थ, काम और मोक्षका अत्यन्त नाश करनेवाली वस्तुओंमें कभी आसक्ति न करे ॥३४॥

इन चार पुरुषार्थोंमें भी मोक्षरूप पुरुषार्थ सर्वोत्तम है, क्योंकि वह कदापि नष्ट होनेवाला नहीं है। शेष तीन तो सदा कालके भयसे युक्त हैं अर्थात् विनाशी हैं ॥३५॥

सत्त्वादि तीनों गुणोंमें क्षोभ होनेके पश्चात् उत्पन्न हुए ब्रह्मादि उत्कृष्ट जीव और अस्मदादि अपकृष्ट प्राणी चाहे बड़े अधिकारी ही क्यों न हों फिर भी उनकी सुखपूर्वक स्थिति नहीं बन सकती, क्योंकि सर्वसमर्थ काल उनके त्रिविध पुरुषार्थोंका नाश कर देता है ॥३६॥

[सम्पूर्ण वेदान्तका सार कहते हैं—] देह, इन्द्रिय, प्राण, बुद्धि और अहङ्कारसे आच्छादित हुए स्थावर-जङ्गम जगत्के हृदयमें जो भगवान् जीवका नियमन करते हैं, वे अन्तर्यामी रूपसे प्रत्यक्ष, सबके भीतर व्यापक होकर प्रकाशित होते हैं; इस कारण हे राजन्! तुम यह जानो कि वही (परमात्मा) मैं हूँ ॥३७॥

यस्मिन्निदं सदसदात्मतया विभाति
माया विवेकविधुति स्रजि वाऽहिबुद्धिः ।
तं नित्यमुक्तपरिशुद्धविबुद्धतत्त्वं
प्रत्यूढकर्मकलिलप्रकृतिं प्रपद्यते ॥३८॥

यत्पादपङ्कजपलाशविलासभक्त्या
कर्माशयं ग्रथितमुद्ग्रथयन्ति सन्तः ।
तद्वन्न रिक्तमतयो यतयोऽपि रुद्ध-
स्रोतोगणास्तमरणं भज वासुदेवम् ॥३९॥

[शङ्का—यदि अन्तर्यामी रूपसे परमात्मा स्थावर-जङ्गमरूप सबके भीतर प्रकाशित होते हैं तो ऐसी अवस्थामें स्थावर-जङ्गमोंकी पृथक् सत्ता एवं परमात्मामें मलिनता प्राप्त होगी। इसका निराकरण करते हुए बढ़ी हुई भक्तिसे उस अन्तर्यामीको प्रणाम करते हैं—] जैसे पुष्पकी मालामें (असत्य) सर्पबुद्धि भासती है, वैसे ही जिनमें भ्रमरूप यह विश्व कार्य-कारणरूपसे भासता है और विवेकसे जिस भ्रमरूप जगत्का नाश हो जाता है उस नित्यमुक्त, अत्यन्त शुद्ध, ज्ञानस्वरूप, सत्यतत्त्व एवं कर्मसे मलिन हुई प्रकृतिका निराकरण करनेवाले परमेश्वरकी मैं शरण हूँ (इस प्रकार भक्तिसे प्रणाम करते हैं) ॥३८॥

[श्लोक ३७ में उपदिष्टज्ञानको दुष्कर समझकर दो श्लोकोंसे भक्तिका उपदेश करते हैं—] जिन वासुदेव भगवान्की चरणकमलकी अङ्गुलियोंकी कान्तिका भक्तिसे स्मरण करके भक्त जन जिस प्रकार हृदयग्रन्थि (अर्थात् कर्माशयरूप अहङ्कारको सुखसे खोल लेते हैं, अर्थात् कर्मवासनासे निर्मुक्त करते हैं) उस प्रकार भगवद्भक्तिसे रहित ज्ञानमार्गका अवलम्बन करनेवाले यति अपनी इन्द्रियोंकी गतिको रोक-

❀ (गी० १२।५ 'क्लेशोऽधिकतरस्तेषामव्यक्तासक्तचेतसाम्')

कृच्छ्रो महानिह भवार्णवमप्लवेशां
षड्वर्गनक्रमसुखेन तितीरषन्ति ।
तत्त्वं हरेर्भगवतो भजनीयमङ्घ्रिं
कृत्वोडुपं व्यसनमुत्तर दुस्तरार्णम् ॥४०॥

कर भी नहीं खोल सकते हैं—उस शरण देनेवाले वासुदेवका भजन करो ॥ ३९ ॥

[शङ्का—श्रुति कहती है "ब्रह्मविदाप्नोति पर_" तो यह क्यों कहा कि यति हृदय-ग्रन्थिको नहीं नष्ट कर सकते हैं ? समाधान—] पाँच ज्ञानेन्द्रिय और मन इन षड्वर्गरूप मगरोंसे भरे हुए संसार-समुद्रको जो पुरुष केवल दुःखरूप योगादि साधनसे, ईश्वररूपी कर्णधारके बिना तैरनेकी इच्छा करते हैं, उनको बड़ा कष्ट होता है । इस कारण तुम भगवान् हरिके पूजनीय चरणोंको नौका बनाकर, दुस्तर संसार समुद्रको तर कर पार हो जाओ ॥४०॥

पन्द्रहवाँ अध्याय

नारदगीता

******

पहला प्रकरण

परोक्षज्ञानका उपदेश

क्रियाकाण्ड और योगमार्गको भली भाँति जाननेवाला बर्हिषत् प्रजापति था। उसने जहाँ एक यज्ञ किया था, उसके समीपमें और यज्ञोंका ऐसा क्रम चलाया कि पूर्वामुख किये हुए कुशोंसे सब भूमण्डल ढ़क-सा गया। इस कारण उसका नाम प्राचीनबर्हि पड़ गया। एक समय आत्मज्ञ और कृपालु नारदजीने उसको उपदेश दिया—"राजन्! तुम काम्य कर्मोंके अनुष्ठानसे किस फलकी अभिलाषा रखते हो। दुःखहानि और सुखप्राप्ति दो प्रकारका श्रेय संसारमें प्रसिद्ध है। वह काम्य-कर्मोंके अनुष्ठानसे नहीं मिलता, क्योंकि तुमने यज्ञमें हजारों जीवोंका बलिदान किया है। यज्ञमें किया हुआ बलिदान भी अशुभ ही है।" बर्हिषद्ने कहा—"हे भगवन्! कर्ममें मेरी बुद्धि विक्षिप्त हो रही है, इस कारण मैं मोक्षरूप कल्याणको नहीं जानता हूँ। मुझको निर्मल ज्ञानका उपदेश दीजिये, जिससे मैं कर्मबन्धनोंसे छूट जाऊँ।" उसको शोकमें निमग्न देखकर नारदजी कहने लगे—

प्राणेन्द्रियमनोधर्मानात्मन्यध्यस्य निर्गुणः ।
शेते कामलवान् ध्यायन्ममाऽहमिति कर्मकृत् ॥२६॥
यदात्मानमविज्ञाय भगवन्तं परं गुरुम् ।
पुरुषस्तु विषज्जेत गुणेषु प्रकृतेः स्वदृक् ॥२७॥
गुणाभिमानी स तदा कर्माणि कुरुतेऽवशः ।
शुक्लं कृष्णं लोहितं वा यथाकर्माऽभिजायते ॥२८॥
शुक्लात् प्रकाशभूयिष्ठाँल्लोकानाप्नोति कर्हिचित् ।
दुःखोदर्कान्क्रियायासांस्तमःशोकोत्कटान्कचित् ॥२९॥

जीव वास्तवमें निर्गुण होकर भी तृषा आदि प्राण धर्मोंका, अन्धापन आदि इन्द्रिय धर्मोंका तथा काम आदि मनके धर्मोंका आत्मामें आरोप करके "मैं ही देह आदि हूँ" ऐसा समझकर तुच्छ विषयोंका ध्यान करता हुआ उनके निमित्त कर्म करता रहता है ॥२६॥

[अब दो श्लोकोंसे कहते हैं कि फिर क्या होता है—] जीव यद्यपि स्वप्रकाशस्वभाव है तथापि जब वह अपनेको और ज्ञानका प्रकाश करनेवाले परम गुरु भगवान्‌को न जानकर प्रकृतिके कार्यरूप विषयोंमें आसक्त होता है ॥२७॥

तब देह, इन्द्रियोंमें अभिमान रखनेवाला वह पुरुष परतन्त्र होकर सात्त्विक, तामस और राजस कर्मोंको करता है, फिर उन कर्मोंके अनुसार जन्म पाता है ॥२८॥

[दो श्लोकोंसे इसीका प्रतिपादन करते हैं—] कभी सात्त्विक कर्मोंसे अधिक प्रकाशवाले देवलोकमें जन्म पाता है, कभी रजोगुणी कर्मोंसे मनुष्यलोकमें जन्म पाता है, जहाँ कर्म करनेका परिश्रम करना पड़ता है और अन्तमें दुःख मिलता है एवं कभी तमोगुणी कर्मोंसे अज्ञान और शोकयुक्त पक्षी आदिकी योनिमें जन्म पाता है ॥२९॥

⊛ भा० ४-२९-२५ इत्यादि ।

क्वचित्पुमान्क्वचिच्च स्त्री क्वचिन्नोभयमन्धधीः ।
देवो मनुष्यस्तिर्यग्वा यथाकर्मगुणं भवः ॥३०॥

क्षुत्परीतो यथा दीनः सारमेयो गृहं गृहम् ।
चरन् विन्दति यद्दिष्टं दण्डमोदनमेव वा ॥३१॥

तथा कामाशयो जीव उच्चावचपथा भ्रमन् ।
उपर्यधो वा मध्ये वा याति दिष्टं प्रियाप्रियम् ॥३२॥

दुःखेष्वेकतरेणाऽपि दैवभूतात्महेतुषु ।
जीवस्य न व्यवच्छेदः स्याच्चेत्तत्तत्प्रतिक्रिया ॥३३॥

अज्ञानी जीव अपने गुण और कर्मोंके अनुसार कभी पुरुष, कभी स्त्री, कभी नपुंसक, कभी देवता, कभी मनुष्य अथवा पक्षी आदि तिर्यग् योनिमें जन्म लेता है ॥३०॥

[अब दो श्लोकोंसे कहते हैं कि जीवको उन योनियोंमें भी दैववश सुख-दुःख प्राप्त होते हैं—] जैसे भूखसे व्याकुल हुआ दीन कुत्ता घर-घर फिरनेपर अपने प्रारब्धके अनुसार कहीं तो पीटा जाता है और कहीं अन्न पा जाता है; ॥३१॥

वैसे ही कामकी वासनासे वासित अन्तःकरणसे युक्त जीव विधि-निषेधरूप कर्म करनेसे देवलोक, नरक और मनुष्यलोकमें भटकता हुआ अपने प्रारब्धके अनुसार सुख और दुःख पाता है ॥३२॥

[प्रश्न—उन योनियोंमें भी सुख रहता है और उपायोंसे दुःख भी दूर हो सकता है, अतः वे त्याज्य नहीं हैं, समाधान—] यद्यपि शास्त्र आदिमें दुःखोंके निवारणके उपाय दिखलाये हैं तो भी आधिदैव आदि दुःखोंमें से किसी न किसी दुःखसे जीवका कभी छुटकारा नहीं हो सकता ॥३३॥

यथा हि पुरुषो भारं शिरसा गुरुमुद्वहन् ।
तं स्कन्धेन स आधत्ते तथा सर्वाः प्रतिक्रियाः ॥३४॥
नैकान्ततः प्रतीकारः कर्मणां कर्म केवलम् ।
द्वयं ह्यविद्योपसृतं स्वप्ने स्वप्न इवाऽनघ ॥३५॥
अर्थे ह्यविद्यमानेऽपि संसृतिर्न निवर्तते ।
मनसा लिङ्गरूपेण स्वप्ने विचरतो यथा ॥३६॥

[अब दृष्टान्तसहित यह प्रतिपादन करते हैं कि दुःखकी प्रतिक्रिया भी दुःखरूप ही है—] जैसे कोई आदमी सिरपर भारी बोझ ले जानेसे जब थक जाता है तब वह उस बोझको अपने कन्धेपर रख लेता है (तथापि बोझ तो उसपर लदा ही रहता है, अतएव उसे श्रम भी होता ही है) वैसे ही सम्पूर्ण दुःखोंके दूर करनेके उपायोंसे दुःख निश्चितरूपसे दूर नहीं होते ॥३४॥

हे पापरहित ! जैसे स्वप्नके दुःख जाग्रत् हुए बिना स्वप्नके उपायोंसे नष्ट नहीं होते, वैसे ही ज्ञानके बिना केवल कर्म नियमसे दुःखरूप पाप कर्मोंका और उनकी वासनाका नाश नहीं कर सकते हैं, क्योंकि दोनों प्रकारके कर्म अविद्यासे होते हैं ॥३५॥

[प्रश्न—भ्रमरूप होनेके कारण अविद्यासे दुःख होता है और संसारके हेतु देहादि भी असत्य ही हैं, तो उनकी निवृत्तिकी क्या आवश्यकता है ? समाधान—] जैसे स्वप्नमें मनरूपी उपाधिके साथ विचरनेवाले पुरुषका चोर, व्याघ्र, सर्प आदिसे प्राप्त हुआ दुःख जागे बिना किसी दूसरे उपायसे दूर नहीं होता वैसे ही जाग्रत् अवस्थामें दुःख देनेवाले कर्म, अविद्याके कार्य होनेसे, उस अविद्याकी निवृत्तिके बिना जन्म-मरणरूप दुःख (संसृति) को दूर नहीं कर सकते ॥३६॥

अथाऽऽत्मनोऽर्थभूतस्य यतोऽनर्थपरम्परा ।
संसृतिस्तद्व्यवच्छेदो भक्त्या परमया गुरौ ॥३७॥

वासुदेवे भगवति भक्तियोगः समाहितः ।
सध्रीचीनेन वैराग्यं ज्ञानं च जनयिष्यति ॥३८॥

सोऽचिरादेव राजर्षे स्यादच्युतकथाश्रयः ।
शृण्वतः श्रद्दधानस्य नित्यदा स्यादधीयतः ॥३९॥

यत्र भागवता राजन् साधवो विशदाशयाः ।
भगवद्गुणानुकथनश्रवणव्यग्रचेतसः ॥४०॥

[अब उस संसृतिकी निवृत्तिका उपाय कहते हैं—] इस कारण पुरुषार्थस्वरूप इस जीवात्माको जिस अज्ञानके कारण जन्म-मरणरूप दुःख प्राप्त होते रहते हैं, उस अज्ञानका नाश गुरुरूप वासुदेव भगवान्की भक्तिसे ही हो सकता है ॥३७॥

[पूर्वपक्ष—श्रुतिमें कहा है—''तरति शोकमात्मवित्'' अर्थात् ज्ञानसे संसृति दूर होती है, ऐसी परिस्थितिमें भक्तिसे किस प्रकार दुःख दूर होगा ? समाधान—] वासुदेव भगवान्की उत्तम प्रकारसे की गई भक्ति अनायास ही वैराग्य और ज्ञानको उत्पन्न कर देती है ॥३८॥

[अब महाफल देनेवाली भक्तिका उपाय कहते हैं—] हे राजर्षि ! अच्युत भगवान्की कथाके आश्रयमें रहनेवाली भक्ति, नित्य श्रद्धासे भगवान्की कथा सुननेवाले और पढ़नेवाले मनुष्यको शीघ्र ही प्राप्त होती है ॥३९॥

[वह भक्ति कहाँ होती है ? उसको दो श्लोकोंसे कहते हैं—] हे राजन् ! जिस समाजमें सदाचारवान् शुद्ध हृदयवाले और बारम्बार भगवान्के गुणोंके कहने व सुननेमें लगे हुए भगवद्भक्त हैं; ॥४०॥

तस्मिन्महन्मुखरिता मधुभिच्चरित्र-
पीयूषशेषसरितः परितः स्रवन्ति ।
ता ये पिबन्त्यवितृषो नृप गाढकर्णै-
स्तान्न स्पृशन्त्यशनतृड्भयशोकमोहाः ॥४१॥

एतैरुपद्रुतो नित्यं जीवलोकः स्वभावजः ।
न करोति हरेर्नूनं कथामृतनिधौ रतिम् ॥४२॥

प्रजापतिपतिः साक्षाद्भगवान्गिरिशो मनुः ।
दक्षादयः प्रजाध्यक्षा नैष्ठिकाः सनकादयः ॥४३॥

मरीचिरत्र्यङ्गिरसौ पुलस्त्यः पुलहः क्रतुः ।
भृगुर्वसिष्ठ इत्येते मदन्ता ब्रह्मवादिनः ॥४४॥

उस समाजमें भगवद्भक्तोंसे वर्णित मधुसूदन भगवान्का अमृत-रूपी चरित्र ही जिनमें शेष रहता है (अथवा जिनमें अमृतके सिवा और असार अंश है ही नहीं) ऐसी कथारूप नदियाँ चारों ओर बहती हैं और जो पुरुष सावधान कर्णोंसे अतृप्त होकर उनका पान करते हैं उनको क्षुधा, पिपासा, भय, शोक और मोह नहीं छूते हैं ॥४१॥

स्वभावसे ही प्राप्त हुए इन क्षुधा, पिपासा आदि उपद्रवोंसे निरन्तर दबाया हुआ यह जीवोंका समूह निश्चय हरिकथारूप अमृत-समुद्रमें प्रेम नहीं करता है ॥४२॥

[अब चार श्लोकोंसे कहते हैं कि भगवान्के अनुग्रहके बिना किसीको ज्ञान नहीं हो सकता—] ब्रह्मा, साक्षात् भगवान् शिव, मनु, दक्ष आदि प्रजापति, सनकादि नैष्ठिक ब्रह्मचारी; ॥४३॥

मरीचि, अत्रि, अङ्गिरा, पुलस्त्य, पुलह, क्रतु, वशिष्ठ और मुझ (नारद) जैसे ब्रह्मज्ञानी ॥४४॥

अद्याऽपि वाचस्पतयस्तपोविद्यासमाधिभिः ।
पश्यन्तोऽपि न पश्यन्ति पश्यन्तं परमेश्वरम् ॥४५॥
शब्दब्रह्मणि दुष्पारे चरन्त उरुविस्तरे ।
मन्त्रलिङ्गैर्व्यवच्छिन्नं भजन्तो न विदुः परम् ॥४६॥
यदा यमनुगृह्णाति भगवानात्मभावितः ।
स जहाति मतिं लोके वेदे च परिनिष्ठिताम् ॥४७॥
तस्मात्कर्मसु बर्हिष्मन्नज्ञानादर्थकाशिषु ।
माऽर्थदृष्टिं कृथाः श्रोत्रस्पर्शिष्वस्पृष्टवस्तुषु ॥४८॥

अन्य लोगोंको उपदेश देनेमें अत्यन्त कुशल तथा तप, विद्या और समाधिके साधनोंसे भगवान्‌के दर्शनोंका प्रयत्न करते हुए भी अबतक भगवान्‌को देखनेमें समर्थ नहीं हुए ॥४५॥

[अब कहते हैं कि ऐसा क्यों हुआ ?—] अति विस्तीर्ण और विचार करनेपर भी जिसका पार नहीं लगता ऐसे वेदरूप शब्दब्रह्म-का अति परिश्रमसे अर्थविचार करनेवाले भी कितने ही पुरुष मन्त्रोंसे वर्णित ''वज्रहस्त'' आदि (इन्द्रादि) के स्वरूपसे पृथक्-पृथक् प्रतीत होनेवाले देवताओंकी सेवा करते हुए परमेश्वरके वास्तविक स्वरूपको नहीं जानते हैं ॥४६॥

मनसे ध्यान करनेसे जब भगवान् मनुष्यके ऊपर अनुग्रह करते हैं तब वह भगवत्तत्त्वको जानकर सांसारिक व्यवहारमें और वैदिक* कर्मोंमें आसक्त हुई बुद्धिको त्याग देता है ॥४७॥

हे बर्हिष्मन् ! इसलिये अज्ञानसे फलपरक ज्ञात होनेवाले ये स्वर्ग आदि सुखसाधन हैं ऐसा ज्ञान होनेसे कानोंको भले लगनेवाले वस्तुतः परम तत्त्वके स्पर्शसे रहित कर्मोंमें ''ये परमार्थके साधन हैं'' ऐसी बुद्धि कभी भूलकर भी मत करो ॥४८॥

---

* देखिये गीता २-४५ त्रैगुण्यविषया वेदानिस्त्रैगुण्यो भवाऽर्जुन ।

स्वं लोकं न विदुस्ते वै यत्र देवो जनार्दनः ।
आहुर्धूम्रधियो वेदं सकर्मकमतद्विदः ॥४९॥
आस्तीर्य दर्भैः प्रागग्रैः कार्त्स्न्येन क्षितिमण्डलम् ।
स्तब्धो बृहद्वधान्मानी कर्म नावैषि यत्परम् ॥५०॥
तत्कर्म हरितोषं यत्सा विद्या तन्मतिर्यया ।
तद्वर्णं तत्कुलं श्रेष्ठं तदाश्रमं शुभं भवेत् ॥५१॥
हरिर्देहभृतामात्मा स्वयंप्रकृतिरीश्वरः ।
तत्पादमूलं शरणं यतः क्षेमो नृणामिह ॥५२॥

(शङ्का—वेदोंमें कर्म ही स्वर्गादिके साधन बतलाये गये हैं, ऐसी स्थितिमें कर्म परमात्माका स्पर्श नहीं करते ऐसा कैसे कहते हो ? समाधान—] जो मलिन बुद्धिवाले पुरुष वेदको स्वर्ग आदिके साधन कर्मपरक कहते हैं वे वेदके अर्थको नहीं जानते हैं, क्योंकि वे जिसमें भगवान् जनार्दनका वास है उस स्वरूपभूत आत्मतत्त्वको नहीं जानते ॥४९॥

[तुम तो महामूर्ख हो, ऐसा कहते हैं—] पूर्वकी ओर सिर करके बिछाये हुए कुशोंसे सम्पूर्ण पृथ्वीको ढककर असंख्य पशुओंके वधसे ''मैं बड़े यज्ञ करनेवाला हूँ'' ऐसा अभिमान करनेवाले तुम बड़े उद्धत हुए हो, क्योंकि तुम कर्मके तत्त्वको और परविद्याको नहीं जानते ॥५०॥

जिससे हरि सन्तुष्ट हों, वही कर्म है, जिससे उनमें बुद्धि लगे वही विद्या, वही वर्ण तथा वही कुल श्रेष्ठ है एवं वही आश्रम मङ्गलदायक है ॥५१॥

श्रीहरि सब देहधारियोंकी आत्मा, स्वयं ही सबके कारण और नियन्ता हैं। उनके चरणतल ही सबके परम आश्रय हैं, जिससे मनुष्योंका संसारमें कल्याण होता है ॥५२॥

स वै प्रियतमश्चाऽऽत्मा यतो न भयमण्वपि ॥
इति वेद स वै विद्वान्यो विद्वान्स गुरुर्हरिः ॥५३॥

नारद उवाच

प्रश्न एव हि संछिन्नो भवतः पुरुषर्षभ ।
अत्र मे वदतो गुह्यं निशामय सुनिश्चितम् ॥५४॥
क्षुद्रंचरं सुमनसां शरणे मिथित्वा
रक्तं षडंघ्रिगणसामसु लुब्धकर्णम् ।
अग्रे वृकानसुतृपोऽविगणय्य यान्तं
पृष्ठे मृगं मृगय लुब्धकबाणभिन्नम् ॥५५॥
सुमनःसधर्मणां स्त्रीणां शरण आश्रमे पुष्पमधुगन्धवत्क्षुद्रतमं काम्यकर्मविपाकजं कामसुखलवं जैह्व्यो-

---

जिससे अणुमात्र भी भय न हो वही अति प्रिय आत्मा है; जो यह जानता है वही विद्वान् है, जो ज्ञानवान् है वही गुरु है और वही साक्षात् श्रीहरि है ॥५३॥

नारदजीने कहा—हे पुरुष श्रेष्ठ ! इस प्रकार तुम्हारे प्रश्नका उत्तर हो गया है । अब मैं तुम्हारे उद्धारके लिये बड़े महानुभावों द्वारा निश्चित किया हुआ अति गोपनीय उपाय (हरिणीके रूपकमें) कहता हूँ, उसको सुनो ॥५४॥

किसी पुष्पवाटिकामें मृगीसे अर्थात् अपनी स्त्रीसे सटकर घास चरनेवाले और सुरपर मोहित, कानोंको भले लगनेवाले भ्रमरोंके गीतोंमें कान लगाये हुए, दूसरोंके मांससे अपनी तृप्ति करनेवाले आगे-आगे चल रहे भेड़ियोंकी परवाह न करके जानेवाले एवं पीछेसे व्याधके बाणोंसे विधे हुए मृगको खोजो ॥५५॥

[हरिणके रूपककी प्रकृतमें योजना करते हैं—] हे राजन् ! पुष्पोंके

पस्थ्यादि विचिन्वन्तं मिथुनीभूय तदभिनिवेशितमनसं षडङ्घ्रिगणसामगीतवदतिमनोहरवनितादिजनालापेष्वतितरामतिप्रलोभितकर्णमग्रे वृकयूथवदात्मन आयुर्हरतोऽहोरात्रान्तान्काललवविशेषानविगणय्य गृहेषु विहरन्तं पृष्ठत एव परोक्षमनुप्रवृत्तो लुब्धकः कृतान्तोऽन्तःशरेण यमिह पराविध्यति तमिममात्मानमहो राजन्भिन्नहृदयं द्रष्टुमर्हसीति ॥५६॥

स त्वं विचक्ष्य मृगचेष्टितमात्मनोऽन्त-
श्चित्तं नियच्छ हृदि कर्णधुनीं च चित्ते ।
जह्यङ्गनाश्रममसत्तम यूथगाथं
प्रीणीहि हंसशरणं विरम क्रमेण ॥५७॥

समान परिणाममें विरस हो जानेवाली स्त्रियोंके साथ गृहस्थाश्रममें पुष्पोंके मद और गन्धके समान अति तुच्छ काम्य कर्मोंके फलरूप जिह्वा—शिश्न आदि इन्द्रियोंके विषय सुखोंकी खोज करनेवाला, स्त्रियोंके साथ समागम करके उन्हींमें आसक्तचित्त हुआ, भ्रमरोंके सुन्दर गानके समान मनोहर भार्या, पुत्र आदिकी वाणीसे जिसके कर्ण अत्यन्त मोहित हो रहे हैं, आगे चलनेवाले भेड़ियोंके झुण्डके समान अपनी आयुके दिन-रात्रि, घड़ी-पल आदि कालके अवयवोंकी कुछ न गणना करके घरमें ही रमण करता हुआ और अदृश्य होकर पीछे-पीछे आते हुए मृत्युरूप व्याधके बाणोंसे भिन्न हृदय (अधमरा) हिरन "मैं हो रहा हूँ"—ऐसी दृष्टि तुमको करनी चाहिये ॥५६॥

[उपदेशके सारको कहते हैं—] इस प्रकार तुम उक्त हरिणके दृष्टान्तसे अपनेको मृतप्राय देखकर अपने चित्तको हृदयमें रोको और दूरसे श्रवणमात्रसे ही चित्तमें हलचल करनेवाले कर्णेन्द्रियकी नदीके समान विषयोंकी ओर दौड़ती हुई वृत्तियोंको रोककर अपने चित्तमें

प्राचीनबर्हिरुवाच

श्रुतमन्वीक्षितं ब्रह्मन् ! भगवान्यदभाषत ।
नैतज्जानन्त्युपाध्यायाः किं न ब्रूयुर्विदुर्यदि ॥५८॥
संशयोऽत्र तु मे विप्र संछिन्नस्तत्कृतो महान् ।
ऋषयोऽपि हि मुह्यन्ति यत्र नेन्द्रियवृत्तयः ॥५९॥
कर्माण्यारभते येन पुमानिह विहाय तम् ।
अमुत्राऽन्येन देहेन जुष्टानि स यदश्नुते ॥६०॥

स्थापन करो; विषयासक्त पुरुषोंसे वार्तालाप तथा स्त्रीप्रधान गृहका त्याग कर शुद्ध जीवोंके आश्रय भगवानके प्रेमपात्र होओ। इस क्रमसे तुम संसारके दुःखोंसे निवृत्त हो जाओगे ॥५७॥

राजाने कहा—हे ब्रह्मन् ! आपने जो आत्मतत्त्व कहा है वह मैंने सुना और बिचारा, मालूम होता है कि जिस आत्मतत्त्वका आपने उपदेश दिया है उसको मेरे कर्मकाण्डके आचार्य नहीं जानते थे, यदि वे जानते तो मुझसे क्यों न कहते ? ॥५८॥

हे ब्रह्मन् ! उन उपाध्यायोंने मेरे मनमें आत्माके विषयमें जो असम्भावनारूप महान् संशय उत्पन्न कर दिया था उसको आपने दूर कर दिया; परन्तु जिस आत्मतत्त्वमें इन्द्रियोंकी पहुँच न होनेसे ऋषियोंको भी मोह हो जाता है केवल इस विषयमें मुझे कुछ सन्देह है ॥५९॥

[दो श्लोकोंसे संक्षेपमें बतलाते हैं—] मनुष्य जिस देहसे कर्म करता है उसको इसी लोकमें छोड़कर अन्य लोकों (स्वर्ग, नरकादि) में कर्मवश पाये हुए दूसरे देहसे, पूर्वदेह कृत कर्मोंका, भोग करता है ॥६०॥

[इस प्रकारका वेद जाननेवालोंका सिद्धान्त अनेकों शास्त्रोंमें सुना जाता है—"प्राप्यपुण्यकृतान् लोकान्" इत्यादि वैसे ही "शरीरजैः

इति वेदविदां वादः श्रूयते तत्र तत्र ह ।
कर्म यत्क्रियते प्रोक्तं परोक्षं न प्रकाशते ॥६१॥

नारद उवाच

येनैवाऽऽरभते कर्म तेनैवाऽमुत्र तत्पुमान् ।
भुंक्ते ह्यव्यवधानेन लिङ्गेन मनसा स्वयम् ॥६२॥
शयानमिममुत्सृज्य श्वसन्तं पुरुषो यथा ।
कर्मात्मन्याहितं भुङ्क्ते तादृशेनेतरेण वा ॥६३॥

कर्मदोषैर्याति स्थावरतां नरः'' इत्यादि । संशय यह है कि जब स्थूल-शरीरका नाश हो गया और दूसरे शरीरसे कर्मफलका भोग हुआ तो कृतनाश अकृताभ्यागम दोष प्राप्त होगा अर्थात् जिसने कर्म नहीं किया उसको फल भोगना पड़ेगा और जिसने किया उसको नहीं भोगना पड़ेगा] ।

दूसरा संशय यह है—वेदविहित यज्ञादि कर्म तो कर्म करनेके अगले क्षणमें अदृश्य होकर दृष्टिगोचर नहीं होते हैं इस कारण यज्ञ आदिके नष्ट हो जानेसे उनका परलोक भोग भी नहीं बन सकता ॥ ६१ ॥

नारदजीने कहा—मनुष्य जिस देहसे (अर्थात् मनप्रधान लिंग देहसे) इस लोकमें कर्म करता है उसी व्यवधान-रहित मन प्रधान लिङ्ग शरीरसे परलोकमें कर्मोंका फल भोगता है (स्वप्नके दृष्टान्तसे लिङ्ग शरीरका ही भोक्तृत्व दिखलाते हैं) जैसे सोया हुआ पुरुष जाग्रत् देहको जीता हुआ छोड़कर स्वप्नमें उसी जाग्रत् देहके समान दूसरे देहसे अथवा अन्य प्रकृतिके कर्मोंसे उपाधिभूत पशु आदि देहसे मनमें संस्काररूपसे स्थित कर्मफलको भोगता है, वैसे ही परलोक फ़लको भी भोगता है—यह अभिप्राय है ॥ ६२ ॥

जैसे सोता हुआ पुरुष, इस जीवित शरीरका अभिमान छोड़कर स्वप्नमें उसके समान ही दूसरे शरीरसे (अथवा दूसरे पशु

ममैते मनसा यद्यदसावहमिति ब्रुवन् ।
गृह्णीयात्तत्पुमान्राद्धं कर्म येन पुनर्भवः ॥६४॥
यथाऽनुमीयते चित्तमुभयैरिन्द्रियेहितैः ।
एवं प्राग्देहजं कर्म लक्ष्यते चित्तवृत्तिभिः ॥६५॥

आदि शरीरसे) मनमें संस्काररूपसे स्फुरण हुए कर्मफलको भोगता है वैसे ही परलोकमें भी वह कर्मफलोंको भोगता है ॥६३॥

[लिङ्ग शरीरके दृष्टान्तसे लिङ्ग शरीरविशिष्टमें भोक्तृत्व भले ही हो किन्तु कर्तृत्व नहीं हो सकता, क्योंकि दान और प्रतिग्रह आदिमें तो स्थूलशरीरमें कर्तृत्व दीखता है ऐसी आशङ्का कर लिङ्ग-शरीरविशिष्टमें ही कर्तृत्व है स्थूलशरीर तो केवल द्वारमात्र है, इसीको स्पष्ट करते हैं—] "ये पुत्र मेरे हैं"; "मैं ब्राह्मण हूँ" ऐसा कहनेवाला मनुष्य जिस-जिस शरीरमें अहङ्कार करता है उस-उस शरीरसे उत्पन्न हुए पुण्य, पाप आदि कर्मोंका भी वह ग्रहण करता है और उन्हीं कर्मोंके कारण उसका पुनर्जन्म होता है । [भाव यह है कि अभिमानविशिष्ट मनमें कर्तृत्व है और अभिमानका विषय देह तो पुत्रादिकी देहके समान द्वारमात्र है ।] ॥६४॥

[इस प्रकार प्रथम शङ्काका उत्तर तीन श्लोकोंसे दिया अब कर्मोंके नष्ट होनेसे परलोकमें भोग नहीं हो सकता इस दूसरी शङ्का-का उत्तर तीन श्लोकोंसे देते हैं—]

जैसे ज्ञानेन्द्रियों और कर्मेन्द्रियोंकी चेष्टाओंसे चित्तका अनुमान हो जाता है वैसे ही चित्तकी वृत्तियोंसे पूर्व शरीरसे होनेवाले पुण्य-पाप कर्मोंका अनुमान होता है [भाव यह है सब इन्द्रियोंसे एक ही समयमें ज्ञान नहीं हो सकता —देखिये गौतम सूत्र 'युगपज्ज्ञा-नानुत्पत्तिर्मनसो लिङ्गम्" इससे चित्तकी सत्ता स्थित होती है और जो मनकी विचित्र वृत्तियाँ होती हैं उनसे पूर्व जन्मके पुण्य-पाप कर्मोंका

नाऽनुभूतं क चाऽनेन देहेनाऽदृष्टमश्रुतम् ।
कदाचिदुपलभ्येत यद्रूपं यादृगात्मनि ॥६६॥
तेनाऽस्य तादृशं राजँल्लिङ्गिनो देहसम्भवम् ।
श्रद्धत्स्वाऽननुभूतोऽर्थो न मनः स्प्रष्टुमर्हति ॥६७॥
मन एव मनुष्यस्य पूर्वरूपाणि शंसति ।
भविष्यतश्च भद्रं ते तथैव न भविष्यतः ॥६८॥
अदृष्टमश्रुतं चाऽत्र क्वचिन्मनसि दृश्यते ।
यथा तथाऽनुमन्तव्यं देशकालक्रियाश्रयम् ॥६९॥

अनुमान हो सकता है, क्योंकि विचित्र वृत्तियाँ इस जन्मकी नहीं हैं जैसा अग्रिम श्लोकसे कहेंगे।] ॥६५॥

इस वर्तमान देहसे कभी न अनुभव की हुई, न देखी और सुनी हुई वस्तु कभी ठीक उसी आकार और परिमाणकी स्वप्न या मनोराज्यमें उपलब्ध होती है; ॥६६॥

हे राजन् ! ऐसी उपलब्धि होती है इस कारण पूर्व जन्मकी वासनाओंके आश्रय इस लिङ्ग शरीरको पूर्वोक्त ज्ञानके जनक अनुभव पूर्व देहमें हुए अर्थात् उसी प्रकारके अनुभव पूर्व देहसे थे ऐसा मान लो, क्योंकि जिस वस्तुका पहले अनुभव नहीं हुआ उसका मनमें स्फुरण नहीं होता है ॥६७॥

[तेरा कल्याण हो, यह कहकर फिर कहते हैं कि मनकी वृत्तियोंसे इस शरीरके पूर्व और पीछेके शरीरोंका ज्ञान हो जाता है—] मनकी (उदार और कृपणादि) वृत्तियोंसे विदित होता है कि अमुक मनुष्य पहले जन्ममें क्या था और आगे किस जन्ममें जानेवाला है ॥६८॥

[पूर्वपक्ष—कभी-कभी स्वप्नमें असम्भव विषय दिखायी देते हैं जैसे पर्वतकी चोटीमें समुद्र, दिनमें तारे, अपना शिर कटा हुआ।

सर्वे क्रमानुरोधेन मनसीन्द्रियगोचराः ।
आयान्ति वर्गशो यान्ति सर्वे स मनसो जनाः ॥७०॥
सत्त्वैकनिष्ठे मनसि भगवत्पार्श्ववर्तिनि ।
तमश्चन्द्रमसीवेदमुपरज्यावभासते ॥७१॥

इसका क्या कारण है ? समाधान—] कभी न देखा हुआ और न सुना हुआ दृश्य यदि किसीके मनमें स्फुरित तो अनुमान करना चाहिये कि वह देश काल और कर्मके आश्रयसे होता है । (देशका आश्रय यह है कि कहीं समुद्र देखा) उसे निद्राके दोषसे पर्वतपर देखता है । कालका आश्रय यह है कि रातको तारे देखे और निद्राके दोषसे उनको दिनमें भी देखता है । कर्मका आश्रय यह है कि कभी शिर छोड़कर सारे शरीरमें तेल लगाया और उबटन किया किन्तु निद्राके दोषसे शिर कटा हुआ देखता है । दूसरी बात यह भी है कि पूर्व-पक्ष करनेवाला भी यह नहीं बता सकता कि ऐसे स्वप्न किस प्रकार दिखायी देते हैं तब जैसा कहा है उसीको ठीक समझना चाहिये ॥६९॥

[प्रश्नः—दरिद्र अपनेको राजा और राजा अपनेको कङ्गाल कैसे देखता है ? समाधान—] सब मनुष्योंके मन (अनेकों जन्मों-के संस्कारोंसे युक्त होते हैं) एक समान हैं और उनमें इन्द्रियोंके विषय पुण्य-पाप क्रमसे अथवा एक साथ मनमें स्फुरित होते हैं इस-लिये सब प्रकारके विषय मनमें प्राप्त होते हैं और निकल भी जाते हैं । [निष्कर्ष यह है कि जब सबके मनमें समग्र विषय प्राप्त होते हैं तो राजाको रङ्कपना और रङ्कको राजापना प्रतीत होना असम्भव नहीं है ।] ॥७०॥

[अबतक यह कहा कि स्वप्नमें क्रमसे दृश्य दिखायी देते हैं अब कहते हैं कि ये एक साथ भी दिखायी देते हैं—] जिस प्रकार अप्रत्यक्ष राहु चन्द्रमामें (ग्रहणकालमें) दिखायी देता है उसी प्रकार

नाऽहं ममेति भावोऽयं पुरुषे व्यवधीयते ।
यावद्बुद्धिमनोऽक्षार्थगुणव्यूहो ह्यनादिमान् ॥७२॥
सुप्तिमूर्च्छोपतापेषु प्राणायनविघाततः ।
नेहतेऽहमिति ज्ञानं मृत्युप्रज्वारयोरपि ॥७३॥
गर्भे बाल्येऽप्यपौष्कल्यादेकादशविधं तदा ।
लिङ्गं न दृश्यते यूनः कुह्वां चन्द्रमसो यथा ॥७४॥

यह सम्पूर्ण जगत् सत्त्वगुणसे युक्त भगवान्‌के ध्यानपरायण भक्तोंके मनमें संयोगको प्राप्त हुआ-सा एक साथ प्रतीत होता है ॥७१॥

[यह सिद्ध हुआ कि स्थूल देहका नाश होनेपर लिङ्गदेह बनी रहती है, इसलिये ६९ वें श्लोकमें की गई शङ्का, अर्थात् कर्ता अन्य है और भोक्ता अन्य है, निर्मूल हो गयी। फिर भी शङ्का होती है जब कि लिङ्गदेहका स्थूलदेहके द्वारा कर्तृत्व-भोक्तृत्व है, अकेलेका नहीं; तब तो स्थूलदेहके अभावमें जीवको कर्तृत्व-भोक्तृत्वभावसे मुक्त हो जाना चाहिये ? समाधान—] तबतक अनादि कालसे प्रवृत्त बुद्धि, मन, इन्द्रियाँ और शब्द-स्पर्श आदिका कार्य लिङ्गशरीर रहता है जबतक मनुष्यका स्थूलदेह, इन्द्रिय, स्त्री, पुत्र आदिके साथ "मैं और मेरा इत्यादिरूप अध्यास नहीं टूटता। [भाव यह है कि अहङ्कार सूक्ष्मशरीरके साथ भी रहता है इस कारण मुक्ति नहीं होती ।] ॥७२॥

[अब दो श्लोकोंसे यह कहते हैं कि सुषुप्ति, मूर्च्छा आदिमें अहङ्कारके न होनेसे जीवकी मुक्ति क्यों नहीं होती ?] सुषुप्ति, मूर्छा, इष्टवियोगसे उत्पन्न दारुण दुःख, मृत्युकाल और उग्र ज्वरमें इन्द्रियोंके व्याकुल होनेसे "मैं और मेरा ज्ञान" स्पष्ट रूपसे प्रतीत नहीं होता है। [भाव यह है कि पूरा ज्ञान तो नहीं रहता है किन्तु सूक्ष्म रहता है इसको अग्रिम श्लोकमें दिखायेंगे ।] ॥७३॥

जैसे युवा पुरुषमें तत्-तत् इन्द्रियोंमें अध्यास होनेसे मैं देखता

अर्थे ह्यविद्यमानेऽपि संसृतिर्न निवर्तते ।
ध्यायतो विषयानस्य स्वप्नेऽनर्थागमो यथा ॥७५॥
एवं पञ्चविधं लिङ्गं त्रिवृत्षोडशविस्तृतम् ।
एष चेतनया युक्तो जीव इत्यभिधीयते ॥७६॥
अनेन पुरुषो देहानुपादत्ते विमुञ्चति ।
हर्षं शोकं भयं दुःखं सुखं चाऽनेन विन्दति ॥७७॥

हूँ, मैं सुनता हूँ इत्यादि ग्यारह प्रकारके अहङ्कार देखे जाते हैं वैसे गर्भावस्था और बाल्यावस्थामें इन्द्रियोंके सूक्ष्म होनेके कारण अहङ्कार नहीं दिखाई देता है, किन्तु सूक्ष्मरूपसे वह रहता अवश्य है जैसे चन्द्रमा यद्यपि अमावास्याके दिनमें नहीं दिखाई देता है, तथापि अप्रत्यक्षरूपसे वह है ही ॥७४॥

[अब कहते हैं कि अध्यास अपने आप निवृत्त नहीं होता है—] यद्यपि स्वप्नमें देखे गये दुःखजनक पदार्थ बिलकुल असत्य हैं तथापि जागे विना उनकी निवृत्ति नहीं हो सकती, वैसे ही रूप, रस आदि विषयोंका ध्यान करनेवाले पुरुषका संसार वास्तवमें सत्य न होनेपर भी आत्मज्ञान आदि साधनोंके विना दूर नहीं हो सकता है ॥७५॥

[अब साढ़े तीन श्लोकोंसे यह दिखलाते हैं कि जबतक सूक्ष्मशरीर रहता है, तबतक संसारकी निवृत्ति नहीं होती—] पञ्चतन्मात्रारूप और ग्यारह इन्द्रियों सहित सोलह प्रकारसे विस्तारको प्राप्त हुआ यह त्रिगुणात्मक लिङ्गशरीर चेतनासे युक्त होकर जीव नामसे कहा जाता है ॥७६॥

इसी लिङ्गशरीरसे युक्त हुआ पुरुष उच्च-नीच स्थूलशरीरको स्वीकार करता है और त्याग देता है । इसीसे वह हर्ष, शोक, भय, दुःख और सुखका अनुभव करता है ॥७७॥

यथा तृणजलूकेयं नाऽपयात्यपयाति च ।
न त्यजेन्म्रियमाणोऽपि प्राग्देहाभिमतिं जनः ॥७८॥
यावदन्यं न विन्देत व्यवधानेन कर्मणाम् ।
मन एव मनुष्येन्द्र ! भूतानां भवभावनम् ॥७९॥
यदाऽक्षैश्चरितान्ध्यायन्कर्माण्याचिनुतेऽसकृत् ।
सति कर्मण्यविद्यायां बन्धः कर्मण्यनात्मनः ॥८०॥
अतस्तदपवादार्थं भज सर्वात्मना हरिम् ।
पश्यंस्तदात्मकं विश्वं स्थित्युत्पत्त्यप्यया यतः ॥८१॥

[शङ्का—क्या एक देहके छोड़ने और दूसरी देहके ग्रहण करनेके अन्तरालमें विदेह भाव होता है ? समाधान—] जैसे तृणजलौका (एक प्रकारका कीड़ा) पूर्व पकड़े हुए तृणको तबतक नहीं छोड़ती जबतक दूसरे तृणको मज़बूतीसे पकड़ नहीं लेती, इसी प्रकार मुमूर्षु भी पहली देहका अभिमान तबतक नहीं छोड़ता है जबतक कि पूर्व देहको उत्पन्न करनेवाले कर्मोंकी समाप्ति होकर दूसरी देहको उत्पन्न करनेवाले कर्मोंका प्रादुर्भाव होनेसे दूसरी देहको स्वीकार न कर ले । हे मनुष्येन्द्र ! निश्चय करके मन ही मनुष्योंका जन्म, मरण आदि दुःखोंका कारण है ॥७८॥७९॥

[अब यह कहते हैं किस प्रकार संसारबन्धन बना रहता है—] अविद्यादशामें आत्मानुसन्धानसे रहित मनुष्यसे शुभाशुभ कर्म बनते हैं । जब कर्म हुए तब उनके अनुसार विषयभोग प्राप्त होते हैं, फिर वह पुरुष इन्द्रियोंसे उपभुक्त विषयोंका मनसे स्मरण करता हुआ उनकी प्राप्तिके लिये फिर कर्म करता है; कर्म करनेपर बारम्बार संसाररूप बन्धनको प्राप्त होता है ॥८०॥

[संसारनिवृत्तिका उपाय कहते हैं—] इस जगत्के जिस भगवान्से जन्म, पालन और लय होते हैं, ऐसे जगत्को भगवत्स्वरूप समझ कर तुम एकाग्र चित्तसे श्रीहरिका भजन करो ॥८१॥

दूसरा प्रकरण

अपरोक्ष ज्ञानका उपदेश

अपने पिताकी आज्ञाका पालन करनेवाले राजा प्राचीनबर्हिःके पुत्र प्रचेतसोंने जप-यज्ञसे पुरञ्जन भगवान्‌को प्रसन्न किया। तदनन्तर अन्तःकरणके शुद्ध होनेपर आत्मविचारका सङ्कल्प करके वे पश्चिम दिशामें समुद्रतटकी ओर चले गये, जहाँ जाजलि नामक ऋषिको मुक्ति प्राप्त हुई थी। नारदजीने प्राण, मन, वाणी और दृष्टिको वशमें किये हुए, आसनोंको जीते हुए, अपने सम्पूर्ण अङ्गोंको शान्त तथा निश्चल किये हुए और शुद्ध ब्रह्ममें लीन उन प्रचेतसोंको देखा और उनके समीप गये। प्रचेतसोंने दण्डवत् प्रणाम और पूजा करके कहा—"हे प्रभो! हमें उस भगवान्‌के स्वरूपको प्रकाशित करनेवाले आत्मज्ञानका उपदेश दीजिये, जिससे हम इस दुस्तर संसारसागरको अनायास तर जायँ। उनके प्रति नारदजीने यों उपदेश दिया—

नारद उवाच*

तज्जन्म तानि कर्माणि तदायुस्तन्मनो वचः।
नृणां येनेह विश्वात्मा सेव्यते हरिरीश्वरः ॥९॥
किं जन्मभिस्त्रिभिर्वेह शौक्लसावित्रयाज्ञिकैः।
कर्मभिर्वा त्रयीप्रोक्तैः पुंसोऽपि विबुधायुषा ॥१०॥

इस संसारमें वही जन्म सफल है, वे ही कर्म सार्थक हैं, वही जीवन जीवन है, वे ही मन, वाणी, बुद्धि, इन्द्रिय आदि श्रेष्ठ हैं जिनसे विश्वके आत्मा भगवान् श्रीहरिकी सेवा होती है ॥९॥

जिन अधोनिर्दिष्ट जन्म आदिके उपलब्ध होनेपर भी यदि श्रीहरि भगवान् अविद्यानिरासपूर्वक अपने स्वरूपका साक्षात्कार नहीं कराते, तो उन तीन प्रकारके (शौक्ल, सावित्र और याज्ञिक) जन्मोंसे

---

* भा० ४-३१-९ इत्यादि।

श्रुतेन तपसा वा किं वचोभिश्चित्तवृत्तिभिः ।
बुद्ध्या वा किं निपुणया बलेनेन्द्रियराधसा ॥११॥
किं वा योगेन साङ्ख्येन न्यायस्वाध्याययोरपि ।
किं वा श्रेयोभिरन्यैश्च न यत्राऽऽत्मप्रदो हरिः ॥१२॥
श्रेयसामपि सर्वेषामात्मा ह्यवधिरर्थतः ।
सर्वेषामपि भूतानां हरिरात्माऽऽत्मदः प्रियः ॥१३॥

अथवा तीनों वेदों द्वारा प्रतिपादित कर्मोंसे अथवा देवताओंके बराबर दीर्घ आयु प्राप्त करनेसे क्या फल है ? [शौक्र जन्म अर्थात् शुद्ध माता और पितासे जन्म, सावित्र अर्थात् यज्ञोपवीतादि संस्कारयुक्त होना और याज्ञिक अर्थात् यज्ञकी दीक्षा लेना ।] ॥१०॥

वेदान्त आदिके श्रवणसे, तपसे, शास्त्रका व्याख्यान करनेसे अथवा अद्भुत स्मरणशक्तिसे, उत्तम बुद्धिसे, बलसे और इन्द्रियोंकी पटुतासे (सुचारुरूपसे अपने-अपने दर्शन, स्पर्श आदि कार्यका सम्पादन करनेसे) क्या फल है ? यदि उनसे भगवान्‌का साक्षात्कार न हुआ ॥११॥

प्राणायाम आदि योगसाधनोंसे, केवल आत्माकी देहसे भिन्नता जान लेनेसे, संन्याससे और अन्य व्रत, वैराग्य, दान, तीर्थाटन आदि श्रेयके साधनोंसे क्या प्रयोजन है ? जिनके प्राप्त होनेपर भी हरि आत्मज्ञान देनेवाले नहीं होते ॥१२॥

[शङ्का—पूर्वोक्त जन्म आदि भाँति-भाँति फलोंके साधन हैं, एकमात्र हरिसेवा न होनेसे उन्हें व्यर्थ कहना कहाँतक सङ्गत हो सकता है ? समाधान—] विचार करनेसे प्रतीत होता है कि सब श्रेयःसाधनोंके फलोंकी पराकाष्ठा आत्मा ही है, क्योंकि आत्माके ही सम्बन्धसे सब प्रिय लगते हैं और परमानन्दरूप होनेके कारण सब प्राणियोंकी आत्मा श्रीहरि हैं और वे ही जीवकी अविद्याको दूर करके आत्मप्राप्ति कराते हैं, इसलिए हरिकी सेवामें ही अपनेको लगावे ॥१३॥

यथा तरोर्मूलनिषेचनेन
तृप्यन्ति तत्स्कन्धभुजोपशाखाः ।
प्राणोपहाराच्च यथेन्द्रियाणां
तथैव सर्वार्हणमच्युतेज्या ॥१४॥
यथैव सूर्यात् प्रभवन्ति वारः
पुनश्च तस्मिन्प्रविशन्ति काले ।
भूतानि भूमौ स्थिरजङ्गमानि
तथा हरावेव गुणप्रवाहः ॥१५॥
एतत्पदं तज्जगदात्मनः परं
सकृद्विभातं सवितुर्यथा प्रभा ।
यथाऽसवो जाग्रति सुप्तशक्तयो
द्रव्यक्रियाऽज्ञानभिदाभ्रमात्ययः ॥१६॥

जैसे वृक्षकी जड़में पानी देनेसे ही उसका तना, बड़ी-बड़ी डालियाँ और उनकी शाखा-प्रशाखाएँ सब तृप्त हो जाती हैं और जैसे प्राणके भोजन करनेसे सब इन्द्रियाँ तृप्त हो जाती हैं, वैसे ही अच्युत भगवान्की आराधना करनेसे सम्पूर्ण देवताओंकी आराधना हो जाती है ॥१४॥

[अब दृष्टान्तपूर्वक यह दिखलाते हैं कि श्रीहरि सबके मूल हैं—] जैसे वर्षाकालमें सूर्यसे जल उत्पन्न होता है और ग्रीष्ममें वह फिर उसीमें प्रवेश कर जाता है और जैसे स्थावर और जङ्गम प्राणी पृथ्वीसे उत्पन्न होते हैं और फिर उसीमें लीन हो जाते हैं वैसे ही यह चेतन-जड़ प्रपञ्च सृष्टिकालमें श्रीहरिसे उत्पन्न होता है और प्रलयमें उन्हींमें लीन हो जाता है ॥१५॥

[शङ्का—सब प्रपञ्च हरिसे उत्पन्न होता है और हरिमें ही लीन हो जाता है, ऐसा कहनेसे प्रपञ्चके आधार हरि भी सोपाधिक हो

यथा नभस्यभ्रतमःप्रकाशा
भवन्ति भूपा न भवन्त्यनुक्रमात् ।
एवं परे ब्रह्मणि शक्तयस्त्वमू
रजस्तमः सत्त्वमिति प्रवाहः ॥१७॥
तेनैकमात्मानमशेषदेहिनां
कालं प्रधानं पुरुषं परेशम् ।
स्वतेजसा ध्वस्तगुणप्रवाह-
मात्मैकभावेन भजध्वमद्धा ॥१८॥

गये ? समाधान—] यह जगत् तो भगवान्का शास्त्रप्रसिद्ध निरुपाधिक स्वरूप ही है अर्थात् उनसे भिन्न नहीं है। जो यह अन्यथा दिखायी देता है वह कदाचित् प्रतीत गन्धर्व नगरके समान मिथ्या ही दिखायी देता है। जैसे सूर्यकी प्रभा उससे पृथक् प्रतीत होती है, किन्तु पृथक् है नहीं अथवा जैसे इन्द्रियोंका जाग्रत् अवस्थामें पृथक्-पृथक् स्फुरण होता है और सुषुप्तिमें नहीं होता वैसे ही यद्यपि पञ्चमहाभूत, इन्द्रियाँ, उनके देवता तथा इनका भेद ये सब सृष्टिकालमें भिन्न-भिन्न प्रतीत होते हैं तथापि उनका लय भगवान्में ही होता है ॥१६॥

[शङ्का—असङ्ग हरिसे प्रपञ्चकी उत्पत्ति और उन्हींमें उसका लय कैसे हो सकता है ? समाधान—] हे राजाओ ! जैसे आकाशमें कभी मेघ, कभी अन्धकार और कभी प्रकाश उत्पन्न होते हैं और कभी लीन हो जाते हैं और उनसे आकाश लिप्त नहीं होता है, वैसे ही परब्रह्ममें सत्त्व, रज, तम शक्तियाँ कभी-कभी उत्पन्न हो जाती हैं और कभी-कभी लीन हो जाती हैं। [भाव यह है कि इसी प्रकार यह जगत् प्रवाह चलता है और भगवान् इससे लिप्त नहीं होते।] ॥१७॥

सबके कारण होनेसे एक (भेदशून्य), सब देहधारियोंकी आत्मा,

निरस्तसङ्कल्पविकल्पमद्वयं
द्वयात्मवादो परमात्मलम्भनम् ।
अनादिमध्यान्तमजस्रनिर्वृतिं
संज्ञप्तिमात्रं भजथाऽमुया दृशा ॥१९॥
दयया सर्वभूतेषु सन्तुष्ट्या येन केन वा ।
सर्वेन्द्रियोपशान्त्या च तुष्यत्याशु जनार्दनः ॥२०॥
अपहृतसकलैषणामलात्म-
न्यविरतमेधितभावनोपहूतः ।
निजजनवशगत्वमात्मनोऽय-
न्न सरति छिद्रवदक्षरः सतां हि ॥२१॥

जगत्के निमित्त, उपादानकारण और कर्ता, ब्रह्मादिके भी ईश्वर और अपनी चित्शक्तिसे इस संसारका तिरस्कार करनेवाले भगवान्का अभेद-बुद्धिसे साक्षात् (विना किसी व्यवधानके) भजन करो ॥१८॥

इस प्रकारसे भजन करना चाहिये कि ब्रह्मस्वरूप सङ्कल्प-विकल्पसे रहित, आदि, अन्त और मध्यसे वर्जित सदा सुखस्वरूप है । जो द्वैत है वह परमात्माको ढक देता है ॥१९॥

[साधनोंको बतलाते हैं—] सम्पूर्ण प्राणियोंपर दया करनेसे, प्रारब्धवश जो कुछ मिल जाय, उसीसे सन्तोष करनेसे और सम्पूर्ण इन्द्रियोंको वशमें रखनेसे जनार्दन भगवान् शीघ्र प्रसन्न हो जाते हैं ॥२०॥

[अब कहते हैं कि जिसके ऊपर भगवान् प्रसन्न हो जाते हैं फिर उसे कभी नहीं छोड़ते—] जिनकी तिल-तिल चाह मिट गई है अर्थात् सम्पूर्ण कामनाएँ दूर हो गई हैं, ऐसे सज्जनोंके शुद्ध अन्तः-करणमें निरन्तर बढ़नेवाली भक्तिसे सन्निधिको प्राप्त हुए और अपने-को भक्तोंके वशीभूत समझनेवाले भगवान् उन साधुओंके हृदयसे हृदयाकाशके समान नहीं निकलते ॥२१॥

न भजति कुमनीषिणां स इज्यां
हरिरधनात्मधनप्रियो रसज्ञः ।
श्रुतधनकुलकर्मणां मदैर्ये
विदधति पापमकिञ्चनेषु सत्सु ॥२२॥
श्रियमनुचरतीं तदर्थिनश्च
द्विपदपतीन्विबुधांश्च यत्स्वपूर्णः ।
न भजति निजभृत्यवर्गतन्त्रः
कथममुमुद्विसृजेत्पुमान्कृतज्ञः ॥२३॥

सांसारिक धनसे हीन किन्तु परमार्थ धनसे सम्पन्न जिनके प्रिय हैं, जो भक्तोंकी प्रेमभक्तिको जानते हैं वे भगवान् विद्या, धन, कुल और कर्मके मदसे भक्तोंका तिरस्कार करनेवाले दुष्ट पुरुषोंकी पूजाको स्वीकार नहीं करते ॥२२॥

[भगवान्‌की भक्ताधीनताको दिखलाते हैं—] जो अपने स्वरूपानन्दसे परिपूर्ण होनेके कारण, निरन्तर सेवा करनेवाली लक्ष्मीके या उसकी इच्छा करनेवाले राजा महाराजाओं एवं देवताओंके अनुगामी न होकर अपने अनन्य भक्तोंके इच्छानुसार बर्ताव करते हैं ऐसे परमेश्वरका कौन कृतज्ञ पुरुष किञ्चित् कालके लिए भी परित्याग करेगा ? ॥२३॥

सोलहवाँ अध्याय

ब्रह्माजीका उपदेश

ईश्वरके समर्थनमें

जब ईश्वरको यह इच्छा हुई कि मैं अनेक हो जाऊँ तब उनकी नाभिसे उत्पन्न हुए कमलसे ब्रह्माका प्रादुर्भाव हुआ। उनके पुत्र मनुने अपने पुत्र प्रियव्रतपर संसारके पालनका भार सौंपा, किन्तु प्रियव्रतकी घरमें आसक्ति न थी, उसने नारदजीके आश्रममें जाकर अध्यात्मज्ञान सीखनेके लिये दीक्षा ली। सम्पूर्ण प्राणियोंके अभिप्रायको जाननेवाले ब्रह्माजी नारदजीके आश्रममें जाकर उपदेश देने लगे।

श्रीब्रह्मोवाच❀

निबोध तातेदमृतं ब्रवीमि
माऽसूयितुं देवमर्हस्यप्रमेयम्।

हे तात! मैं तुमसे सत्य ही कहता हूँ तुम मेरे कथनको सुनो। हम सब अर्थात् मैं, रुद्र, तुम्हारे पिता यह मनु और नारदजी

❀ भा० ५-१-११ इत्यादि।

वयं भवस्ते तत एष महर्षि-
र्वहाम सर्वे विवशा यस्य दिष्टम् ॥११॥
न कश्चित्तपसा विद्यया वा
न योगवीर्येण मनीषया वा ।
नैवाऽर्थधर्मैः परतः स्वतो वा
कृतं विहन्तुं तनुभृद्विभूयात् ॥१२॥
भवाय नाशाय च कर्म कर्तुं
शोकाय मोहाय सदा भवाय ।
सुखाय दुःखाय च देहयोग-
मव्यक्तदिष्टं जनताऽङ्ग धत्ते ॥१३॥

विवश होकर जिनकी आज्ञाका पालन करते हैं, उन प्रमाणातीत ईश्वर-पर दोषारोपण नहीं करना चाहिये । [भाव यह है कि मैं ईश्वरकी प्रेरणासे तुम्हें प्रजापालनरूप कर्ममें नियुक्त करता हूँ ।] ॥११॥

[चार श्लोकोंसे विवशताको दिखलाते हैं—] कोई भी शरीर-धारी प्राणी तप, विद्या, योगबल, धन, यज्ञानुष्ठान आदिसे स्वयं अथवा किसी दूसरे बलवान्‌की सहायतासे उस भगवान्‌के कार्यको उलट नहीं सकता ॥१२॥

[देह धारणमें तो लोगोंकी परतन्त्रता प्रसिद्ध ही है, क्योंकि—] हे वत्स ! यह जीवसमूह जन्म, मरण, कर्म, शोक, मोह, भय, सुख और दुःख भोगनेके लिये ईश्वरके बनाये हुए देव, मनुष्य आदि शरीरोंको सदा धारण करता है, उसमें तनिक भी उलटफेर नहीं कर सकता । [भाव यह है कि ईश्वराधीन मनुष्य आदिको ये सब भोगने पड़ते हैं ।] ॥१३॥

यद्वाचि तन्त्यां गुणकर्मदामभिः
सुदुस्तरैर्वत्स वयं सुयोजिताः ।
सर्वे वहामो बलिमीश्वराय
प्रोता नसीव द्विपदे चतुष्पदः ॥१४॥
ईशाऽभिसृष्टं ह्यवरुन्धमहेऽङ्ग
दुःखं सुखं वा गुणकर्मसङ्गात् ।
आस्थाय तत्तद्यदयुङ्क्त नाथ-
श्चक्षुष्मताऽन्धा इव नीयमानाः ॥१५॥
मुक्तोऽपि तावद्बिभृयात्स्वदेह-
मारब्धमश्नन्नभिमानशून्यः ।

[अब कहते हैं कि कर्म करनेमें भी लोग परतन्त्र हैं, क्योंकि—] जैसे नथे हुए बैल मनुष्यका जब बोझ ढोते हैं तभी दाना-पानी पाकर सुखी रहते हैं अन्यथा लाठियाँ पड़ती हैं । वैसे ही हे वत्स ! उन भगवान्की वेदवाणीरूपी बड़ी रस्सीमें सत्त्वादि गुणों और उनसे होनेवाले कर्मजन्य ब्राह्मणादि नामोंसे बँधे हुए हम सब उनकी इच्छाके अनुसार कर्म करते हैं; उससे तनिक इधर-उधर होनेपर दण्डभागी होते हैं ॥१४॥

[कर्मोंके फलभोगमें भी जनता परतन्त्र है, यह दिखलाते हैं—] जैसे नेत्रवाला पुरुष अन्धेको छाया या धूपमें जहाँ ले जाना चाहे वहाँ उसे जाना पड़ता है, वैसे ही हे वत्स ! सत्त्वादि गुणोंके अनुसार जैसे हमारे कर्म हैं उन्हींके अनुरूप ईश्वर जो-जो देव, मनुष्य आदिका शरीर देता है, उसीको स्वीकार करके हम उन ईश्वरके दिये हुए सुख-दुःख भोगते हैं, उसमें जरा भी हमारा स्वातन्त्र्य नहीं है ॥१५॥

[शङ्का—यह सब पराधीनता अज्ञानीको है न कि ज्ञानीको ? समाधान—] मनुष्य जैसे स्वप्नमें अनुभूत विषयोंका जागनेके अन-

यथाऽनुभूतं प्रतियातनिद्रः
किं त्वन्यदेहाय गुणान्न वृंक्ते ॥१६॥
भयं प्रमत्तस्य वनेष्वपि स्या-
द्यतः स आस्ते सहषट्सपत्नः ।
जितेन्द्रियस्याऽऽत्मरतेर्बुधस्य
गृहाश्रमः किं नु करोत्यवद्यम् ॥१७॥
यः षट् सपत्नान्विजिगीषमाणो
गृहेषु निर्विश्य यतेत पूर्वम् ।
अत्येति दुर्गाश्रित ऊर्जितारी-
न्क्षीणेषु कामं विचरेद्विपश्चित् ॥१८॥

न्तर निरभिमान होकर स्मरण करता है वैसे ही जीवन्मुक्त पुरुष भी, जबतक प्रारब्ध अर्थात् सुख-दुःख देनेवाले पाप-पुण्यरूप कर्म हैं तब-तक अभिमान शून्य होकर उनको भोगता हुआ देह-धारण करता है [शङ्का—तब भोगवासनासे पुनर्जन्म होगा ? समाधान—] ज्ञानसे अज्ञानका नाश होनेपर दूसरे जन्मके कारणभूत कर्म और वासनाओं-का स्वीकार नहीं करता है, अर्थात् उनसे लिप्त नहीं होता ॥१६॥

[पूर्वपक्ष—घरमें रहकर भोग भोगते हुए पुरुषका अभिमान निवृत्त नहीं हो सकता, ऐसी अवस्थामें उसे मोक्ष कैसे प्राप्त हो सकता है ? इस कारण घर आदिका त्याग करके वनमें चला जाना ही ठीक है, समाधान—] विषयासक्त पुरुषको वनमें भी भय बना रहेगा, क्योंकि उसके छः शत्रु (मन और पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ) साथ ही रहेंगे परन्तु गृहस्थाश्रम जितेन्द्रिय और आत्मामें रमण करने-वाले ज्ञानी पुरुषको रागादि दोष प्राप्त करा सकता है क्या ? कदापि नहीं करा सकता ॥१७॥

[शङ्का—घरमें रहनेवालोंमें राग-द्वेष देखे जाते हैं, अरण्यमें रहने-

त्वं त्वब्जनाभाङ्घ्रिसरोजकोश-
दुर्गाश्रितो निर्जितषट्सपत्नः ।
भुंक्ष्वेह भोगान्पुरुषातिदिष्टा-
न्विमुक्तसङ्गः प्रकृतिं भजस्व ॥१९॥

वालेमें नहीं, समाधान—] इस लोकमें जैसे राजा दुर्गका (किलेका) आश्रय लेकर प्रबल शत्रुओंको जीत लेता है फिर दुर्गमें या उसके बाहर बेखटके निकलता है इसी प्रकार जो विद्वान् छः इन्द्रियरूप शत्रुओंको जीतनेकी इच्छा करता है वह पहले घरमें रहकर कामादि शत्रुओंका अत्यन्त निग्रह कर उन्हें जीतनेका यत्न करे और उन शत्रुओंको वशमें करके घरमें रहे या वनमें विचरे ॥१८॥

[अब यह कहते हैं कि जो गृहस्थाश्रमरूप दुर्गका आश्रयण कहा गया है, वह प्राकृत मनुष्योंके लिये है—] तुम तो पद्मनाभके चरण-कमलकोशरूपी दुर्गका आश्रयण करके छः शत्रुओंको जीतकर ईश्वरके दिये हुए भोगोंका भोग करो [अर्थात् राज्य करते हुए भोगोंका भोग करो] फिर आसक्ति छोड़कर आत्मनिष्ठ होओ ॥१९॥
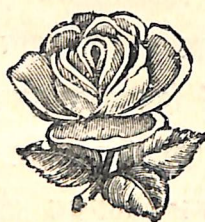
सत्रहवाँ अध्याय

ऋषभदेवजी द्वारा मोक्षधर्मका उपदेश

भगवान् श्रीहरिने अपने अंशसे राजा नाभिकी धर्मपत्नी मेरु देवीके उदरसे अवतार लिया। बड़े शरीर, कान्ति, तेज, बल सम्पत्ति, यश, प्रभाव और सुन्दरतासे युक्त उस पुत्रका नाम पिताने "ऋषभ" रक्खा। तदनन्तर राजा नाभि समयके अनुसार धर्मकी मर्यादाकी रक्षा करनेके निमित्त ऋषभदेव पुत्रको राजसिंहासनपर अभिषिक्त कर मेरु देवीको साथ लेकर बद्रिकाश्रममें चले गये। वहाँ भगवान् नर-नारायणकी उपासना कर थोड़े समयमें उनकी महिमाको प्राप्त हुए अर्थात् जीवन्मुक्त हो गये। गृहस्थोंको गार्हस्थ्य धर्मका उपदेश दे रहे भगवान् ऋषभदेवजीने अपने समान सौ पुत्र उत्पन्न किये। एक समय ऋषभदेवजीने अतिश्रेष्ठ ब्रह्मर्षियोंकी सभामें सम्पूर्ण प्रजाओंके सामने अन्तःकरणको वशमें करनेवाले तथा नम्रता और प्रेमकी अधिकतासे उत्तम बर्ताव करनेवाले भी अपने पुत्रोंको सम्पूर्ण प्रजाको समझानेके निमित्त इस प्रकार उपदेश किया।

ऋषभ उवाच॥

नाऽयं देहो देहभाजां नृलोके
कष्टान्कामानर्हते विड्भुजां ये।

हे पुत्रो! इस लोकके प्राणियोंमें मनुष्यशरीरधारी उन निन्दित विषय-भोगोंके सेवनके अयोग्य है, जो विष्ठा भक्षण करनेवाले कुत्ते

तपो दिव्यं पुत्रका येन सत्त्वं
शुध्येद्यस्माद्ब्रह्मसौख्यं त्वनन्तम् ॥१॥

महत्सेवां द्वारमाहुर्विमुक्ते-
स्तमोद्वारं योषितां सङ्गिसङ्गम् ।
महान्तस्ते समचित्ताः प्रशान्ता
विमन्यवः सुहृदः साधवो ये ॥२॥

ये वा मयीशे कृतसौहृदार्था
जनेषु देहंभरवार्तिकेषु ।
गृहेषु जायात्मजरातिमत्सु
न प्रीतियुक्ता यावदर्थाश्च लोके ॥३॥

और सूअरको भी प्राप्त हैं; किन्तु वह उस उत्तम तपके योग्य है जिससे अन्तःकरणकी शुद्धि होती है और अन्तःकरणकी शुद्धतासे अखण्ड ब्रह्मानन्दकी प्राप्ति होती है ॥१॥

विचारवान् पुरुष साधु-सेवाको ही संसारमुक्तिका द्वार कहते हैं और स्त्रीरत पुरुषोंके सङ्गको आवागमनका द्वार कहते हैं। जो पुरुष सम तथा शुद्धचित्त, क्रोधरहित, सब प्राणियोंके हित कर्ता और दूसरेके दोषोंको नहीं देखनेवाले हैं, उनको श्रेष्ठ पुरुष समझो ॥२॥

अथवा जिन पुरुषोंका मुझ परमात्मामें किया गया प्रेम ही पुरुषार्थ है और जो इस संसारमें केवल देहके पोषणकी बात (विषय चर्चा) करते हैं, उनमें तथा स्त्री, पुत्र, धन आदिसे युक्त घरोंमें जिनका प्रेम नहीं है, वे ही महात्मा हैं ॥३॥

❀ भा० ५-५-१ इत्यादि ।

नूनं प्रमत्तः कुरुते विकर्म
यदिन्द्रियप्रीतय आपृणोति ।
न साधु मन्ये यत आत्मनोऽय-
मसन्नपि क्लेशद आस देहः ॥४॥
पराभवस्तावदबोधजातो
यावन्न जिज्ञासत आत्मतत्त्वम् ।
यावत्क्रियास्तावदिदं मनो वै
कर्मात्मकं येन शरीरबन्धः ॥५॥
एवं मनः कर्मवशं प्रयुङ्क्ते
अविद्ययात्मन्युपधीयमाने ।

जब यह पुरुष इन्द्रियोंकी तृप्तिके लिये अनेक व्यापार करता है तब प्रमत्त होकर अवश्य पाप ही करता है । उसे मैं ठीक नहीं समझता हूँ, क्योंकि उन्हीं पूर्व पापोंके कारण उसका यह दुःखदायी मिथ्या शरीर उत्पन्न हुआ है फिर उन्हीं दुःखदायी पाप-कर्मोंको करना कहाँ तक उचित है ? ॥४॥

[ऊपरके श्लोकोंसे यह दिखलाया कि पूर्व जन्ममें किये गये पापोंसे शरीरकी उत्पत्ति होती है अब कहते हैं कि पूर्व पुण्यसे भी ऐसा ही होता है—] जबतक यह प्राणी अपने सच्चिदानन्द स्वरूपका विचार नहीं करता अर्थात् विचार द्वारा उसे प्रत्यक्ष नहीं कर लेता तबतक अज्ञानसे होनेवाले अपने स्वरूपका (विस्मरणरूप) तिरस्कार होता है और जबतक अज्ञान बना रहता है तबतक कर्म (पुण्य-पाप) नहीं छूटते और जबतक कर्म रहते हैं तबतक मनका कर्म करनेका स्वभाव बना रहता है, जिससे संसार-बन्धन प्राप्त होता है ॥५॥

उपर्युक्त कथनसे विदित होता है कि अविद्या द्वारा आत्माके

प्रीतिर्न यावन्मयि वासुदेवे
न मुच्यते देहयोगेन तावत् ॥६॥

यदा न पश्यत्ययथागुणेहां
स्वार्थे प्रमत्तः सहसा विपश्चित् ।
गतस्मृतिर्विन्दति तत्र तापा-
नासाद्य मैथुन्यमगारमज्ञः ॥७॥

पुंसः स्त्रिया मिथुनीभावमेतं
तयोर्मिथो हृदयग्रन्थिमाहुः ।
अतो गृहक्षेत्रसुताप्तवित्तै-
र्जनस्य मोहोऽयमहं ममेति ॥८॥

आवृत होनेपर प्रवृत्तिस्वभाववाला मन मनुष्यको अपने वशमें कर लेता है अर्थात् उससे पुनः पुनः कर्म कराता है और जबतक मुझ वासुदेवमें प्रीति नहीं होती तबतक पुरुष देहके सम्बन्धसे नहीं छूटता ॥६॥

[केवल इतना ही अर्थात् देह-सम्बन्ध ही नहीं किन्तु और भी अनर्थ होते हैं—] स्वार्थमें प्रमाद करनेवाला विद्वान् भी जब इन्द्रियों-की विषयमें जानेकी चेष्टाओंकों मिथ्या नहीं समझता, तब वह अज्ञानी पुरुष शीघ्र ही स्वरूपस्थितिसे भ्रष्ट होकर मैथुनसुखप्रधान घरका आश्रयण करके नाना प्रकारके दुःख पाता है ॥७॥

[शङ्का—उपयोगके अनुसार स्त्रीसहवाससे केवल सुखका अनु-भव कर रहे पुरुषको सन्ताप कैसे होगा ? समाधान—] विवेकशील पुरुष स्त्री पुरुषका जो एक दूसरेपर अभिमान है (अर्थात् यह मेरी पत्नी है यह मेरा पति है) वही बड़ी भारी हृदयग्रन्थि है, क्योंकि

यदा मनोहृदयग्रन्थिरस्य
कर्मानुबद्धो दृढ आश्लथेत ।
तदा जनः संपरिवर्ततेऽस्मा-
न्मुक्तः परं यात्यतिहाय हेतुम् ॥९॥
हंसे गुरौ मयि भक्त्याऽनुवृत्त्या
वितृष्णया द्वन्द्वतितिक्षया च ।
सर्वत्र जन्तोर्व्यसनावगत्या
जिज्ञासया तपसेहानिवृत्त्या ॥१०॥

इसीसे मनुष्यको घर, क्षेत्र, पुत्र, सम्बन्धी और धन आदिमें ''मैं और मेरा'' अभिमान हो जाता है। [भाव यह है कि प्रत्येक स्त्री-पुरुषमें देह और इन्द्रिय आदिमें ''मैं और मेरा'' अभिमानरूप हृदयग्रन्थि तो है ही किन्तु स्त्री-पुरुषोंमें परस्परके अभिमानसे दूसरी दुर्भेद्य हृदय-ग्रन्थि और उत्पन्न हो जाती है जो इस श्लोकमें कही गई है अर्थात् प्रत्येककी हृदयग्रन्थिसे केवल देह और इन्द्रियमात्रमें ''अहं मम'' यह मोह होता है; स्त्री-पुरुषकी परस्पर हृदयग्रन्थिसे गृह आदि विषयोंमें बड़ा भारी मोह होता है।] ॥८॥

[अब यह कहते हैं कि इसकी निवृत्ति कब होगी ?—]जब पुरुष-की कर्मोंसे बँधी हुई यह मनरूपी हृदयग्रन्थि शिथिल हो जाती है तब वह स्त्री-पुरुषके परस्पर अभिमानरूप (मिथुनीभावरूप) संसारसे विमुख होकर और अनर्थके कारण अहङ्कारका त्याग कर जीवन्मुक्त-रूप परमपदको प्राप्त होता है ॥९॥

[अब चार श्लोकोंसे अहङ्कारके दूर करनेके पचीस साधनोंको कहते हैं—] सारासारका विचार करनेवाले गुरुकी और मेरी सेवा करना और उसमें तत्पर रहना, विषयभोगकी अभिलाषा त्याग देना, शीतोष्ण आदि द्वन्द्वोंका सहन करना, इस लोक और परलोकके दुःखों-

मत्कर्मभिर्मत्कथया च नित्यं
मद्देहसङ्गाद्गुणकीर्तनान्मे ।
निर्वैरसाम्योपशमेन पुत्रा
जिहासया देहगेहात्मबुद्धेः ॥११॥
अध्यात्मयोगेन विविक्तसेवया
प्राणेन्द्रियात्माभिजयेन सध्र्यक् ।
सच्छ्रद्धया ब्रह्मचर्येण शश्व-
दसंप्रमादेन यमेन वाचाम् ॥१२॥
सर्वत्र मद्भावविचक्षणेन
ज्ञानेन विज्ञानविराजितेन ।
योगेन धृत्युद्यमसत्त्वयुक्तो
लिङ्गं व्यपोहे कुशलोऽहमाख्यम् ॥१३॥

का विचार करना, तत्त्वविचार करना, तप करना, काम्यकर्मोंको त्याग देना ॥१०॥

हे पुत्रो ! सब कर्मोंको मेरे अर्पण करना, नित्य मेरी कथा सुनना, उन पुरुषोंका सङ्ग करना जिनका कि केवल मैं ही आराध्य हूँ, और मेरे गुणोंका कीर्तन करना, सब भूतोंसे बैर त्यागना, सबके सुख-दुःख अपने समान देखना, चित्तको शान्त करना, देह और घरमें "मैं और मेरा" आत्मबुद्धि छोड़नेकी इच्छा करना ॥११॥

अध्यात्मशास्त्रका अभ्यास करना, निर्जन देशमें रहना, प्राणायाम, प्रत्याहार, मनकी धारणा और वशीकरण करना, शास्त्रविहित कर्मोंमें श्रद्धा, ब्रह्मचर्य्य, सर्वदा कर्तव्यका परित्याग न करना, व्यर्थ वार्तालाप न करना, ॥१२॥

सर्वत्र परमात्मा व्याप्त हैं, ऐसा बोध करानेमें निपुण अनुभवपर्यन्त ज्ञान प्राप्त करना, समाधिका अभ्यास करना इत्यादि उपायोंसे

कर्माशयं हृदयग्रन्थिबन्ध-
मविद्ययाऽऽसादितमप्रमत्तः ।
अनेन योगेन यथोपदेशं
सम्यग् व्यपोह्योपरमेत योगात् ॥१४॥
पुत्रांश्च शिष्यांश्च नृपो गुरुर्वा
मल्लोककामो मदनुग्रहार्थः ।
इत्थं विमन्युरनुशिष्यादतज्ज्ञा-
न्न योजयेत्कर्मसु कर्ममूढान् ॥१५॥
कं योजयन्मनुजोऽर्थं लभेत
निपातयन्नष्टदृशं हि गर्ते ॥१६॥

धैर्य, प्रयत्न और विवेकसे युक्त पुरुष अहङ्काररूपी लिङ्ग शरीरसे छूट जाता है ॥१३॥

[अब यह कहते हैं कि तदनन्तर साधनोंका भी त्याग कर दे—] इस कारण अज्ञानसे प्राप्त हुए कर्मोंके निवास-स्थान हृदयग्रन्थिरूपी अपने बन्धनको शास्त्रोक्त रीतिसे अनुष्ठित ऊपर कहे हुए उपायोंसे भली भाँति दूर करे । इसके उपरान्त मुक्तिके उपायोंका अनुष्ठान भी छोड़ दे । यद्यपि फलकी सिद्धि होनेपर साधनोंका त्याग सिद्ध ही है तथापि जीवन भर साधनोंका अभ्यास करना चाहिये ऐसी किसीको शङ्का न हो, इसलिए साधन-त्याग कहा गया है ॥१४॥

मेरा अनुग्रह चाहनेवाला और मेरे लोकका प्राप्त करनेका इच्छुक पिता, गुरु या राजा क्रमशः पुत्रोंको, शिष्योंको और प्रजाको क्रोध-रहित होकर यों शिक्षा दे । पुरुषार्थ-लाभके साधन (तत्त्वज्ञान) को न जाननेवाले अतएव मुक्ति पानेकी इच्छासे कर्मोंको मुक्तिका साधन समझकर कर्मोंमें लगे हुए पुरुषोंको फिर काम्यकर्मोंका अनुष्ठान करनेकी शिक्षा न दे । अज्ञानी लोगोंको काम्यकर्मोंमें लगाना

लोकः स्वयं श्रेयसि नष्टदृष्टि-
योऽर्थान्समीहेत निकामकामः ।
अन्योऽन्यवैरः सुखलेशहेतो-
रनन्तदुःखं च न वेद मूढः ॥१७॥
कस्तं स्वयं तदभिज्ञो विपश्चि-
दविद्यायामन्तरे वर्तमानम् ।
दृष्ट्वा पुनस्तं सघृणः कुबुद्धिं
प्रयोजयेदुत्पथगं यथाऽन्धम् ॥१८॥

संसाररूपी गड्ढेमें ढकेल देना है । इससे उस काम्यकर्ममें लगानेवाले पुरुषको कौन-सा पुरुषार्थ मिलेगा ? अर्थात् दूसरोंको भ्रष्ट करनेवाला स्वयं ही भ्रष्ट हो जायगा ॥१५॥१६॥

[पूर्व श्लोकमें जो "न योजयेत् कर्मसु" कहा उसीका विवरण तीन श्लोकोंसे करते हैं—] संसारी जीव अपने कल्याणके साधनमें सर्वथा ज्ञानशून्य है, क्योंकि निरन्तर भोग-विलासके साधनोंमें लगे रहनेके कारण वह भोगोंकी ही इच्छा करता है, अतः वह मूढ़ है, क्योंकि सुखकणके हेतु दूसरोंसे द्रोह करनेके कारण जो नरक आदि महा दुःख होते हैं, उनको वह नहीं जानता ॥१७॥

उस अविद्यामें निमग्न हुए मूढ़ पुरुषको देखकर (अर्थात् परद्रोहसे प्राप्त विषयसे सुखकी इच्छा करनेवाले पुरुषको देखकर) कौन विवेकी दयालु महात्मा उसको फिर काम्यकर्मोंमें ही लगावेगा । गड्ढेकी राहमें जा रहे अन्धेको कौन दयालु पुरुष इसी मार्गसे जाओ कहेगा । अर्थात् जैसे गड्ढेके रास्तेमें जानेवाले अन्धेको उसी मार्गसे जानेकी अनुमति देना अनर्थकारी है वैसे ही कर्मलग्न पुरुषकी फिर कर्ममें प्रेरणा करना भी अनर्थमूल ही है ॥१८॥

गुरुर्न स स्यात्स्वजनो न स स्या-
　　त्पिता न स स्याज्जननी न सा स्यात् ।
दैवं न तत्स्यान्न पतिश्च स स्या-
　　न्न मोचयेद्यः समुपेतमृत्युम् ॥१९॥
इदं शरीरं मम दुर्विभाव्यं
　　सत्त्वं हि मे हृदयं यत्र धर्मः ।
पृष्ठे कृतो मे यदधर्म आरा-
　　दतो हि मामृषभं प्राहुरार्याः ॥२०॥
तस्माद्भवन्तो हृदयेन जाताः
　　सर्वे महीयांसममुं सनाभम् ।
अक्लिष्टबुद्ध्या भरतं भजध्वं
　　शुश्रूषणं तद्भरणं प्रजानाम् ॥२१॥

संसाररूप मृत्युके वशमें पड़े हुए मनुष्यको जो नहीं छुड़ाता है वह न गुरु है, न स्वजन है, न पिता है, न माता है, न देवता है और न पति है ॥१९॥

[इस प्रकार मोक्ष-धर्मोंका उपदेश कर अब ऋषभदेवजी अपने पुत्रोंको समझानेके लिये दो श्लोकोंसे अपनी जन्मकी कथा कहकर भ्रातृसेवारूप धर्मका उपदेश करते हैं—] मैंने इस मनुष्य-शरीरको अपनी इच्छासे ग्रहण किया है, इस कारण यह अतर्क्य है; मेरा हृदय शुद्ध सत्त्वगुणी है जिसमें धर्म वास करता है और मैंने अधर्म-को तो दूरसे ही त्याग दिया है, इस कारण मुझे वृद्ध पुरुष ऋषभ (श्रेष्ठ) कहते हैं ॥२०॥

मैं सबसे श्रेष्ठ हूँ और तुम मेरे शुद्ध सत्त्वगुणी हृदयसे उत्पन्न हुए हो, अतः तुम श्रेष्ठ गुणोंसे सम्पन्न अपने सहोदर बन्धु भरतकी निष्कपट बुद्धिसे सेवा करो । यही मेरी सेवा है और यही प्रजाओं-

भूतेषु वीरुद्भ्य उदुत्तमा ये
सरीसृपास्तेषु सबोधनिष्ठाः ।
ततो मनुष्याः प्रमथास्ततोऽपि
गन्धर्वसिद्धा विबुधानुगा ये ॥२२॥
देवासुरेभ्यो मघवत्प्रधाना
दक्षादयो ब्रह्मसुतास्तु तेषाम् ।
भवः परः सोऽथ विरिञ्चिवीर्यः
स मत्परोऽहं द्विजदेवदेवः ॥२३॥
न ब्राह्मणैस्तुलये भूतमन्य-
त्पश्यामि विप्राः किमतः परं तु ।

का पालन है, अर्थात् भरतके अनुगामी होकर प्रजाओंका पालन करो स्वतन्त्रतासे नहीं ॥२१॥

[अब ब्राह्मणकी सेवा करनी चाहिये, इस आशयसे पाँच श्लोकों द्वारा ब्राह्मणोंकी श्रेष्ठताका वर्णन करते हैं—] चेतन-अचेतन प्राणियोंमें वृक्ष आदि स्थावर श्रेष्ठ हैं, उनसे भी जङ्गम प्राणी श्रेष्ठ हैं, उनमें भी बोधशक्तियुक्त पशु आदि श्रेष्ठ हैं, उनमें भी मनुष्य श्रेष्ठ हैं, मनुष्योंसे प्रमथ, भूत, प्रेत आदि देवयोनि होनेके कारण श्रेष्ठ हैं। उनसे गन्धर्व श्रेष्ठ हैं, उनसे सिद्ध श्रेष्ठ हैं और उनसे देवताओंके सेवक किन्नर श्रेष्ठ हैं ॥२२॥

उनसे असुर, असुरोंसे देवता, देवताओंसे इन्द्र, इन्द्रसे दक्ष आदि ब्रह्माके पुत्र श्रेष्ठ हैं, उनसे शिवजी, शिवजीसे ब्रह्माजी श्रेष्ठ हैं, उन ब्रह्माजीका मैं पूज्य हूँ, इस कारण मैं उनसे श्रेष्ठ हूँ, और ब्राह्मण मेरे पूजनीय हैं इस कारण वे मुझसे भी श्रेष्ठ हैं ॥२३॥

हे ब्राह्मणो ! मैं ब्राह्मणोंके साथ दूसरे प्राणीकी तुलना नहीं कर सकता। उनसे श्रेष्ठ प्राणीको तो कहाँसे देखूँगा, अतः उनसे श्रेष्ठ

यस्मिन्नृभिः प्रहुतं श्रद्धयाऽह-
मश्नामि कामं न तथाऽग्निहोत्रे ॥२४॥
धृता तनूरुशती मे पुराणी
येनेह सत्त्वं परमं पवित्रम् ।
शमो दमः सत्यमनुग्रहश्च
तपस्तितिक्षाऽनुभवश्च यत्र ॥२५॥
मत्तोप्यनन्तात्परतः परस्मा-
त्स्वर्गापवर्गाधिपतेर्न किञ्चित् ।
येषां किमु स्यादितरेण तेषा-
मकिञ्चनानां मयि भक्तिभाजाम् ॥२६॥

दूसरा प्राणी है ही नहीं । मैं मनुष्यों द्वारा ब्राह्मणोंके मुखमें श्रद्धासे हवन किये गये (ब्राह्मणको खिलाये गये) अन्न आदिको जिस श्रद्धासे पाता हूँ उस प्रकार अग्निहोत्रमें अग्निमें हवन किये गये हवनीय पदार्थका भक्षण नहीं करता ॥२४॥

सम्पूर्ण प्राणियोंमें जिन ब्राह्मणोंने इस लोकमें मेरी सुन्दर प्राचीन वेदरूपी मूर्तिको अध्ययनादिसे धारण किया है और जिनमें परम पवित्र सत्त्वगुण, शम (अन्तःकरण-निग्रह), दम (बाह्येन्द्रिय-निग्रह), सत्य, अनुग्रह (दूसरेके दुःख दूर करनेका प्रयत्न), तप, तितिक्षा (तीनों तापोंका सहन करना) और अनुभव (वेदार्थ-ज्ञान)—ये आठ गुण रहते हैं । मैं उनके तुल्य दूसरेको नहीं देखता हूँ ॥२५॥

जिनको ब्रह्मादिसे भी उत्कृष्ट, स्वर्ग और मोक्ष देनेमें समर्थ तथा अनन्तशक्ति-सम्पन्न मुझसे भी कुछ माँगनेकी इच्छा नहीं है; मेरी भक्ति करनेवाले उन ब्राह्मणोंको राज्यादि अन्य भोगोंसे क्या प्रयोजन है ? (उन ब्राह्मणोंकी बराबरीका कोई नहीं है) ॥२६॥

सर्वाणि मद्धिष्ण्यतया भवद्भि-
श्चराणि भूतानि सुता ध्रुवाणि ।
सम्भावितव्यानि पदे पदे वो
विविक्तदृग्भिस्तदुहार्हणं मे ॥२७॥
मनोवचोदृक्करणे हि तस्याः
साक्षात्कृतं मे परिबर्हणं हि ।
विना पुमान्येन महाविमोहा-
त्कृतान्तपाशान्न विमोक्तुमीशेत् ॥२८॥

[इस प्रकार ब्राह्मणोंके सम्मानका उपदेश देकर अब सम्पूर्ण प्राणियों-का सम्मान करनेका उपदेश देते हैं—] हे पुत्रो ! तुम और सम्पूर्ण सभासद मत्सरता आदि दोषोंसे रहित होकर और यह समझकर कि सम्पूर्ण चराचर जीवोंमें मैं (भगवान्) स्थित हूँ, उन सबका क्षण-क्षणमें सम्मान करो और ऐसा करना मेरा पूजन करनेके समान होगा ॥२७॥

[अब सब कर्मोंको ईश्वरार्पण करनेका उपदेश करते हैं—] मन, वाणी, दृष्टि तथा अन्य इन्द्रियोंके व्यापारका प्रत्यक्ष फल मेरा आरा-धन ही है, जिसके विना यह जीव यमके बड़े मोहपाशसे (अर्थात् "मैं और मेरा" रूप पाशसे) अपनेको नहीं छुड़ा सकता ॥२८॥

अठारहवाँ अध्याय

जड़ भरतगाता

पहला प्रकरण

शरीर और आत्माके भदको ज्ञान

सिन्धु सौवीरके राजा रहूगण तत्त्वज्ञानका उपदेश सुननेकी इच्छासे कपिल ऋषिके आश्रमपर गये। पालकीके कहारोंमेंसे एक आदमी थककर असमर्थ हो गया। दैवयोगसे प्राप्त एक पुष्ट (क) युवकको पहलेसे पकड़े गये बेगारियोंके साथ राजभृत्योंने पकड़ लिया। यद्यपि यह काम उसके योग्य था, तथापि वह महानुभाव राजाकी पालकी उठाकर चलने लगा। किन्तु उसकी चाल और कहारोंके सदृश न थी। राजा इस नये वाहककी बे-मेल चाल जानकर व्यङ्ग उक्तिसे उपहासपूर्वक

(क) ये थे महाज्ञानी जड़भरत। पहले जन्ममें ये ऋषभदेवजीके पुत्र चक्रवर्ती राजा थे और वैराग्य हो जानेके कारण एकान्त वनमें रहते थे। एक दिन किसी हरिणीने व्याधके डरसे नदी पार जानेके लिए छलाँग मारी और उसका गर्भ गिरकर भरतजीकी अँजुलीमें आ गया, क्योंकि वे उस नदींमें सन्ध्योपासन कर रहे थे। भरतजी उस हिरनके बच्चेपर इतने आसक्त हो गये कि उनको हरघड़ी उसीका ध्यान रहता था। हरिनके बच्चेपर अतिआसक्ति होनेके कारण मरनेके अनन्तर उन्होंने हरिणकी योनिमें जन्म लिया। किन्तु उनको अपने पूर्व जन्मकी स्मृति बनी रही और उस शरीरको शीघ्र त्यागकर उन्होंने किसी ब्राह्मणके घरमें यह जन्म लिया, इस ब्राह्मण जन्ममें सङ्ग-भयसे ये उन्मत्तवत् रहते थे।

ब्राह्मण उवाच❀

त्वयोदितं व्यक्तमविप्रलब्धं
भर्तुः स मे स्याद्यदि वीर भारः ।
गन्तुर्यदि स्यादधिगम्यमध्वा
पीवेति राशौ न विदां प्रवादः ॥९॥

बोला—"अरे ! बहुत दुःखकी बात है कि तू वास्तवमें बहुत थक गया है तू तो बहुत पुष्ट भी नहीं है" राजाके यों व्यङ्ग बोलनेपर भी वह महात्मा पहलेके समान पालकी चलाने लगा । फिर भी पालकीकी डगमगाती गति देखकर राजा रहूगण क्रुद्ध होकर बोला—"अरे यह क्या है ? क्या तू जीवित होकर भी मृतक समान है ? अरे ! तू मेरा अनादर करके स्वामीकी आज्ञाका उल्लङ्घन करता है क्या ? अरे उन्मत्त ! जैसे यमराज सम्पूर्ण प्राणियोंका शासन करते हैं वैसे ही मैं तुझे दण्ड देकर शिक्षा देता हूँ" इस प्रकार बहुत अयोग्य भाषण करनेवाले, "मैं राजा हूँ" ऐसा अभिमान करनेवाले और अपनेको पण्डित माननेवाले राजासे वह सब प्राणियोंके मित्र गर्वरहित भगवान् ब्रह्मरूप ब्राह्मण हँसते हुए बोले—

हे वीर ! आपने उपहासमें जो यह कहा था कि क्या थोड़े चलनेसे थक तो नहीं गया, वह आपका कथन ठीक ही है, उपहास नहीं है । यदि भार नामक कोई पदार्थ होता, उसका संसर्ग ढोने-वाली देहसे होता और देहका सम्बन्ध मेरी आत्मासे होता तब तो आपका उलाहना बन सकता; परन्तु भार और शरीरका निरूपण नहीं हो सकता और उनका सम्बन्ध मुझसे (आत्मासे) नहीं है तथा चलनेवालेका गन्तव्य स्थान और मार्ग यदि दोनों सत्य होते

❀ भा० ५ १०-९ इत्यादि ।

स्थौल्यं कार्श्यं व्याधय आधयश्च
क्षुत्तृड् भयं कलिरिच्छा जरा च ।
निद्रा रतिर्मन्युरहंमदः शुचो
देहेन जातस्य हि मे न सन्ति ॥१०॥
जीवन्मृतत्वं नियमेन राज-
न्नाद्यन्तवद्यद्विकृतस्य दृष्टम् ।
स्वस्वाम्यभावो ध्रुव ईड्य यत्र
तर्ह्युच्यतेऽसौ विधिकृत्ययोगः ॥११॥

और उनका मुझसे (आत्मासे) सम्बन्ध होता तब तो तुम्हारा व्यङ्ग भाषण मुझे दुःखदायक होता । राजाने जो व्यंग्यसे बहुत मोटे नहीं हो कहा था उसपर कहते हैं—चेतनके लिए 'तुम मोटे हो' ऐसा व्यवहार विद्वान् नहीं करते मूर्ख करते हैं, क्योंकि वह प्रयोग पञ्च महाभूतके समूह शरीरके लिये है, आत्मासे उसका कोई सम्बन्ध नहीं है । (भाव यह है कि देह ही मोटी है मैं (आत्मा) मोटा नहीं हूँ ॥९॥

स्थूलता, दुर्बलता, रोग, मानसिक दुःख, क्षुधा, पिपासा, भय, कलह, इच्छा, वृद्धावस्था, निद्रा, ग्लानि, क्रोध, अहङ्कार, गर्व और शोक ये सब धर्म देहादिसङ्घातके हैं अथवा देहके अभिमानके साथ उत्पन्न होनेवाले पुरुषके हैं मुझ निरभिमानीके नहीं हैं ॥१०॥

[राजाने जो यह कहा था कि तू जीते ही मृतक है अब इसका उत्तर देते हैं] हे राजन् ! जीना-मरना न केवल मेरे शरीरका धर्म है, किन्तु सब परिणामको प्राप्त होनेवाले पदार्थोंका है, क्योंकि विकारी पदार्थ प्रतिक्षण उत्पन्न और नष्ट होते हैं । राजाने जो यह कहा था कि "मुझ स्वामीकी आज्ञाका उल्लङ्घन करता है" अब इसका उत्तर देते हैं—हे ईड्य ! यदि स्वामी-सेवकभाव नियमसे निश्चित हो

विशेषबुद्धेर्विवरं मनाक् च
पश्यामि यन्न व्यवहारतोऽन्यत् ।
क ईश्वरस्तत्र किमीशितव्यं
तथापि राजन् ! करवाम किं ते ॥१२॥
उन्मत्तमत्तजडवत् स्वसंस्थां
गतस्य मे वीर चिकित्सितेन ।

तब तो स्वामीका आज्ञा देना और सेवकका सेवा करना उचित हो सकता है नहीं तो नहीं। [भाव यह है कि यदि तुम राज्यभ्रष्ट हो जाओ और मुझे राज्य मिल जाय तो यह भाव उलटा हो जायगा, इस कारण थोड़ेसे समयके लिये सेव्य-सेवकभाव मानना भ्रम ही है] ॥११॥

[शङ्का—जितने समयतक रहूगण राजा है उतने समयतक तो वह स्वामी है और उसकी आज्ञाका पालन करना चाहिये; समाधान—] राजा और भृत्य आदि बुद्धिका अवकाश, व्यवहारदशाके सिवा अन्यत्र बिलकुल नहीं दिखायी देता है और परमार्थदशामें न कोई राजा है और न कोई भृत्य है। [यदि फिर भी आपको अपने राजापनेका अभिमान हो तो कहिए] हे राजन् ! हम आपका कौनसा काम करें ? ॥१२॥

[राजाने जो कहा था कि "तू उन्मत्त है तेरी दवा करता हूँ तब तू राहपर आवेगा" अब इसका उत्तर देते हैं—] हे वीर ! उन्मत्त, मत्त और जड़के समान व्यवहार करनेवाले किन्तु वास्तवमें ब्रह्मरूपको प्राप्त हुए मुझको दण्ड देनेसे अथवा शिक्षा देनेसे कोई लाभ नहीं है और यदि तुम मुझको मुक्त नहीं समझते वास्तवमें मूढ़ या उन्मत्त मानते हो, तो भी तुम्हारा शिक्षा देना पिसे हुएके पीसनेके समान

अर्थः कियान्भवता शिक्षितेन
स्तब्धप्रमत्तस्य च पिष्टपेषः ॥१३॥

निरर्थक है, क्योंकि जड़स्वभाववाला शिक्षा देकर भी निपुण नहीं बनाया जा सकता। [भाव यह है कि स्वभाव नहीं बदला जा सकता है*] ॥१३॥

****

दूसरा प्रकरण

परज्ञानका उपदेश

राजा रहूगण उत्तम श्रद्धाके कारण तत्त्वज्ञानका अधिकारी था। वह हृदयग्रन्थिको दूर करनेवाले ब्राह्मण-वचनको सुनकर राजापन आदिका अभिमान छोड़कर पालकीसे उतरा और उस ब्राह्मणके चरणोंमें सिर रखकर नमस्कार करके क्षमा माँगता हुआ तत्त्वज्ञानकी इच्छासे, उस ब्राह्मणके उत्तर वाक्योंमें इस प्रकार आक्षेप करने लगा। आपने जो कहा था कि मैं नहीं थका हूँ उसका खण्डन अनुमानसे होता है, आपको बोझ ले जानेसे अवश्य श्रम होता होगा जिस प्रकारसे मुझे युद्धादि कर्मसे श्रम होता है। जो यह कहा था कि बोझ ले जाना केवल व्यवहारमात्र है इसमें सत्यता कुछ नहीं है; इसपर कहते हैं कि यह व्यवहारका मार्ग (प्रपञ्च) मूल कारणसहित (सत्य) है, क्योंकि यदि घट सत्य न हो तो उससे जलका लाना नहीं बन सकता है। जो यह कहा कि मोटापन इत्यादि उपाधिके धर्म हैं न कि परमार्थसे सत्य हैं। उसपर कहते हैं कि ऐसे धर्म भी सत्य क्यों न माने जायँ ? जैसे बटलोहीके नीचे अग्नि रख दी तब उसमें प्रथम जल गरम होता है फिर चावल पक जाते

* देखिये—गीता ५-१४ "स्वभावस्तु प्रवर्तते"।

हैं, इसमें कुछ भी मिथ्या नहीं है। इसी प्रकार देह और इन्द्रियोंके सम्बन्धसे देहमें दुःखादिका प्रत्यक्ष होता है। इस देहकी उष्णतासे इन्द्रियोंको ताप होता है, तब प्राणको, फिर मनको और अन्तमें जीवको ताप हो जाता है। जो यह कहा कि सेव्य-सेवकभाव अनित्य है इसपर यह आक्षेप करते हैं कि जिस समयतक जो राजा है उस समयतक वह प्रजाका शासन तथा रक्षा करनेवाला होता है।

जो कहा कि उन्मत्तको शिक्षा देना निरर्थक है, इसपर कहते हैं कि यदि शिक्षा देनेपर भी उन्मत्तका उन्मत्तपना दूर न हो तो भी अपना शिक्षा देना आदि धर्म करना भगवान्‌की आराधना करना ही है और इससे उस पुरुषके सम्पूर्ण पाप नष्ट हो जाते हैं। चूंकि यों आपके वचन मुझे विपरीत प्रतीत होते हैं, इसीलिए मैंने राजमदसे मत्त होकर आप ऐसे महात्माओंका अपमान किया है। कृपा करके मेरे ऊपर दयादृष्टि कीजिए, मेरे सन्देहोंको दूर कीजिए, जिससे मैं उक्त पापसे मुक्त हो जाऊँ। इस प्रकार पूछे जानेपर ब्राह्मण भरतने कहा—

ब्राह्मण उवाच❀

अकोविदः कोविदवादवादा-
न्वदस्यथो नातिविदां वरिष्ठः।
न सूरयो हि व्यवहारमेनं
तत्त्वावमर्शेन सहाऽऽमनन्ति ॥१॥

विद्वान् न होकर भी तुम विद्वानोंकी-सी बातें करते हो इस कारण तुम विद्वन्मण्डलीमें श्रेष्ठ नहीं गिने जाओगे, क्योंकि जिस स्वामी-सेवकरूप लौकिक व्यवहारको तुम सत्य कहते हो, उसको पण्डित

❀ भा० ५-११-१ इत्यादि।

तथैव राजन्नुरुगार्हमेध-
वितानविद्योरुविजृम्भितेषु ।
न वेदवादेषु हि तत्त्ववादः
प्रायेण शुद्धो नु चकास्ति साधुः ॥२॥
न तस्य तत्त्वग्रहणाय साक्षा-
द्वरीयसीरपि वाचः समासन् ।
स्वप्ने निरुक्त्या गृहमेधिसौख्यं
न यस्य हेयानुमितं स्वयं स्यात् ॥३॥
यावन्मनो रजसा पूरुषस्य
सत्त्वेन वा तमसा वाऽनुरुद्धम् ।

विचारके साथ सहन नहीं करते, वह अविचारितरमणीय है, अतः वह सत्य नहीं है ॥१॥

हे राजन् ! इसी प्रकार वैदिक कर्मका व्यवहार भी सत्य नहीं है, क्योंकि बड़े-बड़े गृहमेध आदि वैदिक यज्ञोंके विस्तारसे सम्बन्ध रखनेवाली क्रियाओंसे पूर्ण रीतिसे भरे हुए वेदवादोंसे भी प्रायः शुद्ध (हिंसारहित) और निष्काम तत्त्व यथार्थरूपसे प्रकाशित नहीं होता है ॥२॥

[शङ्का—वेदान्तशास्त्र जाननेवालोंकी भी व्यावहारिक कर्मोंमें प्रवृत्ति देखी जाती है, अतः व्यवहार मिथ्या कैसे माना जाय ? समाधान—] जो पुरुष यह अनुमान नहीं कर सके कि गृहस्थाश्रममें किये गये यज्ञोंसे प्राप्त होनेवाला सुख स्वप्नके सुखके समान [दृश्य होनेके कारण] त्यागने योग्य है, उस पुरुषको उत्तम प्रकारसे ज्ञान करानेके लिये अति श्रेष्ठ उपनिषद् वाक्य भी समर्थ नहीं होंगे ॥३॥

[राजा रहूगण द्वारा उक्त प्रपञ्चकी सत्यताका खण्डन कर उससे कही गई संसारकी सत्यताका खण्डन करनेके लिए संसारका निमित्त

चेतोभिराकूतिभिरातनोति
निरंकुशं कुशलं चेतरं वा ॥४॥
स वासनात्मा विषयोपरक्तो
गुणप्रवाहो विकृतः षोडशात्मा ।
बिभ्रत्पृथङ्नामभी रूपभेद-
मन्तर्बहिष्ट्वं च पुरैस्तनोति ॥५॥
दुःखं सुखं व्यतिरिक्तं च तीव्रं
कालोपपन्नं फलमाव्यनक्ति ।
आलिङ्ग्य मायारचितान्तरात्मा
स्वदेहिनं संसृतिचक्रकूटः ॥६॥

मनको बतलाते हैं—] जबतक मनुष्यका मन रजोगुण, सत्त्वगुण अथवा तमोगुणके वशमें रहता है तबतक निरंकुश (स्वतन्त्र) होकर वह मन ज्ञानेन्द्रियों और कर्मेन्द्रियों द्वारा पुरुषके भले अथवा बुरे कर्मोंका (धर्म या अधर्मका) विस्तार करवाता रहता है ॥४॥

[अब यह कहते हैं कि धर्माधर्मकी वासनासे युक्त मन ही विभिन्न शरीर धारण करवाता है—] फिर धर्माधर्म वासनासे युक्त, विषयासक्त, गुणोंके वशमें हुआ, कामादि विकारवान्, इन्द्रिय रूप सोलह कलाओंमें मुख्य मन भिन्न-भिन्न नामोंसे भिन्न-भिन्न देव, तिर्यगादिरूप धारण कर (उन देवादि और तिर्यगादि रूपोंसे) जीवकी उत्तमता और अधमताको बढ़ाता है ॥५॥

[वैसा ही फल उत्पन्न करता है—] संसारचक्रमें छलनेवाला, माया द्वारा रचा गया मन [अपनेमें रहनेवाले] जीवात्मासे तादात्म्य करके सुख, दुःख और मोहात्मक फलोंको समयानुसार उत्पन्न करता है, जिनका निवारण नहीं हो सकता ॥६॥

तावानयं व्यवहारः सदाविः
　　क्षेत्रज्ञसाक्ष्यो भवति स्थूलसूक्ष्मः ।
तस्मान्मनो लिङ्गमदो वदन्ति
　　गुणागुणत्वस्य परावरस्य ॥७॥
गुणानुरक्तं व्यसनाय जन्तोः
　　क्षेमाय नैर्गुण्यमथो मनः स्यात् ।
यथा प्रदीपो घृतवर्तिमश्न-
　　ञ्छिखाः सधूमा भजति ह्यन्यदा स्वम् ॥८॥
पदं तथा गुणकर्मानुबद्धं
　　वृत्तिर्मनः श्रयतेऽन्यत्र तत्त्वम् ।
एकादशाऽऽसन्मनसो हि वृत्तय
　　आकूतयः पञ्च धियोऽभिमानः ॥९॥

जबतक यह मन संसारमें जीवको भ्रमण कराता है तभी तक क्षेत्रज्ञको जाग्रत् और स्वप्नका व्यवहार दिखायी देता है, इसलिये यह कहा जाता है कि मन ही ऊंच-नीच योनिरूप बन्धका तथा निर्गुण-रूप मोक्षका कारण है ॥७॥

[शङ्का—एक ही मन किस प्रकार विलक्षण परिणामको प्राप्त होता है ? समाधान—] जब मन विषयासक्त होता है तब जीवको संसार प्राप्त कराता है और जब निर्गुण (विषयविमुख) होता है तब मोक्षका कारण होता है। [इसमें दृष्टान्त देते हैं—] जबतक घृत रहता है तबतक दीपमें काजलयुक्त ज्योति रहती है और जब घृत नहीं रहता तब वह ज्योति अपने भास्वर स्वरूप अथवा तेजोरूप महाभूतमें जा मिलती है, ऐसा यहाँ भी समझो ॥८॥

[मनकी वृत्तियोंको दिखाते हैं—] इस प्रकार मन विषयोंमें और उनके अनुकूल कर्मोंमें आसक्त होकर नाना वृत्तियोंको धारण

मात्राणि कर्माणि पुरं च तासां
वदन्ति हैकादश वीर भूमीः ॥१०॥
गन्धाकृतिस्पर्शरसश्रवांसि
विसर्गरत्यर्त्यभिजल्पशिल्पाः ।
एकादशं स्वीकरणं ममेति
शय्यामहं द्वादशमेक आहुः ॥११॥
द्रव्यस्वभावाशयकर्मकालै-
रेकादशाऽमी मनसो विकाराः ।

करता है और जब विषयासक्त नहीं होता तब अपने स्वरूपमें (परमार्थपदमें) स्थित रहता है । मनकी वृत्तियाँ ग्यारह प्रकारकी होती हैं अर्थात् पाँच क्रियाकार, पाँच ज्ञानाकार और ग्यारहवाँ अभिमान ॥९॥

हे वीर ! उन वृत्तियोंके विषय पाँच सूक्ष्मभूत, पाँच कर्मेन्द्रिय और एक शरीर इस प्रकार ग्यारह हैं ॥१०॥

[उनका विवरण करते हैं—] गन्ध, रूप, स्पर्श, रस और शब्द ज्ञानेन्द्रियोंके विषय हैं; मल-त्याग, सम्भोग, गमन, बोलना और ग्रहण कर्मेन्द्रियके विषय हैं एवं यह मेरा भोग स्थान है इस बुद्धिसे जिसका स्वीकार किया जाता है वह शरीर ग्यारहवें अभिमान-का विषय है । (यहाँ ऐसा समझो कि शरीर अभिमानका गन्धादि-के सदृश ज्ञेयरूपसे विषय नहीं है और न कार्यरूपसे मलत्यागवत् विषय है, किन्तु "मेरा भोग स्थान है" इस बुद्धिसे अभिमानका विषय है ।) कोई अहङ्कारको एक अपर वृत्ति मानकर कहते हैं कि शरीर ही उसका बारहवाँ विषय है, क्योंकि उस शरीरमें अहङ्कार सहित जीव शयन करता है ॥११॥

[वृत्तियाँ अवान्तरभेदसे अनन्त हैं—] मनकी ग्यारह वृत्तियाँ

सहस्रशः शतशः कोटिशश्च
　　क्षेत्रज्ञतो न मिथो न स्वतः स्युः ॥१२॥
क्षेत्रज्ञ एता मनसो विभूती-
　　र्जीवस्य मायारचितस्य नित्याः ।
आविर्हिता क्वापि तिरोहिताश्च
　　शुद्धो विचष्टे ह्यविशुद्धकर्तुः ॥१३॥
क्षेत्रज्ञ आत्मा पुरुषः पुराणः
　　साक्षात्स्वयंज्योतिरजः परेशः ।
नारायणो भगवान्वासुदेवः
　　स्वमाययाऽऽत्मन्यवधीयमानः ॥१४॥

विषय, स्वभाव, संस्कार, कर्म, काल आदि कारणोंसे पहले सैकड़ों प्रकारकी फिर सहस्रों प्रकारकी और फिर करोड़ों प्रकारकी हो जाती हैं। वे न तो अपने आप और न परस्परके सम्बन्धसे सत्ता पाती हैं, किन्तु परमात्माकी सत्तासे सत्ता पाती हैं, इस कारण मिथ्या हैं ॥१२॥

[तीन श्लोकोंसे दिखलाया कि मन नाना वृत्तियोंमें परिणत होता है जैसा नवें श्लोकमें कहा था। अब यह दिखलाते हैं कि कब मन आत्मतत्त्वमें स्थित रहता है—] मायारचित जीवके उपाधिभूत और संसारबन्धनके कारण मनकी प्रवाहरूपसे निरन्तर रहनेवाली वृत्तियाँ जाग्रत् और स्वप्न अवस्थाओंमें प्रकट होती हैं और सुषुप्तिमें लीन हो जाती हैं इन तीनों अवस्थाओंको देखनेवाला शुद्ध क्षेत्रज्ञ है (त्वं-पदार्थ जीव है) ॥१३॥

[क्षेत्रज्ञ दो प्रकारका है। एकका अर्थात् त्वम्पदार्थ जीवका निरूपण कर दिया, अब दूसरे तत्पदार्थ परमेश्वरका निरूपण करते हैं—] वह क्षेत्रज्ञ, आत्मा, जगत्का कारण, पूर्ण, प्रत्यक्ष, स्वयंज्योति, अज,

यथाऽनिलः स्थावरजङ्गमाना-
मात्मस्वरूपेण निविष्ट ईशेत् ।
एवं परो भगवान् वासुदेवः
क्षेत्रज्ञ आत्मेदमनुप्रविष्टः ॥ १५॥
न यावदेतां तनुभृन्नरेन्द्र
विधूय मायां वयुनोदयेन ।
विमुक्तसङ्गो जितषट्सपत्नो
वेदाऽऽत्मतत्त्वं भ्रमतीह तावत् ॥ १६॥
न यावदेतन्मन आत्मलिङ्गं
संसारतापावपनं जनस्य

सबका ईश्वर, नारायण, भगवान् वासुदेव अपने वशमें रहनेवाली मायासे जीवमें स्थित अर्थात् जीवका नियन्ता होकर रहनेवाला है ॥ १४॥

[इसीको दृष्टान्तसे स्पष्ट करते हैं—] जैसे वायु यद्यपि बाहर स्थित है किन्तु सब स्थावर और जङ्गम प्राणियोंके शरीरमें जीवरूपसे प्रवेश करके उनको वशमें रखती है; वैसे ही प्रपञ्चसे बाहर विद्यमान क्षेत्रज्ञ, व्यापक, भगवान् वासुदेव इस जगत्में प्रविष्ट होकर इसको वशमें रखते हैं ॥ १५॥

[आत्माकी शुद्धता और संसारके मिथ्यात्वका प्रतिपादन करके अब दो श्लोकोंसे उसकी निवृत्तिका उपाय कहते हैं—] हे नरेन्द्र ! सकल सङ्गोंका त्याग कर और काम आदि छः शत्रुओंको जीतकर देहधारी जीव जबतक श्रवण आदि द्वारा ज्ञान प्राप्त कर इस मायाको दूर करके आत्मतत्त्वको नहीं जानता है, तबतक इस संसारमें घूमता रहता है ॥ १६॥

[अब यह कहते हैं कि विषयोंमें अनुरक्त मन ही अनर्थोंका कारण है ऐसा जबतक यह जीव नहीं जानता तबतक वैराग्य न

यच्छोकमोहामयरागलोभ-
वैरानुबन्धं ममतां विधत्ते ॥१७॥
भ्रातृव्यमेनं तददभ्रवीर्य-
मुपेक्षयाऽध्येधितमप्रमत्तः ।
गुरोर्हरेश्चरणोपासनास्त्रो
जहि व्यलीकं स्वयमात्ममोषम् ॥१८॥

होनेके कारण संसारमें भ्रमण करता रहता है—] यह जीव जबतक यह नहीं जानता कि आत्माका उपाधिरूप यह मन प्राणियोंके संसार-रूप तापका खेत है (तबतक संसारमें भटकता रहता है) और तभीतक वह मन शोक, मोह, रोग, राग, लोभ और वैर आदिसे सम्बन्ध और ममता रखता है ॥१७॥

इस कारण तुम सावधान होकर गुरुरूप श्रीहरिके चरणकी उपासनारूप शस्त्रको लेकर इस बड़े बलवान् उपेक्षा करनेपर दबानेवाले और मिथ्या होकर आत्माको आच्छादित करनेवाले मनका नाश करो ॥१८॥
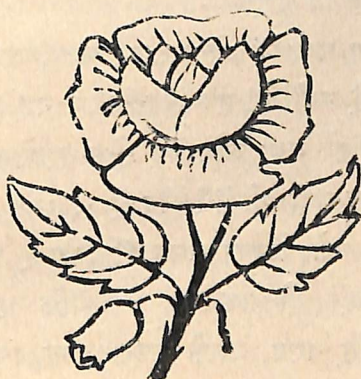
तीसरा प्रकरण

व्यवहार अवस्थाका मिथ्यात्व

जड़भरतके अतिसूक्ष्म आत्मतत्त्वका बोध करानेवाले युक्तियुक्त कथनको रहूगण नहीं समझ सका। उसने फिर पूछा—"हे योगेश्वर ! प्रत्यक्षादि प्रमाणोंसे दिखायी देनेवाला अतएव सत्य-सा प्रतीत होनेवाला लौकिक और वैदिक क्रियाओंका फल दुःख और सुखके व्यवहारका कारण होता है और वस्तुतः वह तत्त्वविचारके योग्य नहीं है, इस प्रकार जो आपने कहा उस विषयमें मुझे सन्देह हो रहा है। यद्यपि आपने स्वप्नके दृष्टान्तसे सुखादिके मिथ्यात्वका प्रतिपादन किया है तथापि जाग्रत् अवस्थामें सब पदार्थ सत्य प्रतीत होते हैं, उनको आप कैसे मिथ्या कहते हैं ?"

ब्राह्मण उवाच❀

अयं जनो नाम चलन् पृथिव्यां
यः पार्थिवः पार्थिव कस्य हेतोः ।
तस्याऽपि चाङ्घ्र्योरधिगुल्फ-
जङ्घाजानूरुमध्योरशिरोधरांसाः ॥९॥

यों पूछे जानेपर ब्राह्मणने कहा—

[आपने जाग्रत् पदार्थमें जो सत्यत्व कहा, वह सिद्ध नहीं है, ऐसा कहते हैं—] हे पार्थिव ! पृथ्वीका विकार यह शरीर किसी कारण पृथ्वीपर चलनेवाला हो गया और वह बोझ उठानेवाला आदि नामसे कहा जाता है। बस यही दोनोंमें भेद है (भाव यह है कि देहके, जड़ होनेके कारण, उसे बोझका श्रम नहीं होता है और श्रमके आश्रय-का भी निरूपण नहीं हो सकता है) क्योंकि पृथ्वीके विकाररूप देहके अवयव अर्थात् चरण, उनके ऊपर टकना, फिर साँतल, घुटना,

❀ भा० ५-१२-५ इत्यादि।

अंसेऽधि दार्वी शिबिका च यस्यां
सौवीरराजेत्यपदेश आस्ते ।
यस्मिन्भवान्रूढनिजाभिमानो
राजाऽस्मि सिन्धुष्विति दुर्मदान्धः ॥६॥
शोच्यानिमांस्त्वमधिकष्टदीना-
न्विष्ट्या निगृह्णन्निरनुग्रहोऽसि ।
जनस्य गोप्ताऽस्मि विकत्थमानो
न शोभसे वृद्धसभासु धृष्टः ॥७॥
यदा क्षिताविव चराचरस्य
विदाम निष्ठां प्रभवं च नित्यम् ।

कमर, वक्षःस्थल, ग्रीवा और कन्धा एकके ऊपर एक हैं (यह निरूपण नहीं हो सकता कि इनमें से श्रमका आश्रय कौन है ?) ॥५॥

[पालकीमें बैठे हुए तेरे भी अवयव सत्य नहीं हैं—] कन्धोंपर काठकी पालकी है जिसमें राजा रहूगण नामवाला पृथ्वीका विकाररूप ही तेरा शरीर बैठा है जिसमें तेरा यह दुरभिनान हो रहा है कि मैं सिन्धु देशका राजा हूँ । (भाव यह है कि सुख-दुःख अभिमानसे होते हैं जैसे अत्यन्त सुकुमार युवतीको आभूषण धारण करनेमें अथवा अपना बच्चा गोद लेनेमें कोई दुःख प्रतीत नहीं होता है, इसी प्रकार तुमको राजाका अभिमान होनेसे ही "मैं राजा हूँ" इस प्रकार सुख प्रतीत होता है, जिनको अभिमान नहीं है उन्हें सुख-दुःख नहीं होते) ॥६॥

मैं लोगोंकी रक्षा करनेवाला हूँ, यों मिथ्या अपनी श्लाघा कर तू सत्पुरुषोंकी सभामें शोभा नहीं पावेगा, क्योंकि जिनके विषयमें शोक करना युक्त है ऐसे इन प्रचुर कष्टसे दीन पालकी ले जानेवालोंको वेगारमें पकड़कर तू कष्ट दे रहा है ॥७॥

व्यवहारावस्थामें नियमसे जब हम यह जानते हैं कि इस चराचर

तन्नामतोऽन्यद्व्यवहारमूलं
निरूप्यतां सत्क्रिययाऽनुमेयम् ॥८॥
एवं निरुक्तं क्षितिशब्दवृत्त-
मसन्निधानात्परमाणवो ये ।
अविद्यया मनसा कल्पितास्ते
येषां समूहेन कृतो विशेषः ॥९॥

जगत्‌की वर्तमान कालमें पृथ्वीमें ही स्थिति, विनाशके बाद पृथ्वीमें ही लय और फिर पृथ्वीसे ही उद्गम होता है, तब घटादि विकार पृथ्वीसे अतिरिक्त सिद्ध नहीं हुए। ऐसी अवस्थामें केवल तत्-तत् नामसे व्यवहारमें प्रचलित पृथ्वीरूप पदार्थसे पृथक् जलानयन आदि क्रियासे सत्‌रूपसे अनुमान करने योग्य व्यवहारकी मूल दूसरी वस्तु क्या है? उसका निरूपण करो। वास्तवमें सब वस्तुएँ पृथ्वीके विकार हैं, अतः पृथ्वी ही सत्य है; वे सबके सब असत्य हैं। श्रुति भी यही कहती है—"वाचारम्भणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यम्" (भाव यह है कि जिस घटसे पानी लाना आदि क्रिया होती हैं, वह जैसे निरूपण करनेपर पृथ्वीसे अलग सिद्ध नहीं होता; वैसे ही अवयवोंसे पृथक् अवयवी वस्तुके सिद्ध न होनेसे और उनका आत्मासे कोई सम्बन्ध न होनेसे भ्रमादिकी सिद्धि अध्याससे होती है न कि परमार्थसे) ॥८॥

[शङ्का—तब तो पृथिवी सत्य ठहरी? समाधान—] अतिसूक्ष्म परमाणुओंमें लय होनेके कारण, अर्थात् परमाणुसे अतिरिक्त पृथिवीका निरूपण न हो सकनेके कारण, क्षितिशब्दवाच्य (पृथिवी) पदार्थ भी पृथिवीके विकारोंकी भाँति मिथ्या ही कहा गया है। परमाणु भी वादियों द्वारा अज्ञानसे कल्पित हैं; क्योंकि यदि उनकी कल्पना न की जाय, तो पृथिवीरूप कार्यकी उपपत्ति ही नहीं होगी। उन्हींके तो

एवं कृशं स्थूलमणुर्बृहद्य-
दसच्च सज्जीवमजीवमन्यत् ।
द्रव्यस्वभावाशयकालकर्म-
नाम्नाऽजयाऽवेहि कृतं द्वितीयम् ॥१०॥
ज्ञानं विशुद्धं परमार्थमेक-
मनन्तरं त्वबहिर्ब्रह्म सत्यम् ।
प्रत्यक् प्रशान्तं भगवच्छब्दसंज्ञं
यद्वासुदेवं कवयो वदन्ति ॥११॥
रहूगणैतत्तपसा न याति
न चेज्यया निर्वपणाद् गृहाद्वा ।

समूहसे पृथिवीनामका पदार्थ बना है। अतएव कल्पित होनेसे परमाणु भी पारमार्थिक नहीं हैं ॥९॥

इस प्रकार अन्य जो कोई दुबली, मोटी, छोटी, बड़ी, कारण, कार्य, जड़, चेतन वस्तुएँ हैं, वे सब विषय, स्वभाव, काल, कर्म नामोंसे कही जानेवाली भगवान्‌की मायासे रची हुई हैं, ऐसा जानो ॥१०॥

[यह प्रतिपादन करते हैं कि सत्य क्या है—] परमार्थरूप ज्ञान सत्य है। वह अति शुद्ध, एक, बाहर भीतर भेदरहित, परिपूर्ण, अन्तर्मुख और निर्विकार है। ऐश्वर्य आदि छः गुणोंसे युक्त होनेके कारण उसीको 'भगवान्' कहते हैं और विद्वान् उसीको 'वासुदेव' कहते हैं। ('वृत्तिज्ञान' उसके विपरीत अविद्यायुक्त, नाना, बाह्य और आभ्यन्तर भेदवाला, परिच्छिन्न, विषयाकार और विकारवान् है।) ॥११॥

हे रहूगण ! यह ज्ञान तप, यज्ञ, अन्नदान, गृहस्थाश्रममें रहकर अनेक परोपकारके कर्म, वेदका अभ्यास, जल-अग्नि-सूर्यकी उपासना

न च्छन्दसा नैव जलाऽग्निसूर्यै-
विंना महत्पादरजोऽभिषेकम् ॥१२॥
यत्रोत्तमश्लोकगुणानुवादः
प्रस्तूयते ग्राम्यकथाविघातः ।
निषेव्यमाणोऽनुदिनं मुमुक्षो-
र्मतिं सतीं यच्छति वासुदेवे ॥१३॥
अहं पुरा भरतो नाम राजा
विमुक्तदृष्टश्रुतसङ्गबन्धः ।
आराधनं भगवत ईहमानो
मृगोऽभवं मृगसङ्गाद्धतार्थः ॥१४॥
सा मां स्मृतिर्मृगदेहेऽपि वीर
कृष्णार्चनप्रभवा नो जहाति ।

करनेसे नहीं मिलता है, किन्तु साधु पुरुषोंकी चरणधूलिमें स्नान करनेसे ही प्राप्त होता है ॥१२॥

जिन साधुओंकी सभामें भगवान् श्रीहरिकी लीला एवं कथाओंका वर्णन किया जाता है, जिससे विषयसुखकी वार्ता दूर हो जाती है, उस कथाका प्रतिदिन आदरपूर्वक श्रवण करनेसे मुमुक्षुओंके संसारके तापका शमन करनेवाली बुद्धि वासुदेव भगवान्में लग जाती है ॥१३॥

[अब अपना उदाहरण दो श्लोकोंसे देते हैं—] मैं पहले भरत नामका राजा था, देखे हुए और सुने हुए विषयोंकी आसक्तिको छोड़कर भगवान्की आराधना करता रहता था और मृगके सङ्गसे उसमें आसक्त होकर मृगयोनिको प्राप्त हुआ मेरा सब किया कराया नष्ट हो गया ॥१४॥

हे वीर ! भगवान् श्रीकृष्णके पूजनसे मृगदेहमें मेरी ज्ञानकी स्मृति नहीं छूटी । पूर्वजन्ममें मैं मृगकी आसक्तिसे भ्रष्ट हुआ था ।

अथो ह्यहं जनसङ्गादसङ्गो
विशङ्कमानोऽविवृतश्चरामि ॥१५॥
तस्मान्नरोऽसङ्गसुसङ्गजात-
ज्ञानासिनेहैव विवृक्णमोहः ।
हरिं तदीहाकथनस्मृतिभ्यां
लब्धस्मृतिर्यात्यतिपारमध्वनः ॥१६॥

यह स्मरण रखनेसे मैं अब इस जन्ममें प्राणियोंके सङ्गसे भय मानता हुआ अपने स्वरूपको छिपाकर लोकमें विचरता हूँ ॥१५॥

विरक्त महात्माओंके समागमसे प्राप्त हुई ज्ञानरूप तलवारसे मनुष्य इसी जन्ममें मोहरूप बन्धनको काटकर भगवान्‌की लीलाओं-का स्मरण और कीर्तन करनेसे, आत्मसाक्षात्कार करके इस संसार-सागरके पार पहुँच जाता है ॥१६॥

चौथा प्रकरण

वैराग्य दृढ़ करनेके लिये संसाररूपी वनका वर्णन

जड़भरतजीने पहले बारहवें अध्यायके सोलहवें श्लोकमें कहा था (देखिये प्रकरण तीन) कि हरि-कथाके स्मरण और कीर्तनसे साक्षात्कार होनेपर रास्तेको पार करता है, उसी मार्गका विवरण भगवान् जड़भरत अपने आप करते हैं ।

ब्राह्मण उवाच*

दुरत्ययेऽध्वन्यजया निवेशितो
रजस्तमःसत्त्वविभक्तकर्मदृक् ।
स एष सार्थोऽर्थपरः परिभ्रमन्
भवाटवीं याति न शर्म विन्दति ॥१॥
यस्यामिमे षण्नरदेव दस्यवः
सार्थं विलुम्पन्ति कुनायकं बलात् ।
गोमायवो यत्र हरन्ति सार्थिकं
प्रमत्तमाविश्य यथोरणं वृकाः ॥२॥

ब्राह्मणने कहा—

सात्त्विक, राजस और तामस कर्मोंको ही कर्तव्यरूपसे देखनेवाला एवं माया द्वारा प्रवृत्तिरूप मार्गमें ढकेला गया विषयाभिलाषी यह जीव देव, मनुष्य, तिर्यग् आदि योनियोंमें भ्रमण करता हुआ द्रव्योपार्जनके लिये निकले हुए व्यापारियोंके समान भटकते-भटकते संसाररूपी दुर्गम बनमें चला जाता है, सुख नहीं पाता ॥ १ ॥

[इस अध्यायमें जो कथा रूपकमें कही उसका विवरण अग्रिम अध्यायमें है, किन्तु समझनेके लिये वह श्रीधरी टीकाके अनुसार यहाँ

---

* भा० ५।१३।१ इत्यादि ।

प्रभूतवीरुत्तृणगुल्मगह्वरे
कठोरदंशैर्मशकैरुपद्रुतः ।
क्वचित्तु गन्धर्वपुरं प्रपश्यति
क्वचित्क्वचिच्चाशुरयोल्मुकग्रहम् ॥३॥
निवासतोयद्रविणात्मबुद्धि-
स्ततस्ततो धावति भो अटव्याम् ।
क्वचिच्च वात्योत्थितपांसुधूम्रा
दिशो न जानाति रजस्वलाक्षः ॥४॥

लिख दी जाती है) हे नरदेव ! इस संसारवनमें छः इन्द्रियाँ ही चोर हैं, वे उस समूहको लूट लेती हैं, जिसका बुद्धिरूपी नायक खोटा है। वहाँ गीदड़ (स्त्री, पुत्र आदि) उन असावधान व्यापारियोंके समीप जाकर उनको इधर-उधर खींचते हैं जैसे भेड़िये भेड़को घसीटते हैं ॥२॥

किसी समय बहुतसे लता, तृण, झाड़ियोंसे दुर्गम जङ्गलके समान (काम्य कर्मोंसे गहन गृहस्थाश्रममें) कठोर डाँस मच्छरोंके तुल्य दुर्जनोंसे पीड़ा पाता है; कभी-कभी गन्धर्व नगरको (देह, घर, पुत्रादि विषयोंको) सत्य समझता है, कभी-कभी अग्निके समान पिशाच (सुवर्ण) को स्वीकार करनेके लिये उद्यत होता है ॥३॥

वह घर, जल और धनमें आत्मबुद्धि करके इस संसारवनमें उस प्रयोजनकी सिद्धिके लिये इधर-उधर दौड़ता है, कभी उसके नेत्रके धूलिसे व्याप्त होनेके कारण अन्धकारमय हुई दिशाओंका उसे ज्ञान नहीं रहता अर्थात् कन्दर्पसे अन्धा हुआ कर्मके साक्षी दिग्देवताको नहीं जानता है ॥४॥

अदृश्यझिल्लीस्वनकर्णशूल
उलूकवाग्भिर्व्यथितान्तरात्मा ।
अपुण्यवृक्षाञ्छ्रयते क्षुधाऽर्दितो
मरीचितोयान्यभिधावति क्वचित् ॥५॥
क्वचिद्वितोयाः सरितोऽभियाति
परस्परं चालषते निरन्धः ।
आसाद्य दावं क्वचिदग्नितप्तो
निर्विद्यते क्व च यक्षैर्हृतासुः ॥६॥
शूरैर्हृतस्वः क्व च निर्विण्णचेताः
शोचन्विमुह्यन्नुपयाति कश्मलम् ।
क्वचिच्च गन्धर्वपुरं प्रविष्टः
प्रमोदते निर्वृतवन्मुहूर्तम् ॥७॥

कभी न दिखायी देनेवाले झींगुरोंके कटु शब्दोंसे (परोक्षमें अप्रिय बोलनेवाले दुर्जनोंके वाक्योंसे) उसके कानोंमें बड़ी पीड़ा होती है, कभी उल्लुओंके शब्दसे (प्रत्यक्षमें कटु बोलनेवाले राज-भृत्यादिसे) मनमें दुःख होता है, कभी ऐसे वृक्षोंके नीचे बैठता है जिनकी छाया भी पापका कारण होती है (अधर्मी पुरुषोंके यहाँसे भिक्षा प्राप्त करता है) और कभी-कभी मृगतृष्णारूपी जलकी ओर दौड़ता है (निष्फलरूपसे प्रतीत विषयोंको भजता है) ॥५॥

कभी सूखी नदियोंमें कूदता है जिनमें चोट लगती है (ऐहिक और पारलौकिक सुखसे रहित पाखण्ड मार्गका पथिक होता है) कभी अन्न न प्राप्त होनेपर अपने बान्धवोंसे अन्न माँगता है, कभी वनकी आगमें (घरमें) पड़कर शोकाग्निसे दुःख पाता है और कभी यक्ष (राजा) उसके प्राण (धन) हर लेते हैं ॥६॥

किसी समय शूर पुरुष उसका धन हर लेते हैं तब खिन्न चित्त,

चलन् क्वचित् कण्टकशर्कराङ्घ्रि-
र्नगारुरुक्षुर्विमना इवाऽऽस्ते ।
पदेपदेऽभ्यन्तरवह्निनाऽर्दितः
कौटुम्बिकः क्रुध्यति वै जनाय ॥८॥
क्वचिन्निगीर्णोऽजगराहिना जनो
नाऽवैति किञ्चिद्विपिनेऽपविद्धः ।
दष्टः स्म शेते क्व च दन्दशूकै-
रन्धोऽन्धकूपे पतितस्तमिस्रे ॥९॥
कर्हि स्म चित् क्षुद्ररसान्विचिन्व-
स्तन्मक्षिकाभिर्व्यथितो विमानः ।

शोकाकुल और मोहित होकर मूर्च्छित होता है । कभी गन्धर्वनगरमें (मनसे कल्पित पुत्रादि समाजमें) जाकर सुखी हो क्षणिक आनन्दमें मग्न होता है ॥७॥

कभी पर्वतोंपर चढ़नेके समान अत्यन्त कठिन शास्त्रोक्त कर्मोंका अनुष्ठान करनेकी इच्छावाला जीव उसके लिये प्रवृत्त होता है तो पहले ही काँटे और कङ्कड़ोंके समान विघ्न उसका तिरस्कार करने लगते हैं; अतः क्षण-क्षणमें उदास होता है और कुटुम्बमें ममता रखनेवाला वह जठराग्निसे पीड़ित होकर स्त्री, पुत्र आदिके लिये क्रोध करता है ॥८॥

कभी निद्रारूपी अजगरसे निगला गया कुछ भी नहीं जानता, जङ्गलमें फेंके गये मुर्देके समान सर्परूपी घातुक दुर्जनोंसे पीड़ित हुआ विवेकरहित होकर अन्धे कुएँके सदृश मोहमें पड़ता है ॥९॥

कभी-कभी क्षुद्र रसोंको (परस्त्री आदिको) ढूँढ़ता है और वहाँ मधुमक्खियोंसे (उन स्त्रियोंके पतियोंसे अथवा राजासे) पीटा जाता है और अथवा बाँधा जाता है और यदि बड़े कष्टसे अभीष्ट

तत्राऽतिकृच्छ्रात्प्रतिलब्धमानो
बलाद्विलुम्पत्यथ तं ततोऽन्ये ॥१०॥
क्वचिच्च शीतातपवातवर्ष-
प्रतिक्रियां कर्तुमनीश आस्ते ।
क्वचिन्मिथो विपणन् यच्च किञ्चि-
द्विद्वेषमृच्छत्युत वित्तशाठ्यात् ॥११॥
क्वचित्क्वचित् क्षीणधनस्तु तस्मिन्
शय्यासनस्थानविहारहीनः ।
याचन् परादप्रतिलब्धकामः
पारक्यदृष्टिर्लभतेऽवमानम् ॥१२॥
अन्योऽन्यवित्तव्यतिषङ्गवृद्ध-
वैरानुबन्धी विवहन्मिथश्च ।

वस्तु (परस्त्री) मिल जाती है, तो उससे बलिष्ठ उसको बलपूर्वक छीनकर ले जाते हैं; यदि उनको जीत लेता है तो अन्य छीन ले जाते हैं ॥१०॥

कभी-कभी शीत, उष्ण, वायु और वर्षासे अपनी रक्षा करनेमें असमर्थ हो जाता है, कभी कभी आपसमें किसीके साथ कुछ व्यापार करने लगता है तो ठगीसे धन उपार्जन करनेके कारण लोगोंसे द्वेष कर बैठता है ॥११॥

कभी-कभी संसाररूपी बनमें धनहीन होकर अपने पास शय्या (कम्बल आदि), आसन, घर और सवारीके न रहनेपर अन्य पुरुषोंसे याचना करता है और उनके न मिलनेपर दूसरोंकी वस्तुओंकी इच्छा करनेवाला वह लोगोंकी दृष्टिसे गिर जाता है ॥१२॥

इस प्रकार परस्पर एक दूसरेके धन खसोटनेके व्यवहारसे वैर बढ़ जाता है तब आपसमें विवाहका नाता जोड़कर संसार मार्गमें

अध्वन्यमुष्मिन्नुरुकृच्छ्रवित्त-
बाधोपसर्गैर्विहरन्विपन्नः ॥१३॥
तांस्तान्विपन्नान्स हि तत्र तत्र
विहाय जातं परिगृह्य सार्थः ।
आवर्ततेऽद्यापि न कश्चिदत्र
वीराध्वनः पारमुपैति योगम् ॥१४॥
मनस्विनो निर्जितदिग्गजेन्द्रा
ममेति सर्वे भुवि बद्धवैराः ।
मृधे शयीरन् न तु तद्व्रजन्ति
यन्न्यस्तदण्डो गतवैरोऽभियाति ॥१५॥

भटकता हुआ अनेकों सङ्कट पाता है और धननाश तथा राग, द्वेष आदिसे मृतप्राय हो जाता है ॥१३॥

[जैसा बारहवें अध्यायके सोलहवें श्लोकमें कहा था वैसा ही फिर कहते हैं कि यह मार्ग दुरत्यय है—] यह व्यापारियोंका समूह उन दुःखी पुरुषोंको वहींपर छोड़कर उत्पन्न हुए नवीन जीवोंके साथ विहार करता हुआ चला गया । हे वीर ! उसमें कोई भी, जहाँसे वह चला था, उस परमेश्वरके पास, आजतक लौटकर नहीं आया और इस मार्गसे परे पहुँचानेवाले योगमार्गको भी प्राप्त नहीं हुआ है ॥१४॥

[इसीका वर्णन करते हैं—] बड़े-बड़े शूरवीर दिग्गजोंको भी जीतनेवाले और "मेरा-मेरा" कहकर सब वस्तुओंको अपनानेसे संसारमें वैर बढ़ानेवाले सब युद्ध करते मर जाते हैं, पर उस रास्तेसे परे भगवत्पदको नहीं पाते, जिसमें वैरभाव-रहित संन्यासी जाते हैं ॥१५॥

प्रसज्जति क्वापि लताभुजाश्रय-
स्तदाश्रयाव्यक्तपदद्विजस्पृहः ।
क्वचित्कदाचिद्धरिचक्रतस्त्रस-
न्सख्यं विधत्ते बककङ्कगृध्रैः ॥१६॥
तैर्वञ्चितो हंसकुलं समाविश-
न्नरोचयञ्छीलमुपैति वानरान् ।
तज्जातिरासेन सुनिर्वृतेन्द्रियः
परस्परोद्वीक्षणविस्मृतावधिः ॥१७॥
द्रुमेषु रंस्यन्सुतदारवत्सलो
व्यवायदीनो विवशः स्वबन्धने ।

[फिर सिंहावलोकनन्यायसे संसाररूपी बनका वर्णन करते हैं—] कभी लताओंकी डालियोंका (स्त्रीकी भुजाओंका) सेवन करता है और उन लताओंके आश्रयमें रहनेवाले अस्फुट अर्थात् मधुर बोलनेवाले पक्षियोंके (बाल-बच्चोंके) पोषणमें आसक्ति रखता है; और किसी समयमें सिंहोंके समूहसे (कालचक्रसे) डरकर उस (जन्म-मरण) भयको दूर करनेके लिये बगुला, कङ्क और गृद्ध पक्षियोंके (पाखण्डी पुरुषोंके) साथ मित्रता करता है ॥१६॥

उन पाखण्डियोंसे ठगा जाकर और उनकी सेवामें कोई फल न देखकर हंसोंके (ब्राह्मणोंके) कुलका आश्रय पकड़ता है, किन्तु उस कुलका आचार कठिन होनेके कारण उसे अप्रिय समझकर वानरोंमें (भ्रष्ट शूद्रोंमें) मिल जाता है और उस जातिके अनुसार मैथुन आदि क्रीड़ामें रत हुआ इन्द्रियोंको सुख देता हुआ वह व्यापारी-समूह (स्त्री-पुरुष) एक दूसरेका मुख देखते हुए आयुकी अवधिको (मृत्युकालको) भूल जाते हैं ॥१७॥

बन्दरोंके समान वृक्षोंपर (घरमें) क्रीड़ा करनेकी इच्छासे स्त्री-

क्वचित्प्रमादाद्गिरिकन्दरे पतन्
वल्लीं गृहीत्वा गजभीत आस्थितः ॥१८॥
अतः कथंचित्स विमुक्त आपदः
पुनश्च सार्थं प्रविशत्यरिन्दम ।
अध्वन्यमुष्मिन्नजया निवेशितो
भ्रमञ्जनोऽद्यापि न वेद कश्चन ॥१९॥
रहूगण त्वमपि ह्यध्वनोऽस्य
सन्यस्तदण्डः कृतभूतमैत्रः ।
असज्जितात्मा हरिसेवया शित-
ज्ञानासिमादाय तराऽतिपारम् ॥२०॥

पुत्र आदिमें आसक्त तथा स्त्री-संभोगकी इच्छासे दीन हुआ अपने बन्धनोंके वशमें हो जाता है; कभी असावधानीसे पर्वतकी कन्दरामें (रोगादिमें अथवा नरकादिमें) गिर पड़ता है और वहाँके हाथी (मृत्यु) से डरकर ऊपरकी लताको पकड़े रहता है (पूर्व कर्मोंके बलसे स्थित रहता है) ॥१८॥

हे अरिन्दम ! इस आपदासे कदाचित् दुःख भोगकर छूट भी जाय (स्वर्गादि लोक प्राप्त हो जाय) फिर भी उस समूहके साथ पहलेके समान मिल जाता है (प्रवृत्तिमार्गमें पड़ जाता है); उस मार्गमें भगवान्‌की मायासे भ्रमण करता हुआ कोई मनुष्य अपने परम पुरुषार्थको नहीं जानता है ॥१९॥

हे रहूगण ! तू भी उसी मार्गमें पड़ा हुआ है, इस कारण प्राणियोंको दण्ड देना छोड़कर सबसे मित्रता कर और मनको विषयोंमें आसक्त न होने दे तथा भगवान्‌की सेवासे तीक्ष्ण हुई ज्ञानरूपी तलवार लेकर संसारमार्गके पार उतर जा ॥२०॥

पाँचवाँ प्रकरण

नारद-युधिष्ठिर-संवाद

जड़भरतजीके संवादके समान नारदजीने युधिष्ठिरके समक्ष प्रतिपादन किया कि चेतनसे अतिरिक्त सब पदार्थ मिथ्या हैं। यह सुनकर युधिष्ठिरने पूछा कि ज्ञानीको अपनेसे विभिन्न पदार्थोंकी प्रतीति किस प्रकार होती है ?

नारद उवाच❀

आबाधितोऽपि ह्याभासो यथा वस्तुतया स्मृतः ।
दुर्घटत्वादैन्द्रियकं तद्वदर्थविकल्पितम् ॥५८॥
क्षित्यादीनामिहार्थानां छाया न कतमाऽपि हि ।
न सङ्घातो विकारोऽपि न पृथङ् नाऽन्वितो मृषा ॥५९॥

यद्यपि तर्कसे सिद्ध है कि प्रतिविम्ब कोई वस्तु नहीं है, तथापि वह सत्य-सा प्रतीत होता है, इसी प्रकार सम्पूर्ण इन्द्रियोंके विषय भी सत्य-से प्रतीत होते हैं; किन्तु परमार्थसे वे सत्य नहीं हैं, क्योंकि उनका सत्य होना असम्भव है ॥५८॥

[अब यह दिखाते हैं कि देहादि मिथ्या हैं—] यद्यपि पाँच महाभूतोंकी ऐक्य बुद्धिका आश्रय शरीर समझा जाता है, तथापि वह न तो पञ्चमहाभूतोंका समूह है, न विकार है, न परिणाम है, न भिन्न है और न अभिन्न है, किन्तु मिथ्या है (जैसे वन-वृक्षोंका समुदाय है वैसे शरीर पञ्चमहाभूतोंका समूह नहीं है, क्योंकि वनके एक वृक्षको काटकर खींचनेपर सब वृक्षोंका आकर्षण नहीं होता, किन्तु देहके एक भागके खींचे जानेपर सारा शरीर खिंच जाता है। शरीर पाँच महाभूतोंका

❀ भा० ७-१५-५८ इत्यादि।

धातवोऽवयवित्वाच्च तन्मात्रावयवैर्विना ।
न स्युर्ह्यसत्यवयविन्यसन्नवयवोऽन्ततः ॥६०॥
स्यात्सादृश्यभ्रमस्तावद्विकल्पे सति वस्तुनः ।
जाग्रत्स्वापौ यथा स्वप्ने तथा विधिनिषेधता ॥६१॥

विकार अथवा परिणाम नहीं है, क्योंकि यहांपर विकल्प होगा कि विकार रूपान्तरको प्राप्त हुए अवयवोंसे भिन्न है या अन्वित । पहला पक्ष ठीक नहीं है, क्योंकि अवयवोंसे अत्यन्त भिन्न शरीर अनुभवमें नहीं आता है । दूसरे (अन्वित) पक्षमें प्रश्न होता है कि क्या वह प्रत्येक अवयवमें पूर्णरूपसे युक्त है या एक अंशसे । पहले पक्षमें केवल एक अँगुलीमें देहबुद्धि हो जायगी और दूसरे पक्षमें एक अंशको अन्यका अवयवी मानना पड़ेगा और उस अन्यका तीसरा और तीसरेका चौथा अवयवी मानना पड़ेगा इस प्रकार अनवस्था दोष प्राप्त होगा अर्थात् देहके धड़का एक अवयव हाथ है, हाथका अवयव अँगुली, अँगुलीका पर्व और उसका अन्य अवयव है, ऐसा मानना पड़ेगा । इस प्रकार अनवस्था होगी, इस कारण देहको मिथ्या समझना चाहिये ॥५९॥

[देहादिका मिथ्यापन दिखलाकर अब उनके कारण पृथ्वी आदि पाँच महाभूतोंका भी मिथ्यापन दिखलाते हैं—] अवयववाले पाँच महाभूत अपने सूक्ष्म अवयवोंके विना कभी नहीं रह सकते हैं (यदि यह कहो कि उनके अवयव सत्य हैं, तो उपर्युक्त न्यायसे) अवयवी पदार्थके असत्य ठहरनेपर उसके अवयव भी अन्तमें असत् ठहरेंगे और अवयवीकी सत्यतामें कोई प्रमाण भी नहीं है ॥६०॥

[शङ्का—यदि अवयवी अर्थात् देहादि मिथ्या हैं, तो उत्पत्ति-विनाशशील बाल्य आदि अवस्थाओंमें यह ज्ञान कैसे होगा कि यह वही देवदत्त है जिसको बाल्यावस्थामें मैंने दस वर्ष पहले देखा

भावाद्वैतं क्रियाद्वैतं द्रव्याद्वैतं यथाऽऽत्मनः ।
वर्तयन्स्वानुभूत्येह त्रीन्स्वप्नान्धुनुते मुनिः ॥६२॥
कार्यकारणवस्त्वैक्यमर्शनं पटतन्तुवत् ।
अवस्तुत्वाद्विकल्पस्य भावाद्वैतं तदुच्यते ॥६३॥
यद्ब्रह्मणि परे साक्षात्सर्वकर्मसमर्पणम् ।
मनोवाक्तनुभिः पार्थ क्रियाद्वैतं तदुच्यते ॥६४॥

था; समाधान—] यद्यपि परमार्थ वस्तुमें भेद नहीं है तथापि पूर्व-पूर्व अवस्थाके आरोपका पिछली-पिछली अवस्थाके साथ सादृश्य होनेके कारण जो प्रतीति होती है (अर्थात् वही यह देवदत्त है) वह भी भ्रममात्र है और वह भ्रम तभीतक रहता है जबतक अविद्याकी निवृत्ति नहीं होती । [शङ्का—जब सब मिथ्या हैं तो विधिनिषेध-शास्त्र व्यर्थ होंगे ? समाधान—] जैसे स्वप्नावस्थामें जाग्रत् और सुषुप्ति अवस्थाओंका मिथ्यापन है वैसे ही विधिनिषेधकी अवस्था समझो ॥६१॥

[अब चार श्लोकोंसे इसी अद्वैतको तीन भावनाओंका उपदेश करके दृढ़ करते हैं—] भावाद्वैत, क्रियाद्वैत और द्रव्याद्वैतकी आलोचना करते हुए विवेकी पुरुष आत्मतत्त्वका अनुभव करके इसी देहमें रहते हुए अपनी जाग्रदादि तीनों अवस्थाओंसे पार हो जाते हैं ॥६२॥

कार्यकारणभेदके अवास्तविक होनेसे जैसे तन्तु और वस्त्र एक ही हैं उनमें कोई भेद नहीं है वैसे ही कार्यकारणरूप वस्तुमें एकताकी भावनाका नाम भावाद्वैत है ॥६३॥

हे पार्थ ! मन, वाणी और शरीरसे किये हुए सब कर्मोंका और उनके फलकी कामनाओंका त्याग करके उन्हें साक्षात्परब्रह्ममें समर्पण करना क्रियाद्वैत कहा जाता है ॥६४॥

आत्मजायासुतादीनामन्येषां सर्वदेहिनाम् ।
यत्स्वार्थकामयोरैक्यं द्रव्याद्वैतं तदुच्यते ॥६५॥

अपने स्त्री, पुरुष, पुत्र और अन्य देहधारियोंके धन और भोग-को एक समान समझना द्रव्याद्वैत कहा जाता है । [भाव यह है कि इस प्रकारकी दृष्टि रखना कि सबके देह पञ्चमहाभूतात्मक हैं और सबमें भोक्ता परमात्मा है, इस प्रकार ऐक्यदृष्टिसे अर्थ और भोगमें जो एकताकी दृष्टि करना है, उसे द्रव्याद्वैत कहते हैं ।] ॥६५॥

उन्नीसवाँ अध्याय

नाम-संकीर्तन-मीमांसा

कान्यकुब्ज देशमें आचारसे भ्रष्ट और दासीके संसर्गसे दूषित अजामिल नामका एक ब्राह्मण रहता था । वह बटोहियोंको लूटना, जुआ खेलना और चोरी करना आदि निन्दित वृत्तियोंका अवलम्बन कर प्राणियोंको दुःख देता हुआ अपना निर्वाह करता था । नारायण नामवाले अपने छोटे पुत्रपर उसका बड़ा प्रेम था । मृत्युका समय निकट आनेपर उसने अपनी बुद्धि उसी नारायण नामवाले पुत्रमें लगाई । यमदूतोंको देखकर व्याकुल हुए उसने उच्च स्वरसे अपने पुत्र-का नाम लेकर अर्थात् नारायण ! नारायण ! कहकर पुकारा । इतने-में अपने स्वामीका नाम सुनकर भगवान्‌के पार्षद वहाँ आ गये और उन्होंने यमदूतोंको उसे ले जानेसे रोका । क्योंकि 'हरि' के नामका उच्चारण करनेसे उसके सब पापोंका नाश हो गया था । श्रीहरिका नाम केवल प्रायश्चित्तमात्र नहीं है, किन्तु कल्याणनिधि और मोक्षका साधन है । कहा भी है—

'सकृदुच्चरितं येन हरिरित्यक्षरद्वयम् ।
बद्धः परिकरस्तेन मोक्षाय गमनं प्रति ॥'

(अर्थात् जिसने 'हरि' इन दो अक्षरोंका एक बार भी उच्चारण किया, उसने मोक्षको प्राप्त करनेके लिये कमर बाँध ली ।)

[शङ्का—हरिका नाम केवल कर्मोंकी न्यूनताको[*] पूर्ण कर देता है ऐसी परिस्थितिमें यह कैसे कहा जा सकता है कि हरिका नाम स्वतन्त्ररूपसे पापोंको दूर करता है ? समाधान—] पूर्वमीमांसामें कहा गया है कि 'खादिरो यूपो भवति' (यज्ञमें खदिर—खैर—का यूप होता है) और 'खादिरो वीर्यकामस्य' (खदिरका यूप वीर्य चाहनेवालेको बनाना चाहिए) । जैसे यहांपर 'संयोगपृथक्त्व' (विधायक वचनोंके भेदको 'संयोगपृथक्त्व' कहते हैं) । न्यायसे एक ही खादिर यूप यज्ञार्थ और पुरुषार्थ होता है वैसे ही भगवन्नामोच्चारण भी विधायक वचनके भेदसे कर्मकी न्यूनताकी पूर्ति और पापके नाशका कारण होता है । कहा भी है—

'अवशेनाऽपि यन्नाम्नि कीर्तिते सर्वपातकैः ।
पुमान् विमुच्यते सद्यः सिंहत्रस्तैर्मृगैरिव ॥'

(जैसे सिंहसे भयभीत हुए मृग दूर भाग जाते हैं वैसे ही अवश होकर भी नाम-कीर्त्तन करनेसे उसी क्षण मनुष्य सब पापोंसे रहित हो जाते हैं)

[शङ्का—''हरिर्हरति पापानि'' इत्यादि वचनोंसे प्रतीत होता है कि केवल भगवान्में ही पाप दूर करनेकी शक्ति है न कि भगवन्नाममें । समाधान—] यह विषय गम्भीर होनेपर भी अति सरल है, क्योंकि यह किसी विधिका शेष नहीं है । लिङादि प्रत्यय न होनेसे अर्थवाद

---

[*] यस्य स्मृत्या च नामोक्त्या तपोयज्ञक्रियादिषु ।
न्यूनं सम्पूर्णतां याति सद्यो वन्दे तमच्युतम् ॥

नहीं होता। जैसे "आग्नेयोऽष्टाकपालो भवति" में लिङादिके न होनेपर भी विधि है वैसे ही "सकृदुच्चरितम्" में भी विधि बन सकती है। ❀श्रुतिसे भी यह ज्ञात होता है कि नामका उच्चारण करनेसे तप, दान आदि सब धर्म अधिक हो जाते हैं। देवताधिकरणमें यह माना गया है कि मन्त्र और अर्थवाद अपने विषयमें प्रमाण होते हैं। इसलिए यह सिद्ध हुआ कि नारायणके नामाभाससे सम्पूर्ण पाप दूर हो जाते हैं।

[शङ्का—जब कि श्रद्धा, भक्ति और आवृत्तिकी विधि है तब किस प्रकार केवल नामाभाससे पापका क्षय होगा ? समाधान—] यह ठीक है, क्योंकि इन उपायोंसे मनुष्य अन्त समयमें नामके उच्चारणमें समर्थ होता है, किन्तु जिसने किसी बहानेसे मरते समय श्रीहरिके नामका स्मरण कर लिया उसको इस बातकी अपेक्षा नहीं कि वह पहले श्रद्धा इत्यादिसे सुसम्पन्न हो। "अन्तमें जैसी मति होती है वैसी ही उसकी गति होती है" इस न्यायसे भी नामाभासके उच्चारणमात्रसे पापका नाश होता है †।

[शङ्का—जब नामोच्चारणका इतना माहात्म्य है तो फिर वैदिक कर्म सन्ध्योपासनादि करनेका कष्ट क्यों किया जाय ? समाधान—] नामोच्चारणके भी नियम हैं, जिनका उल्लङ्घन करनेसे नामोच्चारण करनेपर भी किसी अर्थकी प्राप्ति नहीं होती है अर्थात् कोई फल नहीं मिलता। इसीको नामापराध कहते हैं। इन नामपराधोंकी संख्या दस है—

(१) सत्पुरुषोंकी या सच्छास्त्रोंकी या सन्मन्त्रोंकी निन्दा। (२)

❀ "मर्ता अमर्त्यस्य ते भूरि नाम मनामहे विप्रासो जातवेदसः।
आस्य जानन्तो नामचिद्विवक्तन।"

† अथैनं माऽपनयत कृताशेषाघनिष्कृतम्। यदसौ भगवन्नाम म्रियमाणः समग्रहीत्॥
साङ्केत्यं पारिहास्यं वा स्तोभं हेलनमेव वा। वैकुण्ठनामग्रहणमशेषाघहरं विदुः॥
पतितः स्खलितो भग्नः संदष्टस्तप्त आहतः। हरिरित्यवशेनाह पुमान्नार्हति यातनाम्॥
भा० ६-२-१३ से १५।

असत्पुरुषोंसे नामका माहात्म्य कहना या असत्पुरुषोंके सामने नामोच्चारण करना। (३) विष्णु और शिवमें भेदबुद्धि। (४) गुरुके वाक्योंमें अविश्वास। (५) नाममाहात्म्यको अर्थवाद मानना। (६) नामकी ओटमें शास्त्रोक्त कर्म-धर्मोंका त्याग। (७) निषिद्ध पापकर्मोंका आचरण। (८) वेदवाक्यमें अश्रद्धा। (९) नामजपकी इतर धर्मोंसे समानता अर्थात् अपने धर्मशास्त्रके नाम छोड़कर अन्य नाम जपना। (१०) शास्त्रवचनमें अश्रद्धा।

उपर्युक्त कथनसे प्रतीत होता है कि नामापराधोंसे बचकर ही नामोच्चारणसे पापोंका प्रायश्चित्त होता है तथा मुक्ति प्राप्त होती है इसी अर्थको विष्णुदूत कहते हैं—

[विष्णुदूता ऊचुः❀]

न निष्कृतैरुदितैर्ब्रह्मवादिभि-
स्तथा विशुध्यत्यघवान्व्रतादिभिः।
यथा हरेर्नामपदैरुदाहृतै-
स्तदुत्तमश्लोकगुणोपलम्भकम् ॥११॥
नैकान्तिकं तद्धि कृतेऽपि निष्कृतं
मनः पुनर्धावति चेदसत्पथे।

केवल मुखसे श्रीहरिके नामके पदोंका उच्चारण करनेसे पापी पुरुष जैसा शुद्ध होता है वैसा मनु आदिसे प्रतिपादित प्रायश्चित्तों द्वारा शुद्ध नहीं होता है (क्योंकि कृच्छ्र, चान्द्रायण आदि व्रत केवल पापोंके दूर करनेमें समर्थ होते हैं, किन्तु) भगवान्के नामके पदोंका उच्चारण, उत्तम कीर्तिशाली भगवान्के गुणोंका ज्ञान करा देता है ॥११॥

प्रायश्चित्त अत्यन्त शुद्ध करनेवाला नहीं है, क्योंकि प्रायश्चित्त

❀ भा० ६-२-११ इत्यादि।

तत्कर्मनिर्हारमभीप्सतां हरे-
गुणानुवादः खलु सत्त्वभावनः ॥१२॥
अथैनं माऽपनयत कृताशेषाघनिष्कृतम् ।
यदसौ भगवन्नाम म्रियमाणः समग्रहीत् ॥१३॥
साङ्केत्यं पारिहास्यं वा स्तोभं हेलनमेव वा ।
वैकुण्ठनामग्रहणमशेषाघहरं विदुः ॥१४॥
पतितः स्खलितो भग्नः सन्दष्टस्तप्त आहतः ।
हरिरित्यवशेनाह पुमान्नार्हति यातनाम् ॥१५॥

करनेपर मन फिर भी पापमार्गकी तरफ दौड़ने लगता है, ऐसी अवस्थामें पापोंका समूल नाश करनेकी इच्छा करनेवाले पुरुषके लिए बारम्बार श्रीहरिके गुणोंका वर्णन करना ही प्रायश्चित्त है, क्योंकि उससे अन्तःकरण शुद्ध हो जाता है ॥१२॥

इसको अब तुम यमलोकमें मत ले जाओ, क्योंकि इसने अन्त समयमें भगवान्‌के पूर्ण नामका उच्चारण करके सम्पूर्ण पापोंका प्रायश्चित्त कर डाला है ॥१३॥

[पूर्वपक्ष—इसने अपने पुत्रका नाम लिया था न कि भगवान्‌का, तब उससे किस प्रकार पापकी निवृत्ति हुई ? समाधान—] वेदवेत्ता पुरुषोंका मत है कि पुत्रके सङ्केतसे, हास्यसे, गानमें आलापकी पूर्तिके लिये और निन्दाके साथ उच्चारित विष्णु भगवान्‌का नाम सम्पूर्ण पापोंका नाशक है ॥१४॥

ऊँचेसे गिरनेपर, पैर फिसलनेपर, शरीरपर चोट आनेपर, विषैले कीड़ोंसे डसे जानेपर, ज्वरादिसे सन्तप्त होनेपर, लाठियोंसे पीटे जानेपर जो पुरुष विवश होकर 'हे हरि' ऐसा कहता है वह यातनाओंको नहीं भोगता ॥१५॥

गुरूणां च लघूनां च गुरूणि च लघूनि च ।
प्रायश्चित्तानि पापानां ज्ञात्वोक्तानि महर्षिभिः ॥१६॥
तैस्तान्यघानि पूयन्ते तपोदानजपादिभिः ।
नाऽधर्मजं तद्धृदयं तदपीशाङ्घ्रिसेवया ॥१७॥
अज्ञानादथवा ज्ञानादुत्तमश्लोकनाम यत् ।
सङ्कीर्तितमघं पुंसो दहेदेधो यथाऽनलः ॥१८॥
यथाऽगदं वीर्यतममुपयुक्तं यदृच्छया ।
अजानतोऽप्यात्मगुणं कुर्यान्मन्त्रोऽप्युदाहृतः ॥१९॥

[पूर्वपक्ष—बड़े पापोंका तो बड़ा प्रायश्चित्त होता है अतः केवल नामकीर्तन उपयुक्त प्रायश्चित्त नहीं हो सकता; दो श्लोकोंसे इसका समाधान करते हैं—] मनु आदि महर्षियोंने छ.टे और बड़े पापोंके न्यूनाधिक्यको जानकर छोटे और बड़े प्रायश्चित्तोंका विधान किया है । इस कारण तप, दान, जप आदि प्रायश्चित्तोंसे उस-उस प्रकारके पाप नष्ट हो जाते हैं, किन्तु अधर्माचरणसे मलिन पातकीका अन्तःकरण (अथवा पापोंका सूक्ष्म संस्कार) उनसे शुद्ध नहीं होता पर ईश्वरकी चरणसेवासे (कीर्तनादिसे) वह भी शुद्ध हो जाता है ॥ १६, १७॥

[पूर्वपक्ष—उसने प्रायश्चित्त करता हूँ ऐसा समझकर भगवन्नामोच्चारण नहीं किया ? समाधान—] जैसे अग्नि जाने अथवा बिना जाने डाली हुई समिधाको भस्म कर देती है वैसे ही यह सब पापोंका प्रायश्चित्त है ऐसा जानकर या बिना जाने उच्चारण किया हुआ पवित्रकीर्त्ति भगवान्का नाम-सङ्कीर्तन पुरुषोंके पापोंको भस्म कर देता है ॥ १८॥

जैसे वीर्यवती औषधि बिना उसके प्रभावको जाने हुए किसी प्रकार खाई जावे तब भी वह अपना गुण करती है वैसे ही किसी प्रकारसे उच्चरित भगवन्नामरूप मन्त्र पापनिवृत्ति करता है ॥१९॥

बीसवाँ अध्याय

आत्मतत्त्वका निरूपण

पहला प्रकरण

शेष भगवान्ने चित्रकेतुके प्रति कहा। [चित्रकेतुकी आख्यायिका भागवत् स्तुति-संग्रहमें लिखी गयी है*।]

[श्रीभगवानुवाच†]

अहं वै सर्वभूतानि भूतात्मा भूतभावनः।
शब्दब्रह्म परं ब्रह्म ममोभे शाश्वती तनू ॥५१॥
लोके विततमात्मानं लोकं चाऽऽत्मनि सन्ततम्।
उभयं च मया व्याप्तं मयि चैवोभयं कृतम् ॥५२॥

स्तुति किये जानेपर शेष भगवान्ने कहा—

[यह कहते हैं कि भोक्ता और भोग्यरूप सम्पूर्ण विश्व मुझसे पृथक् नहीं है—] सब भूत और उनका आत्मा "भोक्ता" मैं ही हूँ, क्योंकि मैं ही सब भूतोंका प्रकाशक और कारण हूँ।

[शङ्का—प्रकाशक तो शब्द-ब्रह्म है और परब्रह्म कारण है? समाधान—] यह ठीक ही है, किन्तु शब्दब्रह्म और परब्रह्म ये दोनों मेरे ही नित्य स्वरूप हैं ॥५१॥

[यह कहते हैं कि तुम्हें इस प्रकार देखना चाहिये कि]

---

* देखिये भागवतस्तुतिसंग्रह पृ० ४२२। † भा० ६-१६-५१ इत्यादि।

यथा सुषुप्तः पुरुषो विश्वं पश्यति चाऽऽत्मनि ।
आत्मानमेकदेशस्थं मन्यते स्वप्न उत्थितः ॥५३॥
एवं जागरणादीनि जीवस्थानानि चाऽऽत्मनः ।
मायामात्राणि विज्ञाय तद्द्रष्टारं परं स्मरेत् ॥५४॥
येन प्रसुप्तः पुरुषः स्वापं वेदाऽऽत्मनस्तदा ।
सुखं च निर्गुणं ब्रह्म तमात्मानमवेहि माम् ॥५५॥

भोग्यप्रपञ्चमें भोक्तारूपसे आत्मा अनुगत है और वह प्रपञ्च आत्मामें भोग्यरूपसे व्याप्त है और इन दोनोमें मैं कारणरूपसे व्याप्त हूँ । (अर्थात् ये दोनों मुझमें कल्पितरूपसे व्याप्त हैं) ॥५२॥

[शङ्का—जाग्रदादि अवस्थाके भेदसे स्फुटरूपसे प्रतीत होनेवाला यह संसार क्यों कल्पित समझा जावे ? इसका समाधान स्वप्नके दृष्टान्तसे दो श्लोकोंसे करते हैं—]

जैसे सोया हुआ पुरुष स्वप्नमें दूसरे स्थानके वन, पर्वत आदि रूप जगत्को अपने भीतर देखता है (और स्वप्नमें भी सुषुप्ति और स्वप्नको देखता है) फिर स्वप्नमें ही जाग्रत् होकर अपनेको एक स्थान-पर बैठा हुआ-सा मानता है अर्थात् स्वप्नमें जाग्रत्का अनुभव करता है।

वैसे ही प्रत्यक्ष जाग्रत् आदि अवस्थाएँ इस जीवकी उपाधिभूत बुद्धिकी अवस्थाएँ हैं और ये आत्मामें मायासे कल्पित हैं, ऐसा जानकर यह समझे कि उनका द्रष्टा आत्मा है और वह उन अव-स्थाओंसे रहित है ॥५३,५४॥

[शङ्का—यह कैसे कहते हो कि आत्मा उसका द्रष्टा है ? क्योंकि सुषुप्तिमें जब दृश्यका अभाव है, तब आत्मा द्रष्टा कैसे हो सकता है ? समाधान—] सुषुप्तिमें जीव जिससे अपनी गाढ़ निद्रा-का और सुखस्वरूप निर्गुण ब्रह्मका अनुभव करता है, वह आत्म-स्वरूप मैं ही हूँ, यह जानो । [भाव यह है कि सुषुप्तिसे जागनेपर

उभयं स्मरतः पुंसः प्रस्वापप्रतिबोधयोः ।
अन्वेति व्यतिरिच्येत यज्ज्ञानं ब्रह्म तत्परम् ॥५६॥
यदेतद्विस्मृतं पुंसो मद्भावं भिन्नमात्मनः ।
ततः संसार एतस्य देहाद्देहो मृतेर्मृतिः ॥५७॥
लब्ध्वेह मानुषीं योनिं ज्ञानविज्ञानसम्भवाम् ।
आत्मानं यो न बुध्येत न क्वचिच्छममाप्नुयात् ॥५८॥

मनुष्य कहता है कि खूब आनन्दसे सोया, कोई खबर नहीं रही। यह बात बिना अनुभवके नहीं कही जाती। अतः यह सिद्ध होता है कि सुषुप्तिमें द्रष्टा सुखका अनुभव करता है] ॥५५॥

[शङ्का—सुषुप्तिके साक्षीने जो अनुभव किया, उसका ज्ञान जाग्रत्के साक्षीको किस प्रकार हो सकता है ? क्योंकि एकके द्वारा देखी गई वस्तुका दूसरा पुरुष स्मरण नहीं कर सकता। समाधान—] दोनों सुषुप्ति और जाग्रत् अवस्थाओंका अनुसन्धान रखनेवाले मनुष्यके ज्ञानका प्रकाशक एक ही है और वह दोनों अवस्थाओंसे विलक्षण है। वह ज्ञान ही परब्रह्म है अर्थात् परब्रह्म उस ज्ञानसे भिन्न नहीं है। (इसको इस प्रकार समझना चाहिये कि जैसे युवावस्थामें बाल्यावस्थामें देखी हुई वस्तुका स्मरण होता है, वैसे ही सुषुप्ति अवस्थाके अज्ञान और आनन्दका स्मरण जीवको होता है) ॥५६॥

यदि कहे हुए मेरे स्वरूपका अर्थात् ब्रह्मका विस्मरण होता है, तो पुरुषका स्वरूप आत्मासे भिन्न हो जाता है और इस कारण वह जन्म-मरणरूपी संसारके चक्करमें पड़ जाता है ॥५७॥

यदि पुरुष इस मनुष्ययोनिको प्राप्त कर, जिसमें शास्त्र और अनुभवयुक्त ज्ञानका होना सम्भव है, आत्माको नहीं जानता, तो उसको किसी योनिमें मोक्ष नहीं प्राप्त होगा ॥५८॥

स्मृत्वेहायां परिक्लेशं ततः फलविपर्ययम् ।
अभयं चाऽप्यनीहायां सङ्कल्पाद्विरमेत्कविः ॥५९॥
सुखाय दुःखमोक्षाय कुर्वाते दम्पती क्रियाः ।
ततो निवृत्तिरप्राप्तिर्दुःखस्य च सुखस्य च ॥६०॥
एवं विपर्ययं बुद्ध्वा नृणां विज्ञाभिमानिनाम् ।
आत्मनश्च गतिं सूक्ष्मां स्थानत्रयविलक्षणाम् ॥६१॥
दृष्टश्रुताभिर्मात्राभिर्निर्मुक्तः स्वेन तेजसा ।
ज्ञानविज्ञानसन्तुष्टो मद्भक्तः पुरुषो भवेत् ॥६२॥
एतावानेव मनुजैर्योगनैपुण्यबुद्धिभिः ।
स्वार्थः सर्वात्मना ज्ञेयो यत्परात्मैकदर्शनम् ॥६३॥

प्रवृत्तिमार्गमें बड़ा क्लेश होता है एवं विपरीत फल मिलता है तथा निवृत्तिमार्गमें मोक्ष प्राप्त होता है, यों जानकर विवेकी पुरुष फलकी इच्छाका त्याग करे ॥५९॥

[इसीका तीन श्लोकोंसे विवरण करते हैं—] दोनों—स्त्री और पुरुष—सुखकी प्राप्ति और दुःखकी निवृत्तिके लिये नाना प्रकारके कर्म करते हैं, परन्तु उन कर्मोंसे उनको न सुख ही मिलता है और न उनका दुःख ही दूर होता है ॥६०॥

जो पुरुष ऐसा अभिमान करते हैं कि हम कर्म करनेमें चतुर हैं, उनको वही विपरीत फल मिलता है, जैसा कि ऊपर कहा गया है, इस कारण मनुष्य आत्माका सूक्ष्मस्वरूप (तुरीयस्वरूप) तीनों जाग्रदादि अवस्थाओंसे विलक्षण है, यों जानकर अपने विवेकके बलसे इस लोक और परलोकके विषयोंको छोड़कर शास्त्र और अनुभवरूपी ज्ञानसे सन्तुष्ट होकर मेरी भक्तिसे युक्त हो ॥६१,६२॥

[अब कहते हैं कि यही परम पुरुषार्थ है—] सब स्थानोंमें

**त्वमेतच्छ्रद्धया राजन्नप्रमत्तो वचो मम ।
ज्ञानविज्ञानसम्पन्नो धारयन्नाशु सिध्यसि ॥६४॥**

स्थित परमात्मा एक है, ऐसा देखना ही योगमें निपुण बुद्धिमान् मनुष्योंका परम पुरुषार्थ है ॥६३॥

हे राजन् ! तू सावधान और ज्ञान-विज्ञानसे सुसम्पन्न होकर, श्रद्धासे मेरे वचनको धारण करके शीघ्र मेरे स्वरूपको प्राप्त हो जायगा ॥६४॥

******

दूसरा प्रकरण

यमका सुयज्ञ राजाके ज्ञातियोंके प्रति कथन

उशीनर देशमें सुयज्ञ नामका राजा था । उसको शत्रुओंने युद्धमें मार डाला । उसके केश बिखरे हुए थे । नेत्र फूट गये थे । आयुध और भुजाएँ कट गई थीं । राजाकी ऐसी दशा देखकर उसकी रानियाँ दुःखित हुईं । अपने मृत पतिका आलिङ्गन करके रोने लगीं और उन्होंने उसे दाहकर्म करनेके लिये भी नहीं छोड़ा । यमने अपनी पुरीमें उनका रोदन सुना और बालकका रूप धारण कर वे वहाँ स्वयं पहुँचे और उनसे एक कुलिङ्ग पक्षीके जोड़ेका इतिहास कहा ।

किसी बहेलियेने एक कुलिङ्ग पक्षीके जोड़ेको पकड़नेके लिये जाल बिछाया । कुलिङ्गकी स्त्री जालमें बँध गयी । कुलिङ्ग उसकी यह दशा देखकर दुःखी हुआ और विलाप करने लगा । कालसे प्रेरित छिपकर बैठे हुए उस व्याधने कुलिङ्गको भी बाणसे मार डाला । इस कथानकको कहनेके पूर्व यम महाराज बोले—

यम उवाच*

अहो अमीषां वयसाधिकानां
विपश्यतां लोकविधिं विमोहः ।
यत्राऽऽगतस्तत्र गतं मनुष्यं
स्वयं सधर्मा अपि शोचन्त्यपार्थम् ॥३८॥
अहो वयं धन्यतमा यदत्र
त्यक्ताः पितृभ्यां न विचिन्तयामः ।
अभक्ष्यमाणा अबला वृकादिभिः
स रक्षिता रक्षति यो हि गर्भे ॥३९॥

अहो ! यह कैसा आश्चर्य है कि ये लोग मुझसे अवस्थामें बड़े हैं और संसारके जन्ममरण आदि विधि देखते हुए भी मोहको प्राप्त हो रहे हैं, क्योंकि जिस अव्यक्तसे आया था उसी गये हुए मनुष्यके लिये व्यर्थ शोक कर रहे हैं । जैसे कि गीतामें कहा है—

[अव्यक्तादीनि भूतानि व्यक्तमध्यानि भारत ।
अव्यक्तनिधनान्येव तत्र का परिदेवना ॥ गी० २-२८]

ये स्वयं भी तो जन्ममरणशील हैं, अतः इनका शोक करना व्यर्थ ही है ॥३८॥

अहो ! तुमसे तो हम ही धन्य हैं । माता और पितासे भी त्यागे हुए और दुर्बल होकर भी भेड़ियोंसे नहीं खाये जा रहे हम लोग शोक नहीं करते, क्योंकि हमारी रक्षा करनेवाला वही है जो कि गर्भमें रक्षा करता है ॥३९॥

[अब यह कहते हैं कि रक्षा करनेमें ईश्वरका कोई प्रयोजन सिद्ध नहीं होता, यह उसकी केवल क्रीड़ा है—]

---

* गीता २-२८ इत्यादि ।

य इच्छयेशः सृजतीदमव्ययो
य एव रक्षत्यवलुम्पते च यः ।
तस्याऽबलाः क्रीडनमाहुरीशितु-
श्चराचरं निग्रहसङ्ग्रहे प्रभुः ॥४०॥
पथि च्युतं तिष्ठति दिष्टरक्षितं
गृहे स्थितं तद्विहतं विनश्यति ।
जीवत्यनाथोऽपि तदीक्षितो वने
गृहेऽपि गुप्तोऽस्य हतो न जीवति ॥४१॥
भूतानि तैस्तैर्निजयोनिकर्मभि-
र्भवन्ति काले न भवन्ति सर्वशः ।

हे अबलाओ ! जो नाशरहित ईश्वर इस जगत्की अपनी इच्छासे सृष्टि, पालन तथा संहार करता है उस ईश्वरका यह चराचर जगत् क्रीड़ाका साधन है, ऐसा विद्वान् लोग कहते हैं, इसी कारण वह इसका पालन और संहार करनेमें समर्थ है ॥४०॥

[अन्वय और व्यतिरेकसे ईश्वरका प्रभुत्व दिखलाते हैं—] ईश्वरसे रक्षित मार्गमें पड़ी हुई वस्तु ज्यों-की-त्यों पड़ी रहती है और उससे उपेक्षित घरमें रखी हुई भी वस्तु नष्ट हो जाती है । इसी प्रकार ईश्वर-की सुदृष्टिसे वनमें अनाथ भी जीवित रहता है और उस कीउपेक्षा होनेपर पुरुष घरमें रक्षा करनेपर भी जीवित नहीं रहता ॥४१॥

[इस प्रकार आत्माके जन्म और मरणका अङ्गीकार कर उसके ईश्वरके अधीन होनेसे शोक-मोह नहीं करना चाहिये, यह कहा । अब तीन श्लोकोंसे यह प्रतिपादन करते हैं कि देहादिके ही जन्म-मरण होते हैं आत्माके नहीं—] देहके कारण लिङ्गशरीरसे उत्पन्न हुए नाना प्रकारके कर्मोंसे सब देवादि शरीर उत्पन्न होते हैं और नाशको भी प्राप्त होते हैं, परन्तु उस समय शरीरमें रहते हुए भी उससे अत्यन्त

न तत्र ह्यात्मा प्रकृतावपि स्थित-
स्तस्या गुणैरन्यतमो निबध्यते ॥४२॥
इदं शरीरं पुरुषस्य मोहजं
यथा पृथग् भौतिकमीयते गृहम् ।
यथोदकैः पार्थिवतैजसैर्जनः
कालेन जातो विकृतो विनश्यति ॥४३॥
यथाऽनलो दारुषु भिन्न ईयते
यथाऽनिलो देहगतः पृथक् स्थितः ।
यथा नभः सर्वगतं न सज्जते
तथा पुमान् सर्वगुणाश्रयः परः ॥४४॥

भिन्न होनेके कारण आत्मा शरीरके जन्म आदि धर्मोंसे बन्धनको प्राप्त नहीं होता ॥४२॥

(जैसे अत्यन्त अज्ञानी पुरुष भी) अपने घरको अपनेसे पृथक् समझता है, वैसे ही अज्ञानसे आत्मरूपसे प्रतीत होनेवाला यह भौतिक शरीर आत्मासे पृथक् है और जैसे जलसे उत्पन्न हुए बुलबुले, पृथ्वी-से उत्पन्न घटादि और तेज (सुवर्ण) से उत्पन्न हुए कुण्डलादि आभूषण नाशको प्राप्त होते हैं, वैसे ही पृथ्वी, जल और तेजके पर-माणुओंसे बना हुआ शरीर कालवश विकारको प्राप्त होकर नाशको प्राप्त होता है । (आत्माका नाश नहीं होता ।) ॥४३॥

[अब दृष्टान्त देकर यह सिद्ध करते हैं कि एक ही स्थानमें रहते हुए भी भिन्नता होती है—] जैसे अग्नि काष्ठमें विद्यमान (वर्तमान) रहते हुए भी प्रकाशकरूपसे और दाहकरूपसे भिन्न-भिन्न प्रतीत होती है; जैसे देहके भीतर विद्यमान वायु मुख, नासिका आदि स्थानोंमें निराला प्रतीत होता है और जैसे आकाश सर्वत्र व्याप्त होकर भी कहीं लिप्त नहीं होता, वैसे ही आत्मा भी देह, इन्द्रियका आश्रित होकर भी उनसे पृथक् है ॥४४॥

सुयज्ञो नन्वयं शेते मूढा यमनुशोचथ ।
यः श्रोता योऽनुवक्तेह स न दृश्येत कर्हिचित् ॥४५॥
न श्रोता नाऽनुवक्ताऽयं मुख्योऽप्यत्र महानसुः ।
यस्त्विहेन्द्रियवानात्मा स चाऽन्यः प्राणदेहयोः ॥४६॥
भूतेन्द्रियमनोलिङ्गान् देहानुच्चावचान् विभुः ।
भजत्युत्सृजति ह्यन्यस्तच्चाऽपि स्वेन तेजसा ॥४७॥

हे मूर्खाओ ! जिसका तुम शोक करती हो वह तुम्हारा भर्ता सुयज्ञ यहीं शयन कर रहा है, फिर व्यर्थ क्यों शोक कर रही हो । यदि यह समझकर शोक कर रही हो कि वह पहले हमारे कथनको सुनता था और उसका उत्तर देता था (और अब ऐसा नहीं करता अतः वह मृत्युको प्राप्त हो गया है) तो यह भी शोकका कारण नहीं है, क्योंकि सुयज्ञके शरीरके भीतर जो श्रोता तथा वक्ता था, वह पहले भी देखनेमें नहीं आता था ॥४५॥

[शङ्का—यदि यह कहो कि मुख, नासिका आदिमें रहनेवाला प्राण श्रोता और वक्ताके रूपसे प्रत्यक्ष था, तो इसका समाधान करते हैं कि प्राण स्वतः अचेतन है, अतः वह श्रोता या वक्ता नहीं हो सकता—] यद्यपि सम्पूर्ण इन्द्रियोंकी चेष्टाओंका कारण होनेसे यह प्राण बड़ा और मुख्य है तथापि वह आत्मा नहीं है। [प्रश्न—फिर वक्ता और श्रोता कौन है ? उत्तर—] जो देह और इन्द्रियोंके द्वारा विषयोंका द्रष्टा है, वही आत्मा है और वह प्राण, देह आदि जड़पदार्थोंसे भिन्न और सचेतन है ॥४६॥

भूत, इन्द्रिय और मनके द्वारा प्रतीत होनेवाले शरीरोंको वह व्यापक आत्मा स्वीकार करता है अर्थात् यह मानता है कि यह शरीर "मैं ही हूँ" । [शङ्का—तब मुक्त कैसे होता है ? समाधान—] फिर अपने विवेकके बलसे उस स्वीकृत अभिमानको भी वह त्याग देता है, यह अनुभवसिद्ध बात है ॥४७॥

यावल्लिङ्गान्वितो ह्यात्मा तावत्कर्मनिबन्धनम् ।
ततो विपर्ययः क्लेशो मायायोगोऽनुवर्तते ॥४८॥
वितथाभिनिवेशोऽयं यद्गुणेष्वर्थदृग् वचः ।
यथा मनोरथः स्वप्नः सर्वमैन्द्रियकं मृषा ॥४९॥
अथ नित्यमनित्यं वा नेह शोचन्ति तद्विदः ।
नाऽन्यथा शक्यते कर्तुं स्वभावः शोचतामिति ॥५०॥

[शङ्का—विवेक होनेके अनन्तर भी आहारादि कर्मोंमें प्रवृत्ति होनेसे बन्ध हो जायगा ? समाधान—] जबतक आत्माको लिङ्ग-शरीरका अभिमान रहता है, तभीतक ही कर्म उसके बन्धनके कारण हैं और देहको भोक्तापन प्राप्त होकर क्लेश होते हैं । (लिङ्गशरीरका अभिमान दूर होनेपर वह दशा नहीं रहती है, क्योंकि) भोक्ता आदि-रूप देहधर्म मायासे होता है, वास्तवमें सत्य नहीं है ॥४८॥

[शङ्का—सुख, दुःख और उनके साधनोंकी प्रतीति होती है ऐसी अवस्थामें उनको मायामय क्यों कहा ? लोकायतिक लोग उनको सत्य कहते हैं, समाधान—] गुण और गुणके कार्यको सत्य मानना व्यर्थ अभिमान है, जैसे जाग्रत् अवस्थाके मनोरथके राज्यादि सुख अथवा स्वप्नके भोगादि सुख वास्तवमें सत्य नहीं हैं, वैसे ही सम्पूर्ण इन्द्रियोंका सुख वास्तवमें सत्य नहीं है ॥४९॥

इस कारण आत्माको नित्य और देहको अनित्य माननेवाले पुरुष इस संसारमें आत्मा अथवा देहका शोक नहीं करते हैं। [प्रश्न—ऐसा उपदेश करनेवाले भी शोक करते दिखाई देते हैं ? उत्तर—] शोक करनेवालोंके स्वभावको हटाना कठिन है अर्थात् दृढ़ ज्ञान हुए बिना उनका स्वभाव निवृत्त नहीं हो सकता ॥५०॥

तीसरा प्रकरण

प्रह्लादका असुर-बालकोंके प्रति उपदेश

असुरोंके राजा हिरण्यकशिपुने अपने पुत्र प्रह्लादको अन्य असुर-बालकोंके साथ शण्डामर्क नामवाले गुरुओंके घर पढ़नेके लिये भेज दिया। गुरुने केवल उसको राजनीति पढ़ायी। प्रह्लादको वह रुचि-कर नहीं हुई, क्योंकि उस शास्त्रमें अमुक शत्रु है, अमुक मित्र है, इस प्रकार लौकिक विषयकी ही प्रधानता रहती है। एक समय जब गुरु पढ़ानेके स्थानसे अपने घर गये, तब समवयस्क बालकोंने मौका पाकर प्रह्लादको खेलनेके निमित्त पुकारा। प्रह्लादने मधुर वाणीसे उन बालकोंको अपने पास बुलाकर हँसते हुए कृपा करके कहा—

प्रह्लाद उवाच❀

कौमार आचरेत्प्राज्ञो धर्मान् भागवतानिह।
दुर्लभं मानुषं जन्म तदप्यध्रुवमर्थदम्॥१॥
यथा हि पुरुषस्येह विष्णोः पादोपसर्पणम्।
यदेष सर्वभूतानां प्रिय आत्मेश्वरः सुहृत्॥२॥

बुद्धिमान् पुरुष इस मनुष्यजन्ममें बचपनसे ही भगवत्सम्बन्धी धर्मोंका आचरण करे, क्योंकि मनुष्य-जन्म दुर्लभ होते हुए अनित्य और पुरुषार्थ देनेवाला है। [भाव यह है कि नश्वर मनुष्य-जन्म पाकर नित्य पुरुषार्थको सिद्ध करना चाहिये]॥१॥

इस मनुष्य-जन्ममें जिस प्रकार जीवको विष्णु भगवान्के चरणों-की प्राप्ति हो (वैसा आचरण करना चाहिये), क्योंकि विष्णु सब प्राणियोंके प्रिय, आत्मा, ईश्वर और सुहृद् हैं॥२॥

❀ भा० ७-६-१ इत्यादि।

सुखमैन्द्रियकं दैत्या देहयोगेन देहिनाम् ।
सर्वत्र लभ्यते दैवाद्यथा दुःखमयत्नतः ॥३॥
तत्प्रयासो न कर्तव्यो यत आयुर्व्ययः परम् ।
न तथा विन्दते क्षेमं मुकुन्दचरणाम्बुजम् ॥४॥
ततो यतेत कुशलः क्षेमाय भयमाश्रितः ।
शरीरं पौरुषं यावन्न विपद्येत पुष्कलम् ॥५॥
पुंसो वर्षशतं ह्यायुस्तदर्धं चाऽजितात्मनः ।
निष्फलं यदसौ रात्र्यां शेतेऽन्धं प्रापितस्तमः ॥६॥
मुग्धस्य बाल्ये कौमारे क्रीडतो याति विंशतिः ।
जरया ग्रस्तदेहस्य यात्यकल्पस्य विंशतिः ॥७॥

हे दैत्यबालको ! जैसे दुःख प्रयासके बिना प्राप्त होता है, वैसे ही प्राणियोंको देहके सम्बन्धसे इन्द्रियोंसे होनेवाला सुख पशु आदि योनियोंमें भी प्रयत्नके बिना प्राप्त होता है ॥३॥

इस कारण सुखके लिये आयास न करो, क्योंकि उस प्रयाससे केवल आयुका क्षय होता है और वह कल्याण प्राप्त नहीं होता जो भगवान् मुकुन्दके चरण-कमलोंकी सेवासे प्राप्त होता है ॥४॥

संसारदुःखसे त्रस्त हुआ विवेकी पुरुष जबतक सब अङ्गोंसे पूर्ण यह मानव शरीर असमर्थ न हो तबतक शीघ्रतासे मोक्षके लिये प्रयत्न करे ॥५॥

[अब तीन श्लोकोंसे आयुके व्यतीत होनेका क्रम कहते हैं—] पुरुषकी आयु एक सौ वर्ष की है, किन्तु जिसने इन्द्रिय-निग्रह नहीं किया, उसकी आधी आयु निष्फल जाती है, क्योंकि वह पुरुष रात्रिमें गाढ़ निद्रारूपी अज्ञानमें सोता है ॥६॥

तथा बाल-कालकी मूढ़ अवस्थामें और कुमारावस्थाके खेल-कूदमें

दुरापूरेण कामेन मोहेन च बलीयसा ।
शेषं गृहेषु सक्तस्य प्रमत्तस्याऽपयाति हि ॥८॥
को गृहेषु पुमान् सक्तमात्मानमजितेन्द्रियः ।
स्नेहपाशैर्दृढैर्बद्धमुत्सहेत विमोचितुम् ॥९॥
को न्वर्थतृष्णां विसृजेत् प्राणेभ्योऽपि य ईप्सितः ।
यं क्रीणात्यसुभिः प्रेष्ठैस्तस्करः सेवको वणिक् ॥१०॥
कथं प्रियाया अनुकम्पितायाः
सङ्गं रहस्यं रुचिरांश्च मन्त्रान् ।
सुहृत्सु च स्नेहसितः शिशूनां
कलाक्षराणामनुरक्तचित्तः ॥११॥

बीस वर्ष और वृद्धावस्थामें सांसारिक कार्योंमें असमर्थ रहनेके कारण बीस वर्ष व्यतीत हो जाते हैं ॥७॥

घरमें आसक्त तथा प्रमत्तकी शेष आयु कभी न पूरे होनेवाले कामसे तथा बलवान् मोहसे व्यतीत होती है ॥८॥

[शङ्का—यौवनमें विषयोंमें आसक्त भले ही रहे, किन्तु फिर विरक्त होकर कल्याण साध लिया जायगा; समाधान—] ऐसा करना असम्भव-सा है, इन्द्रियोंको वशमें न करनेवाला गृह-पुत्र-स्त्रीमें आसक्त हुआ और स्नेहरूप दृढ़ पाशोंसे बँधा हुआ कौनसा पुरुष स्वयं अपनेको छुडानेमें समर्थ हो सकता है ? ॥९॥

जिस धनको चोर, सेवक और वणिक् अपने प्राणोंकी बाजी लगाकर पानेका प्रयत्न करते हैं, उस अपने प्राणसे भी प्रिय धन आदिकी तृष्णाको कौनसा असंयमी पुरुष छोड़ सकता है ? ॥१०॥

स्त्री, पुत्र आदिके स्नेहरूपी पाशसे बँधा हुआ और अनुरक्त पुरुष किस प्रकार प्रिय भार्याके एकान्तमें होनेवाले सङ्ग और भाषणको एवं मधुरभाषी बच्चोंके सङ्गको (छोड़ सकेगा) ? ॥११॥

पुत्रान्स्मरंस्ता दुहितॄर्हृदय्या
भ्रातॄन्स्वसॄर्वा पितरौ च दीनौ ।
गृहान्मनोज्ञोरुपरिच्छदांश्च
वृत्तीस्तु कुल्याः पशुभृत्यवर्गान् ॥१२॥
त्यजेत कोशस्कृदिवेहमानः
कर्माणि लोभादवितृप्तकामः ।
औपस्थ्यजैह्व्यं बहु मन्यमानः
कथं विरज्येत दुरन्तमोहः ॥१३॥
कुटुम्बपोषाय वियन्निजायु-
र्न बुध्यतेऽर्थं विहतं प्रमत्तः ।
सर्वत्र तापत्रयदुःखितात्मा
निर्विद्यते न स्वकुटुम्बरामः ॥१४॥

पुत्र, श्वसुरके घरमें रहनेवाली मनोहर कन्या, भ्राता, बहिन, वृद्ध अर्थात सामर्थ्यहीन माता-पिता, सुन्दर और बहुतसी सामग्रियों-से युक्त घर, कुलपरम्परासे प्राप्त जीविका, पशु और दास-दासियों-को (किस प्रकार छोड़ सकेगा) ॥१२॥

जैसे कोशकार नामवाला कीट अपने रहनेका स्थान बनाकर उसका द्वार भी बन्द कर देता है (और स्वतः बँध जाता है) इसी प्रकार जिसकी लोभसे कामनापूर्ण नहीं हुई, जो उपस्थ और जिह्वाके सुखको अधिक मानता है और जिसको बड़ा भारी मोह प्राप्त हुआ है, वह किस प्रकार विरक्त हो सकेगा ? ॥१३॥

प्रमत्त पुरुष कुटुम्बके पालन आदि कर्मसे अपनी क्षीण हो रही आयुको नहीं जानता है और यह भी नहीं जानता कि भगवान्‌के आरा-धनादि पुरुषार्थ छूट रहे हैं तथा तीनों तापोंसे जिसका मन दुःखित

वित्तेषु नित्याभिनिविष्टचेता
विद्वांश्च दोषं परवित्तहर्तुः ।
प्रेत्येह चाऽथाऽप्यजितेन्द्रियस्त-
दशान्तकामो हरते कुटुम्बी ॥१५॥
विद्वानपीत्थं दनुजाः कुटुम्बं
पुष्णन् स्वलोकाय न कल्पते वै ।
यः स्वीयपारक्यविभिन्नभाव-
स्तमः प्रपद्येत यथा विमूढः ॥१६॥
यतो न कश्चित्क्व च कुत्रचिद्वा
दीनः स्वमात्मानमलं समर्थः ।

हो रहा है, ऐसा पुरुष अपने कुटुम्बमें रत रहकर उसके दुःखोंको नहीं देखता है ॥१४॥

[इतना ही नहीं, किन्तु चोरी भी करता है, ऐसा कहते हैं—] जिसकी कामनाएँ पूर्ण नहीं हुई इन्द्रियोंको न जीतनेवाला और धनमें ही चित्त लगानेवाला कुटुम्बी पुरुष यह जानकर भी परधनके हरण करनेवालेको इस लोकमें राजदण्ड और परलोकमें नरकरूप दण्ड मिलता है, परधनका हरण करता है ॥१५॥

[सात श्लोकोंसे यह प्रतिपादन किया कि कुटुम्बमें आसक्त पुरुषको वैराग्य होना असम्भव है, अब इसीका उपसंहार करते हैं—] हे दानवो ! इस प्रकार अपने कुटुम्बका पोषण करनेवाला विद्वान् भी आत्मज्ञान प्राप्त करनेमें समर्थ नहीं होता है, किन्तु अति मूढ़ पुरुषके समान वह विद्वान् अन्धकारमें पड़ जाता है, क्योंकि उसमें यह भेदभाव रहता है कि यह मेरा है और यह पराया है ॥१६॥

[पहले जो यह कहा था कि बाल्यावस्थासे ही भागवत धर्मोंका आचरण करना चाहिये, उसीका उपसंहार करते हैं—] स्त्रियोंके काम-

विमोचितुं कामदृशां विहार-
क्रीडामृगो यन्निगडो विसर्गः ॥१७॥
ततो विदूरात्परिहृत्य दैत्या
दैत्येषु सङ्गं विषयात्मकेषु ।
उपेत नारायणमादिदेवं
विमुक्तसङ्गैरिषितोऽपवर्गः ॥१८॥
नह्यच्युतं प्रीणयतो बह्वायासोऽसुरात्मजाः ।
आत्मत्वात्सर्वभूतानां सिद्धत्वादिह सर्वतः ॥१९॥
परावरेषु भूतेषु ब्रह्मान्तस्थावरादिषु ।
भौतिकेषु विकारेषु भूतेष्वथ महत्सु च ॥२०॥

रूपी कटाक्षोंसे उनका क्रीड़ा मृग (खिलौना) बनकर और पुत्रादिरूप बेड़ियोंसे बँधकर वह दीन पुरुष किसी स्थानमें या किसी समय स्वयं अपनेको छुड़ानेमें समर्थ नहीं होता है ॥१७॥

इसलिये हे दैत्यो ! तुम विषयासक्त दैत्योंका सङ्ग छोड़कर आदि-देव नारायणकी शरणमें जाओ, क्योंकि संन्यासियों द्वारा अभिलषित परमानन्दरूप मोक्ष भी वही है ॥१८॥

[शङ्का—हम बालकोंसे इस प्रकार भजन होना कठिन है, समा-धान—] हे असुरबालको ! भगवान् सम्पूर्ण प्राणियोंकी आत्मा हैं और सर्वत्र प्रसिद्ध हैं, अतः अच्युत भगवान्को प्रसन्न करनेमें बड़ा परिश्रम नहीं है ॥१९॥

[अब इन्हीं दो कारणोंका अर्थात् ''आत्मत्वात्'' ''सर्वत्र प्रसि-द्धत्वात्'' का विवरण चार श्लोकोंसे करते हैं—] ब्रह्मासे लेकर स्थावर-पर्यन्त ऊँच-नीच जीवोंमें, पञ्च महाभूतोंके विकारोंमें (घटादिमें), पञ्चमहाभूतोमें (आकाशादिमें) ॥२०॥

गुणेषु गुणसाम्ये च गुणव्यतिकरे तथा ।
एक एव परो ह्यात्मा भगवानीश्वरोऽव्ययः ॥२१॥
प्रत्यगात्मस्वरूपेण दृश्यरूपेण च स्वयम् ।
व्याप्यव्यापकनिर्देश्यो ह्यनिर्देश्योऽविकल्पितः ॥२२॥
केवलानुभवानन्दस्वरूपः परमेश्वरः ।
माययाऽन्तर्हितैश्वर्य ईयते गुणसर्गया ॥२३॥
तस्मात्सर्वेषु भूतेषु दयां कुरुत सौहृदम् ।
आसुरं भावमुन्मुच्य यया तुष्यत्यधोक्षजः ॥२४॥
तुष्टे च तत्र किमलभ्यमनन्त आद्ये
किं तैर्गुणव्यतिकरादिह ये स्वसिद्धाः ।
धर्मादयः किमगुणेन च काङ्क्षितेन
सारञ्जुषां चरणयोरुपगायतां नः ॥२५॥

सत्त्वादि गुणोंमें, गुणोंकी साम्यावस्था (माया) में, गुणोंके विकार महत्तत्त्व आदिमें एक ही क्षय-रहित भगवान् ईश्वर है ॥२१॥

निर्देश करनेके योग्य और विकल्पका अविषय होकर भी उसका कथन इस प्रकार कर सकते हैं कि वह अन्तरात्मरूपसे व्यापक दृश्यरूपसे व्याप्य कहा जाता है ॥२२॥

केवल अनुभवगम्य आनन्दस्वरूप परमेश्वर हैं तथापि गुणमयी सृष्टि उत्पन्न करनेवाली मायासे अपने ऐश्वर्यको आच्छादित किये हुए हैं ॥२३॥

इस कारण असुरभावका त्याग कर सम्पूर्ण प्राणियोंके साथ दया और मित्रता करो, जिससे अधोक्षज भगवान् प्रसन्न होते हैं ॥२४॥

अनन्तगुण सबके कारण भगवान्के प्रसन्न होनेपर कौन-सा पदार्थ दुर्लभ है ? सत्त्वादि गुणोंके परिमाणरूप दैवसे अनायास प्राप्त होनेवाले धर्म, अर्थ, कामादि पुरुषार्थोंसे कौन-सा फल मिलेगा ? भगवान्के चरणों-

धर्मार्थकाम इति योऽभिहितस्त्रिवर्ग
ईक्षा त्रयी नयदमौ विविधा च वार्ता ।
मन्ये तदेतदखिलं निगमस्य सत्यं
स्वात्मार्पणं स्वसुहृदः परमस्य पुंसः ॥२६॥
ज्ञानं तदेतदमलं दुरवापमाह
नारायणो नरसखः किल नारदाय ।
एकान्तिनां भगवतस्तदकिञ्चनानां
पादारविन्दरजसाप्लुतदेहिनां स्यात् ॥२७॥
श्रुतमेतन्मया पूर्वं ज्ञानं विज्ञानसंयुतम् ।
धर्मं भागवतं शुद्धं नारदाद्देवदर्शनात् ॥२८॥

का रसास्वादन करनेवाले और उनका माहात्म्य गानेवाले हमको मोक्षकी इच्छासे क्या प्रयोजन है ? (अर्थात् कुछ प्रयोजन नहीं है) ॥२५॥

[शङ्का—यदि धर्म, अर्थ आदि पुरुषार्थ नहीं हैं, तो आचार्योंने वेदमें कहे जानेके कारण उन्हें क्यों सत्य माना है ? समाधान—] वेदमें जो धर्म, अर्थ, कामरूप त्रिवर्ग कहा गया है, उसके लिये आत्मविद्या, कर्मविद्या, तर्क, दण्डनीति और नाना प्रकारके कृषि आदि व्यापार बतलाये गये हैं, वे यदि अन्तर्यामी परम पुरुष भगवान्को अपना आत्मा समर्पण करनेके साधन हों तो उनको मैं सत्य मानता हूँ अन्यथा वे असत्य ही हैं ॥२६॥

[उनके विश्वासके लिये गुरुसम्प्रदायको कहते हैं—] उस निर्मल और दुर्लभ ज्ञानको नरके सखा नारायणने नारदजीसे कहा था । भगवान्के चरण-कमलोंकी रजके कणोंसे जिन प्राणियोंने स्नान किया है ऐसे भगवान्के अनन्य भक्तोंको ही यह ज्ञान प्राप्त होता है (भाव यह है कि तुम्हारा भी इसमें अधिकार है) ॥२७॥

मैंने भी यह शास्त्रीय तथा अनुभवयुक्त ज्ञान और हिंसादि दोष-रहित भागवत धर्म भगवान्के दर्शन पानेवाले नारदजीसे सुने हैं ॥२८॥

चौथा प्रकरण

महामुनिका प्रह्लादके साथ संवाद

एक समय भगवान्‌के प्रिय प्रह्लादजीने मन्त्रियोंके साथ संसारमें भ्रमण करते हुए कावेरी नदीके तटपर, पृथ्वीमें लेटे हुए हुए शरीरसे पुष्ट एक मुनिको देखा; जिनका निर्मल तेज धूलिधूसर अङ्गोंसे छिपा था। उनकी यथाविधि पूजा करके प्रह्लादने यह प्रश्न किया; "हे ब्रह्मन्! कोई व्यवसाय न करनेवाले सोते हुए आपके पास द्रव्य नहीं है जिससे भोग प्राप्त हो, इस कारण भोगरहित आपकी देहके पुष्ट होनेका क्या कारण है? आप उदासीन होकर क्यों शयन करते हैं?

[ब्राह्मण उवाच❀]

तृष्णया भववाहिन्या योग्यैः कामैरपूरया ।
कर्माणि कार्यमाणोऽहं नानायोनिषु योजितः ॥२३॥
यदृच्छया लोकमिमं प्रापितः कर्मभिर्भ्रमन् ।
स्वर्गापवर्गयोर्द्वारं तिरश्चां पुनरस्य च ॥२४॥

[ब्राह्मण बोला—]

["तुम विरक्त होकर क्यों सोते हो, जब कि सब लोग कर्ममें प्रवृत्त हैं?" इस प्रश्नका उत्तर चार श्लोकोंसे देते हैं—] संसार-प्रवाहमें डालनेवाली और उचित भोग मिलनेपर भी पूरी न होनेवाली तृष्णासे कर्मोंमें प्रवृत्त हुआ मैं पहले नाना योनियोंमें पड़ चुका हूँ ॥२३॥

कर्मोंसे भ्रमण करते हुए मुझको इस समय दैव इच्छासे यह मनुष्य-जन्म मिल गया। यह धर्मसे स्वर्ग देनेवाला, अधर्मसे शूकर-कूकरयोनियोंमें पहुँचानेवाला, पुण्य-पापमिश्रित कर्मसे मनुष्यदेह प्राप्त करनेवाला और ज्ञान और भक्तिसे मोक्ष का द्वार है ॥२४॥

❀ भा० ७-१३-२३ इत्यादि।

अत्रापि दम्पतीनां च सुखायाऽन्यापनुत्तये ।
कर्माणि कुर्वतां दृष्ट्वा निवृत्तोऽस्मि विपर्ययम् ॥२५॥
सुखमस्याऽऽत्मनो रूपं सर्वेहोपरतिस्तनुः ।
मनःसंस्पर्शजान्दृष्ट्वा भोगान्स्वप्स्यामि संविशन् ॥२६॥
इत्येतदात्मनः स्वार्थं सन्तं विस्मृत्य वै पुमान् ।
विचित्रामसति द्वैते घोरामाप्नोति संसृतिम् ॥२७॥
जलं तदुद्भवैश्छन्नं हित्वाऽज्ञो जलकाम्यया ।
मृगतृष्णामुपाधावेद्यथाऽन्यत्राऽर्थदृक्स्वतः ॥२८॥

इस मनुष्यजन्ममें भी सुखकी प्राप्ति और दुःखकी निवृत्तिके लिये कर्म करते हुए स्त्री-पुरुषोंको उलटे दुःखप्राप्तिरूप फल देखकर मैं सब कर्मोंसे निवृत्त हो गया हूँ ॥२५॥

[शङ्का—प्रवृत्तिमें तो कभी सुख भी मिलता है निवृत्तिसे क्या होगा ? समाधान—] सुख तो जीवका स्वरूप ही है। सम्पूर्ण कर्मों-के निवृत्त हो जानेपर वह स्वयं प्रकाशमान होता है। भोगोंको मनके सङ्कल्पसे होनेवाले (अनित्य) जानकर मैं प्रारब्ध कर्मोंका भोग करता हुआ यहाँ सोता हूँ ॥२६॥

[शङ्का—यदि यही बात है, तो कोई भी संसारको नहीं प्राप्त होगा ? समाधान—] मनुष्य अपनेमें ही स्थित अपने सुखस्वरूप इस स्वार्थको भूलकर और द्वैतके दुःखके कारण द्वैतमें (प्रपञ्चमें) जन्म-मरण आदिसे भयङ्कर देव, पशु, मनुष्य आदि संसारको प्राप्त हो जाता है ॥२७॥

[इसीको दृष्टान्तसे स्पष्ट करते हैं—] जैसे कोई मूर्ख पुरुष जलसे उत्पन्न हुए सिवार आदिसे ढँके हुए जलको छोड़कर जलकी इच्छासे मृगतृष्णाके जलकी ओर दौड़ता है, वैसे ही अज्ञानी पुरुष आत्मस्वरूपसे अन्यत्र (विषयोंमें) आत्मबुद्धि करता है अर्थात् सुखकी इच्छासे आत्माको छोड़कर विषयोंकी ओर दौड़ता है ॥२८॥

देहादिभिर्दैवतन्त्रैरात्मनः सुखमीहतः ।
दुःखात्ययं चाऽनीशस्य क्रिया मोघाः कृताकृताः ॥२९॥
अध्यात्मिकादिभिर्दुःखैरविमुक्तस्य कर्हिचित् ।
मर्त्यस्य कृच्छ्रोपनतैरर्थैः कामैः क्रियेत किम् ॥३०॥
पश्यामि धनिनां क्लेशं लुब्धानामजितात्मनाम् ।
भयादलब्धनिद्राणां सर्वतोऽभिविशङ्किनाम् ॥३१॥
राजतश्चौरतः शत्रोः स्वजनात्पशुपक्षितः ।
अर्थिभ्यः कालतः स्वस्मान्नित्यं प्राणार्थवद्भयम् ॥३२॥

[इस प्रकार अपनी निरुद्यमताका कारण बतलाकर अब पाँच श्लोकोंसे 'कैसे कर्मसे उलटा फल मिलता है' पचीसवें श्लोकमें वर्णित अर्थको स्पष्ट करते हैं—] देवताओंके अधीन रहनेवाले देह, इन्द्रिय आदिसे अपने सुखकी प्राप्ति और दुःखकी निवृत्तिकी इच्छा करते हुए स्वयं असमर्थ पुरुषके बार-बार आरब्ध कर्म व्यर्थ होते हैं; न तो वे सुख-जनक होते हैं और न दुःखकी निवृत्ति ही कर सकते हैं ॥२९॥

[कर्मोंके सफल होनेपर भी उनके फलका कोई उपयोग नहीं है—] आध्यात्मिक, आधिदैविक और आधिभौतिक दुःखोंसे किसी प्रकार मुक्त न हुए मरणशील पुरुषोंको अतिदुःखसे प्राप्त किये गये धनसे और उससे प्राप्त होनेवाले विषयोंसे कितना सुख मिलेगा ? ॥३०॥

[दुःखके बिना प्राप्त किया गया धन भी दुःखदायी है—] लोभी, अजितेन्द्रिय, भयसे निद्रारहित और सब लोगोंमें शङ्काकी दृष्टि रखनेवाले धनियोंके क्लेशोंको मैं देखता हूँ ॥३१॥

[उपर्युक्त श्लोकमें कथित 'भय' का विवरण करते हैं—] जीवित रहनेकी और धनकी इच्छा करनेवाले पुरुषोंको राजा, चोर, शत्रु, कुटुम्बवाले, पशु-पक्षी, माँगनेवाले और कालसे तथा अपनेसे नित्य भय रहता है। कदाचित् दान, भोग और भूल आदिसे शायद मैं

शोकमोहभयक्रोधरागक्लैब्यश्रमादयः ।
यन्मूलाः स्युर्नृणां जह्यात्स्पृहां प्राणार्थयोर्बुधः ॥३३॥
मधुकारमहासर्पौ लोकेऽस्मिन्नो गुरूत्तमौ ।
वैराग्यं परितोषं च प्राप्ता यच्छिक्षया वयम् ॥३४॥
विरागः सर्वकामेभ्यः शिक्षितो मे मधुव्रतात् ।
कृच्छ्राप्तं मधुवद्वित्तं हत्वाऽप्यन्यो हरेत्पतिम् ॥३५॥
अनीहः परितुष्टात्मा यदृच्छोपनतादहम् ।
नो चेच्छये बह्वहानि महाहिरिव सत्त्ववान् ॥३६॥
क्वचिदल्पं क्वचिद्भूरि भुञ्जेऽन्नं स्वाद्वस्वादु वा ।
क्वचिद्भूरिगुणोपेतं गुणहीनमुत क्वचित् ॥३७॥

ही इस धनका नाश न कर डालूँ, इस प्रकारका अपनेसे भी भय बना रहता है ॥३२॥

शोक, मोह, भय, क्रोध, राग, विकलता, श्रम आदिके मूल धन और प्राण (जीवन) की इच्छाको विवेकी पुरुष छोड़ दे ॥३३॥

इस लोकमें मेरे उत्तम गुरु तो मधुमक्खी और अजगर हैं, उनकी शिक्षासे मुझको वैराग्य और सन्तोष प्राप्त हुआ है ॥३४॥

[मधुमक्खीसे प्राप्त शिक्षाका वर्णन—] कष्टसे सञ्चित किये हुए मधुके समान धनको, उस धनके स्वामीका प्राणान्त करके, दूसरा हर ले जाता है, इस कारण सम्पूर्ण विषयोंसे वैराग्य करना मैंने मधुमक्खीसे सीखा है ॥३५॥

[अजगरसे प्राप्त शिक्षाका वर्णन—] निर्व्यापार होकर भाग्यसे जो कुछ मिल जाय उससे मेरा मन सन्तुष्ट हो जाता है और यदि कुछ न मिले, तो अजगरके समान धीरज धरकर बहुत दिनों तक सोता रहता हूँ ॥३६॥

[अपने पुष्ट होनेका कारण बतलाते हैं—] कभी थोड़ा, कभी

श्रद्धयोपाहृतं क्वापि कदाचिन्मानवर्जितम् ।
भुञ्जे भुक्त्वाऽथ कस्मिंश्चिद्दिवा नक्तं यदृच्छया ॥३८॥
क्षौमं दुकूलमजिनं चीरं वल्कलमेव वा ।
वसेऽन्यदपि सम्प्राप्तं दिष्टभुक्तुष्टधीरहम् ॥३९॥
क्वचिच्छये धरोपस्थे तृणपर्णाश्मभस्मसु ।
क्वचित्प्रासादपर्यङ्के कशिपौ वा परेच्छया ॥४०॥
क्वचित्स्नातोऽनुलिप्ताङ्गः सुवासाः स्रग्व्यलङ्कृतः ।
रथेभाश्वैश्चरे क्वापि दिग्वासा ग्रहवद्विभो ॥४१॥

बहुत, कभी रसोपेत, कभी सूखा, कभी बड़ा स्वादिष्ट, कभी अस्वादिष्ट; ॥३७॥

कभी श्रद्धासे प्राप्त, कभी मानसे रहित, कभी सबके भोजनके उपरान्त, कभी दिनमें, कभी रातमें संयोगसे प्राप्त अन्नको मैं भक्षण करता हूँ ॥३८॥

ऐसे प्रारब्ध कर्मके फलोंको भोगनेवाला और सन्तोष करनेवाला मैं कभी रेशमी वस्त्र, कभी सूती वस्त्र, कभी मृगचर्म, कभी चिथड़े, कभी वल्कल पहन लेता हूँ, इनके अतिरिक्त और भी जैसे प्राप्त हों ॥३९॥

कभी मैं भूमिपर, कभी तृणोंपर, कभी पत्तोंपर, कभी पत्थरपर, कभी राखपर और कभी दूसरोंकी इच्छासे राजमहलके अन्दर गद्दे तकियेवाले पलङ्गपर सोता हूँ ॥४०॥

हे विभो ! कभी शरीरमें उबटन लगा स्नान कर अङ्गराग, उत्तम वस्त्र, माला और आभूषण धारण करके रथ, हाथी, घोड़े पर सवार होकर विचरता हूँ, कभी नङ्गा होकर उन्मत्तके समान फिरता हूँ ॥४१॥

नाऽहं निन्दे न च स्तौमि स्वभावविषमं जनम् ।
एतेषां श्रेय आशासे उतैकात्म्यं महात्मनि ॥४२॥
विकल्पं जुहुयाच्चित्तौ तां मनस्यर्थविभ्रमे ।
मनो वैकारिके हुत्वा तं मायायां जुहोत्यनु ॥४३॥
आत्मानुभूतौ तां मायां जुहुयात्सत्यदृङ्मुनिः ।
ततो निरीहो विरमेत्स्वानुभूत्यात्मनि स्थितः ॥४४॥
स्वात्मवृत्तं मयेत्थं ते सुगुप्तमपि वर्णितम् ।
व्यपेतं लोकशास्त्राभ्यां भवान्हि भगवत्प्रियः ॥४५॥

[अब यह कहते हैं कि मुझमें मान और अपमान करनेवालोंपर विषमता नहीं है—] सत्त्वादि गुणोंसे मनुष्यका स्वभाव विषम होता है, अतः मैं किसीकी निन्दा अथवा स्तुति नहीं करता परन्तु उनकी कल्याणकी इच्छा करता हूँ अथवा भगवान्‌में एकता (सायुज्यमुक्ति) चाहता हूँ ॥४२॥

[दो श्लोकोंसे इस स्थितिका उपाय कहते हैं—] जाति, रूप आदि भेदका मनकी वृत्तियोंमें लय करे, उन वृत्तियोंका मनमें, मनका अहङ्कारमें और अहङ्कारका मायामें लय करे अर्थात् उनकी एकताकी भावना करे ॥४३॥

सत्य दृष्टि रखनेवाला मुनि उस मायाकी स्वयंप्रकाश ब्रह्ममें एकता करे, फिर सब क्रियाओंसे शून्य होकर अपने स्वरूपका अनुभव करता हुआ शान्त हो जाय ॥४४॥

इस प्रकार मन्ददृष्टिवालोंको लोक और शास्त्रके विरुद्ध प्रतीत होनेवाला अपना गुप्त वृत्तान्त मैंने तुमसे कहा, क्योंकि तुम भगवद्भक्त हो ॥४५॥
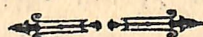
पाचवाँ प्रकरण

नारदजीका युधिष्ठिरको उपदेश

युधिष्ठिरने अपने राजसूय यज्ञमें प्रह्लाद और महामुनिके संवाद-को सुनकर नारदजीसे पूछा—"हे देवर्षि ! जिसका मन घरमें आ-सक्त हुआ है ऐसा मेरे समान गृहस्थ पुरुष जिस उपायसे मोक्षरूप पदवीको अनायास प्राप्त कर सके, उसे मुझसे कहिये ?" नारदजीने वर्णाश्रमधर्मोंका अनुष्ठान बतलाते हुए इन्द्रियोंकी लोलुपताको त्यागनेके लिये सदा तत्त्वज्ञानका प्रयत्न करनेके निमित्त "आत्मानं रथिनं" इत्यादि श्रुतिमें कथित रथरूपक द्वारा इस प्रकार कहा ।

नारद उवाच❀

आहुः शरीरं रथमिन्द्रियाणि
हयानभीषून्मन इन्द्रियेशम् ।
वर्त्मानि मात्रा धिषणां च सूतं
सत्त्वं बृहद्बन्धुरमीशसृष्टम् ॥४१॥
अक्षं दशप्राणमधर्मधर्मौ
चक्रेऽभिमानं रथिनं च जीवम् ।

नारदजीने कहा—

ईश्वरका बनाया हुआ यह शरीर रथ है, इन्द्रिय घोड़े हैं, इन्द्रियोंका स्वामी मन लगाम है, शब्दादि विषय मार्ग हैं, बुद्धि सारथी है और चित्त देहको व्याप्त करके रहनेवाला और बन्धनरूप है (क्योंकि यदि चित्त न हो तो शरीरके बन्धन ढीले पड़नेसे वह कामका नहीं रहेगा); ॥४१॥

दस प्रकारके प्राण उसकी धुरा हैं, धर्म और अधर्म पहिये हैं,

❀ भा० ७-१५-४१ इत्यादि ।

धनुर्हि तस्य प्रणवं पठन्ति
शरं तु जीवं परमेव लक्ष्यम् ॥४२॥
रागो द्वेषश्च लोभश्च शोकमोहौ भयं मदः ।
मानोऽवमानोऽसूया च माया हिंसा च मत्सरः ॥४३॥
रजः प्रमादः क्षुन्निद्रा शत्रवस्त्वेवमादयः ।
रजस्तमःप्रकृतयः सत्त्वप्रकृतयः क्वचित् ॥४४॥
यावन्नृकायरथमात्मवशोपकल्पं
धत्ते गरिष्ठचरणार्चनया निशातम् ।
ज्ञानासिमच्युतबलो दधदस्तशत्रुः
स्वाराज्यतुष्ट उपशान्त इदं विजह्यात् ॥४५॥

इनमें अभिमान करनेवाला (अहङ्कारवाला) जीव रथी है, प्रणव (ॐ) उसका धनुष है; शुद्ध जीव बाण है और परब्रह्म लक्ष्य है, ऐसा श्रुतिका पाठ है। (भाव यह है कि जैसे बाणसे लक्ष्य (निशाने) को बेधते हैं वैसे ही प्रणवसे जीवको ब्रह्ममें लगावे) ॥४२॥

राग, द्वेष, लोभ, शोक, मोह, भय, मद, मान, अपमान, असूया, माया, हिंसा, मत्सर, अभिनिवेश, प्रमाद, क्षुधा, निद्रा ये सब शत्रु हैं। ये पूर्वोक्त रजोगुण और तमोगुणसे उत्पन्न हुए शत्रु हैं तथा योगारूढ़ पुरुषके सत्त्वगुणसे उत्पन्न हुए परोपकार आदि कार्य भी शत्रु हैं (भाव यह है कि इन सबको शत्रु समझकर जीतना चाहिये) ॥४३,४४॥

जबतक मनुष्यशरीररूपी रथके इन्द्रिय आदि सम्पूर्ण साधनोंको अपने वशमें नहीं कर लेता तभी तक गुरुओंके चरणोंकी सेवासे तीक्ष्ण किये गये ज्ञानरूपी खड्गको धारण करे भगवत्परायण होकर, रागादि शत्रुओंको जीतकर, चित्तकी शान्ति तथा निजानन्दको प्राप्त करके इस शरीररूपी रथका भी तिरस्कार कर दे ॥४५॥

नो चेत्प्रमत्तमसदिन्द्रियवाजिसूता
नीत्वोत्पथं विषयदस्युषु हि क्षिपन्ति ।
ते दस्यवः सहयसूतममुं तमोऽन्धे
संसारकूप उरुमृत्युभये क्षिपन्ति ॥४६॥

[अब यह दिखाते हैं कि यदि भगवान्का आश्रय नहीं लिया तो क्या गति होती है—] जिस पुरुषने अच्युत भगवान्का आश्रय नहीं लिया, उस प्रमत्त रथीको बहिर्मुख (विचकनेवाले) इन्द्रियरूप घोड़े और बुद्धिरूप सारथी बुरे रास्तेमें ले जाकर (प्रवृत्तिमार्गमें ले जाकर) विषयरूप चोरोंमें डाल देते हैं और चोर घोड़े और सारथी सहित उस रथीको बड़े भयसे युक्त अन्धकारसे व्याप्त संसारकूपमें पटक देते हैं ॥४६॥

******

छठा प्रकरण

स्वायम्भुव मनुका मन्त्रोपनिषद्-व्याहार

जब ब्रह्माजीने मैथुनी सृष्टि करनेका सङ्कल्प किया, तब सहसा उनके शरीरके दो भाग हो गये। एक पुरुष और दूसरी कन्या। पुरुष तो स्वायम्भुव नामक सार्वभौम मनु हुए और जो कन्या थी, उसका नाम शतरूपा पड़ा। वह मनुकी पटरानी हुई। उनके मैथुन धर्मके द्वारा प्रजा वृद्धिको प्राप्त हुई। तदनन्तर कामभोगोंसे विरक्त होकर और राज्यका त्याग कर मनु अपनी स्त्रीके साथ वनको चले गये। वहाँ सौ वर्षतक घोर तप करते हुए मनुजीने समाधिमें अनुभूत तत्त्वका वर्णन इस प्रकार किया।

मनुरुवाच*

येन चेतयते विश्वं विश्वं चेतयते न यम् ।
यो जागर्ति शयानेऽस्मिन्नायं तं वेद वेद सः ॥९॥
आत्मावास्यमिदं विश्वं यत्किञ्चिज्जगत्यां जगत् ।
तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृधः कस्यस्विद्धनम् ॥१०॥
यं न पश्यति पश्यन्तं चक्षुर्यस्य न रिष्यति ।
तं भूतनिलयं देवं सुपर्णमुपधावत ॥११॥

मनुजी बोले—

जिस चैतन्यसे विश्व चेतन होता है, विश्व जिसको चेतन नहीं कर सकता और जो इस देहकी सुषुप्ति अवस्थामें साक्षी रूपसे जागता है, उसको लोक नहीं जानते हैं और वह सबको जानता है ॥९॥

[वही ईश्वर है ऐसा प्रतिपादन करते हुए संसारको कल्याणमार्गका उपदेश देते हैं—] इस संसारमें स्थावर, जङ्गम आदि जो कुछ वस्तु है, वह सभी ईश्वरसे अपनी सत्ता और चैतन्य द्वारा व्याप्त है इस कारण ईश्वरने जो कुछ दिया है उसीसे तू भोगोंका सेवन कर (अथवा ईश्वरको समर्पण किये गये धनसे देहादिका निर्वाह कर) दूसरेके धनकी आकाङ्क्षा मत कर अथवा धन दूसरे किसका है [आत्मरूप ईश्वरका ही है] जो कि उसकी आकाङ्क्षा की जाय ॥१०॥

[शङ्का—यदि ईश्वर सर्वत्र व्याप्त है, तो चक्षु आदिसे क्यों प्रतीत नहीं होता ? समाधान—] जिस द्रष्टाको (देखनेवालेको) मनुष्य अथवा चक्षु नहीं देखता है और देखते हुए भी जिसके ज्ञानका नाश नहीं होता (अर्थात् अस्मदादि वृत्ति ज्ञानका नाश होता है । स्वतःसिद्ध ज्ञानका नाश नहीं होता । जैसे कि सूर्यका प्रकाश प्रकाश्य

---

* भा० ८-१-९ इत्यादि ।

न यस्याऽऽद्यन्तौ मध्यं च स्वः परो नाऽऽन्तरं बहिः ।
विश्वस्याऽमूनि यद्यस्माद्विश्वं च तदृतं महत् ॥१२॥
स विश्वकायः पुरुहूत ईशः
सत्यः स्वयंज्योतिरजः पुराणः ।
धत्तेऽस्य जन्माद्यजयात्मशक्त्या
तां विद्ययोदस्य निरीह आस्ते ॥१३॥
अथाऽग्रे ऋषयः कर्माणीहन्तेऽकर्महेतवे ।
ईहमानो हि पुरुषः प्रायोऽनीहां प्रपद्यते ॥१४॥

वस्तुका नाश होनेपर नष्ट नहीं होता है ।) उस सर्वान्तर्यामी असङ्ग ईश्वरका तुम भजन करो ॥११॥

[उसके स्वरूपके नित्यत्वका प्रतिपादन करते हुए कहते हैं—] जिसका आदि, अन्त और मध्य, अपना-पराया, भीतर-बाहर कुछ नहीं है (क्योंकि वह परिपूर्ण है) और संसारके आदि, अन्त, मध्य (उत्पत्ति, नाश और पालन) जिससे होते हैं और यह विश्व जिसका स्वरूप है, वह सत्य और परिपूर्ण ब्रह्म ही है ॥१२॥

[शङ्का—यदि विश्व उसका स्वरूप है तो यह कैसे कहा कि उसके जन्मादि नहीं होते हैं और वह स्वयंप्रकाश है ? और जगत्के जन्मादिका कर्त्ता होनेसे वह विकारी ठहरा । ऐसी अवस्थामें वह सत्य और परिपूर्ण कैसे है ? समाधान—] जिसका शरीर विश्व है, जिसके अनेक नाम हैं, जो अजन्मा और निर्विकार है और अपनी अनादिसिद्ध मायासे इस विश्वके जन्मादिका कर्ता और ऐसा वह ईश्वर सत्य, स्वयंप्रकाश और विद्याशक्तिसे (चित्तशक्तिसे) उस मायाका तिरस्कार करके कर्मरहित रहता है ॥१३॥

[जिस कारण ईश्वरकर्म करके भी उनके फलका त्याग कर निष्क्रिय रहता है, इसी कारण] ऋषि (विवेकी पुरुष) मोक्षके लिये

ईहते भगवानीशो न हि तत्र विषज्जते ।
आत्मलाभेन पूर्णार्थो नाऽवसीदन्ति येऽनु तम् ॥१५॥
तामीहमानं निरहङ्कृतं बुधं
निराशिषं पूर्णमनन्यचोदितम्
नञ्छिक्षयन्तं निजवर्त्मसंस्थितं
प्रभुं प्रपद्येऽखिलधर्मभावनम् ॥१६॥

पहले निष्काम कर्म करते हैं, क्योंकि ऐसे कर्म करनेवाला पुरुष प्रायः मोक्षको प्राप्त करता है ॥१४॥

[शङ्का—ईश्वर भी सृष्टि आदि कर्म करते हुए कोशकार-कृमिके समान बँध जायगा ? समाधान—] यद्यपि ईश्वर सृष्टि आदि कर्म करता है तथापि वह उसमें आसक्त नहीं होता, क्योंकि वह आत्म-लाभसे पूर्णमनोरथ है; इस कारण जो भगवान्के अनुसार चलते हैं, वे कभी कर्मोंसे नहीं बँधते ? ॥१५॥

[इस प्रकार लोक-कल्याणके लिये जो जगत्की सृष्टि आदि करते हैं और श्रीराम, कृष्ण आदि अवतारोंसे वेदोक्त मर्यादाका आचरण करते हैं, ऐसे भगवान्के मैं शरणागत होता हूँ ऐसा कहते हैं—] मैं उस सृष्टि आदि कर्म करनेवाले, अभिमानरहित, ज्ञानी, निष्काम, पूर्ण-काम, स्वतन्त्र, (रामादि अवतार लेकर) अपने कर्मोंसे मनुष्योंको शिक्षा देनेवाले, वेदमार्गमें स्थित और सब धर्मोंके प्रवर्त्तक प्रभुके शरणागत होता हूँ ॥१६॥

इक्कीसवाँ अध्याय

विषयोंमें दोष देखना

ययाति और देवयानीका संवाद

ययाति इस भूमण्डलका राजा था। उसने शुक्राचार्यजीकी कन्या देवयानी और वृषपर्वाकी कन्या शर्मिष्ठासे विवाह किया। परम ईश्वर-भक्त तथा कर्मकाण्डपरायण होनेपर भी ययाति विषयासक्त और अतिकामी था। शुक्राचार्यजीने किसी कारणसे क्रुद्ध होकर उसको शाप दिया कि तू मनुष्योंको कुरूप करनेवाली वृद्धावस्थाको प्राप्त हो। यह सुनकर ययातिने कहा—हे ब्रह्मन्! मैं तुम्हारी कन्यामें काम-भोगसे तृप्त नहीं हुआ हूँ, उसके ऐसा कहनेपर शुक्राचार्यजीने कहा—'यदि कोई स्नेही तुम्हारा बुढ़ापा ग्रहण कर ले तो तरुणाईसे तुम्हारा बुढ़ापा छूट जायगा।' ज्येष्ठ पुत्रोंके निषेध करनेके उपरान्त उसके कनिष्ठ पुत्र पुरुने अपनी युवावस्था देकर पिताकी वृद्धावस्था ग्रहण कर ली। इस प्रकार विषयोंमें आसक्त ययाति दुष्ट इन्द्रियोंसे एक हजार वर्षतक विषयभोग करता हुआ तृप्त नहीं हुआ। ऐसा होनेपर भी वह अपने धर्मानुसार वेदोक्त कर्म तथा भगवान्की आराधना निरन्तर करता रहा। बहुत समय व्यतीत होनेपर वह भगवान्के प्रसादसे भोगों-से विरक्त हो गया और देययानीसे इस प्रकार कहने लगा।

ययातिरुवाच❀

यत्पृथिव्यां व्रीहियवं हिरण्यं पशवः स्त्रियः ।
न दुह्यन्ति मनःप्रीतिं पुंसः कामहतस्य ते ॥१३॥
न जातु कामः कामानामुपभोगेन शाम्यति ।
हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एवाऽभिवर्धते ॥१४॥
यदा न कुरुते भावं सर्वभूतेष्वमङ्गलम् ।
समदृष्टेस्तदा पुंसः सर्वाः सुखमया दिशः ॥१५॥
या दुस्त्यजा दुर्मतिभिर्जीर्यतो या न जीर्यते ।
तां तृष्णां दुःखनिवहां शर्मकामो द्रुतं त्यजेत् ॥१६॥

ययाति बोले—

[शङ्का—फिर भी बहुतसे विषयोंका सेवन कीजिए, पुनः-पुनः विषयभोग करनेके उपरान्त मनके तृप्त होनेपर कामकी शान्ति होनेसे मोह निवृत्त क्यों न होगा ? दो श्लोकोंसे इस शङ्काका समाधान करते हैं—] इस संसारमें जितने धान, जौ आदि अन्न; पशु और स्त्रियाँ हैं, वे सब विषयग्रस्त (कामासक्त) पुरुषके मनको सन्तोष नहीं कर सकते हैं ॥१३॥

जैसे घी डालनेसे अग्नि अधिक बढ़ती जाती है (शान्त नहीं होती है) वैसे ही विषयोंके भोगसे विषयभोगकी अभिलाषा कभी भी शान्त नहीं होती ॥१४॥

[प्रश्न—किस उपायसे मन पूर्णरूपसे प्रसन्न होगा जिससे कि कामकी शान्ति हो ? इसका उत्तर छः श्लोकोंसे देते हैं—] पुरुष जब सम्पूर्ण पदार्थोंमें ऐसा भेदभाव नहीं करता कि यह वस्तु अच्छी है और यह बुरी है, सर्वत्र समान दृष्टि रखनेवाले उस पुरुषकी सभी दिशाएँ सुखरूप हो जाती हैं ॥१५॥

जो तृष्णा अविवेकी पुरुषोंसे नहीं त्यागी जाती, जो मनुष्यके

❀ भा० ९-१९-१३ इत्यादि ।

मात्रा स्वस्रा दुहित्रा वा नाऽविविक्तासनो भवेत् ।
बलवानिन्द्रियग्रामो विद्वांसमपि कर्षति ॥१७॥
पूर्णं वर्षसहस्रं मे विषयान्सेवतोऽसकृत् ।
तथाऽपि चाऽनुसवनं तृष्णा तेषूपजायते ॥१८॥
तस्मादेतामहं त्यक्त्वा ब्रह्मण्याधाय मानसम् ।
निर्द्वन्द्वो निरहङ्कारश्चरिष्यामि मृगैः सह ॥१९॥
दृष्टं श्रुतमसद्बुद्ध्वा नाऽनुध्यायेन्न संविशेत् ।
संसृतिं चाऽऽत्मनाशं च तत्र विद्वान्स आत्मधृक् ॥२०॥

जराजीर्ण होनेपर भी जीर्ण नहीं होती, अत्यन्त दुःख देनेवाली है उस तृष्णाको सुखकी इच्छा करनेवाला पुरुष शीघ्र ही त्याग दे ॥१६॥

[अब कहते हैं कि स्त्रियोंका सङ्ग तो सदा त्याग देना चाहिये—] माता, बहिन और पुत्रीके साथ भी एक आसनपर नहीं बैठना चाहिये, क्योंकि बलवान् इन्द्रियोंका समूह विवेकी पुरुषको भी उनकी ओर आकृष्ट कर देता है ॥१७॥

मुझे निरन्तर विषयोंका सेवन करते पूरे एक हज़ार वर्ष बीत गये हैं तथापि उन-उन विषयोंके सेवनयोग्य समयमें उनमें तृष्णा बढ़ती ही जाती है। शान्त नहीं होती ॥१८॥

इसी कारण मैं द्वन्द्वोंसे रहित और अहङ्कारशून्य होकर विषय-भोगकी तृष्णाका त्याग कर और मनको ब्रह्ममें स्थिर कर मृगोंके समान वनमें विचरण करूँगा ॥१९॥

[शङ्का—तृष्णाका त्याग कठिन है, अतः ब्रह्ममें मन किस प्रकार लगेगा ? समाधान—] जो पुरुष देखे (ऐहिक) और सुने हुए (पारलौकिक) सब विषय तुच्छ हैं, यह जानकर उनका स्मरण और सेवन नहीं करता और जो पुरुष यह समझकर कि उन विषयोंके

इत्युक्त्वा नाषो जायां तदीयं पूरवे वयः ।
दत्त्वा स्वां जरसं तस्मादाददे विगतस्पृहः ॥२१॥

ध्यानादि होनेपर जन्म-मरणरूप संसारदुःख और स्वरूपका नाश होता है, वही पुरुष आत्मदर्शी होता है ॥२०॥

विषयभोगोंकी इच्छासे रहित राजा ययातिने अपनी स्त्रीसे इस प्रकार कहकर अपने पुत्र पुरुको उसकी युवावस्था लौटाकर अपनी वृद्धावस्था ले ली ॥२१॥

****

बाइसवाँ अध्याय

परमपद प्राप्तिके उपाय

अपने यज्ञमें भगवत्तत्त्वका निरूपण सुनकर शौनकादि ऋषियोंने फिर भी सूतजीसे पूछा कि जिस मायासे विद्वान्को भी मोह प्राप्त हो जाता है, उसकी निवृत्तिके लिये कौन-सा सुनिश्चित उपाय आपका सम्मत है ।

सूतजी श्रीविष्णु भगवान्के स्वरूपका निरूपण करते हुए शास्त्रके अर्थका उपसंहार करते हैं कि भगवान्के भजनसे सब अनर्थोंकी निवृत्ति होती है [पहले मायाका महत्त्व दिखलाते हैं—]

सूत उवाच❀

सैषा विष्णोर्महामायाऽबाध्ययाऽलक्षणा यया ।
मुह्यन्त्यस्यैवाऽऽत्मभूता भूतेषु गुणवृत्तिभिः ॥२९॥

सूतजीने कहा—

भगवान्की कृपाके बिना जिसका बाध नहीं हो सकता, ऐसी जिस मायासे भगवान् विष्णुके अंशभूत ही प्राणी क्रोध आदिसे बाध्यबाधक-भावको प्राप्त होते हैं, वह अतर्कनीय (दुर्ज्ञेय) विष्णुकी महामाया है ॥२९॥

❀ भा० १२-६-२९ इत्यादि ।

न यत्र दम्भीत्यभया विराजिता
मायात्मवादेऽसकृदात्मवादिभिः ।
न यद्विवादो विविधस्तदाश्रयो
मनश्च सङ्कल्पविकल्पवृत्ति यत् ॥३०॥
न यत्र सृज्यं सृजतोभयोः परं
श्रेयश्च जीवस्त्रिभिरन्वितस्त्वहम् ।
तदेतदुत्सादितबाध्यबाधकं
निषिध्य चोर्मीन्विरमेत्स्वयं मुनिः ॥३१॥
परं पदं वैष्णवमामनन्ति त-
द्यन्नेति नेतीत्यतदुत्सिसृक्षवः ।

जिस मायाका 'यह पुरुष कपटी है' ऐसी बुद्धिमें बार-बार उल्लेख होता है, वह आत्मवादके सिलसिलेमें आत्मवादियों द्वारा, जिसमें (परमात्मामें) अभय होकर नहीं बल्कि भयभीतकी नाईं किसी प्रकार अपने कार्य मोह आदिको करती रहती है, [यों प्रतिपादित हुई] जिसमें मायाश्रित विविध-विवाद भी नहीं है, क्योंकि विवाद विशेषमें रहता है, वह विशेषसे परे है और सङ्कल्प-विकल्परूप वृत्तिवाला मन भी जिसमें नहीं है, क्योंकि सङ्कल्प-विकल्प भी विशेषमें ही हैं; ॥३०॥

जहाँ कारक और पुण्य-पापरूप कर्म नहीं हैं, जहाँ इन दोनोंके परम फल सुख-दुःखादि भी नहीं हैं, जहाँ कारक, कर्म और फलसे युक्त अहङ्कारात्मक जीव भी नहीं है और जहाँ बाध्य-बाधकभाव भी नहीं है, (दुःख देनेवाला और दुख पानेवालेका भाव नहीं है अर्थात् जो परमात्मस्वरूप है) ऐसे आत्मस्वरूपमें विवेकी पुरुष अहङ्कारादिका त्याग करके रमण करे ॥३१॥

आत्माके सिवा अन्यत्र देहादिमें ममता न रखनेवाले "नेति नेति द्वारा" आत्मासे अन्य वस्तुओंका त्याग करनेकी इच्छा करनेवाले पुरुष

विसृज्य दौरात्म्यमनन्यसौहृदा
हृदोपगुह्याऽवसितं समाहितैः ॥३२॥
त एतदधिगच्छन्ति विष्णोर्यत्परमं पदम् ।
अहं ममेति दौर्जन्यं न येषां देहगेहजम् ॥३३॥
अतिवादांस्तितिक्षेत नाऽवमन्येत कञ्चन ।
न चेमं देहमाश्रित्य वैरं कुर्वीत केनचित् ॥३४॥
नमो भगवते तस्मै कृष्णायाऽकुण्ठमेधसे ।
यत्पादाम्बुरुहध्यानात्संहितामध्यगामिमाम् ॥३५॥

उसी पूर्वोक्त (अर्थात् पूर्व श्लोकमें कहे गये) विष्णु भगवान्के सर्वोत्तम स्वरूपका वर्णन करते हैं और वे देह, इन्द्रिय और अन्तःकरणको वशमें करके, देहमेंके अहङ्कारका त्याग करनेवाले पुरुषोंने उसी स्वरूपका हृदयमें ध्यान आदिसे निश्चय किया है ॥३२॥

जिन पुरुषोंका देहमें 'मैं' और गृहादिमें 'मेरा' अभिमान नहीं है, वे विष्णु भगवान्के पदको प्राप्त करते हैं ॥३३॥

[उसी पदकी प्राप्तिके उपाय कहते हैं—] निन्दाके वाक्योंको सहन करे, किसीका अपमान न करे और इस देहके निमित्त किसी दूसरेसे वैर न करे ॥३४॥

[शास्त्रके समाप्त होनेपर गुरुको प्रणाम करते हैं—] जिनका ज्ञान कभी नहीं रुका (कुण्ठित नहीं हुआ है) जिनके चरण-कमलके ध्यान करनेसे श्रीमद्भागवत संहिता प्राप्त हुई है, उन कृष्णद्वैपायन भगवान् व्यासको नमस्कार है ॥३५॥

सर्वेऽत्र सुखिनः सन्तु सर्वे सन्तु निरामयाः ।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद् दुःखभाग्भवेत् ॥

ॐ शान्तिः ! शान्तिः !! शान्तिः !!!